उदारचरित आर्थिक सहायको माटे आभारप्रदर्शन;

पूज्यपाद आचार्यमहाराज १००८ श्री विजयमोहनसूरीश्वरजी महाराजना सदुपदेशथी आ ग्रन्थ छपाववामां नीचे जणावेला बन्ने उदार सद्गृहस्थो तरफथी आर्थिक सहाय आपवामां आवेल छे, ते माटे तेओने धन्यवाद अर्पण करवा साथे ते बन्नेनो अंतःकरणथी आभार मानीए छीए।

रू० ३०० शिहोरनिवासी स्व० शाह वनमाळी कानजीना धर्मपत्नी संतोकबाई तरफथी तेमनी पुत्री व्हेन हरकोर–जीवविचारादि प्रकरण–छकर्मग्रन्थ विगेरे तत्त्वज्ञान अभ्यासी होई धर्मरुचि सम्पन्न छे, तेमणे पोतानी व्हेन लीलावतीना स्मरणार्थे अर्पण कर्या छे।

रू० ३०० वेरावल (आदरी) बंदर निवासी शाह लीलाधर लखमीचंद के जे धर्मचुस्त जिनाज्ञापरायण तेमज साधुओनी वैयावच्च करनारा उदारमहाशय छे, तेमणे अर्पण कर्या छे।

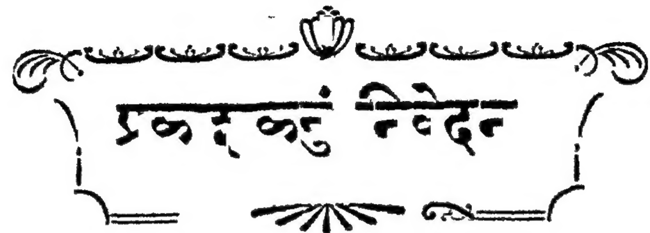
ले०— व्य० क० जैनमोहनमाला कार्याधिकारी

शाह लालचन्द नन्दलाल वकील

卐 N 卐 A 卐 V — A 卐 T 卐 A 卐 T 卐 V 卐 A

S 卐 U 卐 — 卐 A 卐 N 卐 G 卐 A 卐 L 卐 A

श्रीमते . –नन्दनाय गोनमः ॥



श्रीमन्मुक्तिकमल जैनमोहनमालाना ३२ मा पुष्पतरीके सुमङ्गलाटीकासमलङ्कृत श्रीनवतत्त्व प्रकरण नामना महत्वपूर्णग्रन्थनुं प्रकाशन करतां अमने अतीव हर्ष थाय छे. नवतत्त्व ए जैनदर्शननो पायो छे अने ए कारणथी ज भूमिकामां जणाव्या मुजब अनेक प्राज्ञमहर्षिओए ए नवतत्त्व उपर विशाल साहित्यनुं आयोजन कर्युं छे. यद्यपि भिन्न भिन्न कर्त्ताओ तरफथी भिन्न भिन्न प्रणालिकामां उपनिबद्ध नवतत्त्वसाहित्य दृष्टिगोचर थाय छे तोपण ५९ गाथाओमां योजाएलुं जे नवतत्त्वप्रकरण छे तेना अभ्यासनो प्रचार प्रायः सर्वत्र जोवामां आवे छे. ५९ गाथामां उपनिबद्ध ए नवतत्त्वप्रकरण उपर हिंदी–गुर्जर अनुवादो अनेक महाशयो तरफथी तैयार थइ अनेक संस्थाओ तरफथी ते अनुवादोनुं प्रकाशन थयुं छे. एम छतां गीर्वाण (संस्कृत) गिरामां ए ५९ गाथाओ उपर विवेचन करवानुं कोइ प्राज्ञमहाशयनुं ध्यान गयुं होय तेम जणातुं नथी.

आ ग्रन्थमालाना उत्पादक आराध्यपाद आगमप्रज्ञ आचार्यमहाराज १००८ श्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरजीना मुख्यशिष्य प्रातःस्मरणीय उपाध्यायजी महाराज १००८ श्रीमत्प्रतापविजयजी गणीवरना परमविनेय विद्वद्वर्य प्रवर्त्तकजी महाराजश्री धर्मविजयजी महाराजश्रीनुं आ नवतत्त्वप्रकरण उपर संस्कृत टीका लखवानुं ध्यान खेंचायुं, तेओश्रीना शिष्यरत्न तत्त्वजिज्ञासु मुनिवर्य श्री यशोविजयजीनी आ बाबतमां विशेष प्रेरणा थवाथी टीका करवा सम्बन्धी निश्चय थयो, अने पूज्यपाद परमगुरुदेवनी आज्ञा मलतां ते मंगलकार्यनो प्रारंभ थयो, व्याकरण–साहित्य–जैन सिद्धान्त–न्याय विगेरे विषयोना सतत अभ्यासनी प्रवृत्तिमां पण आ टीकानुं कार्य धीमेधीमे चालु रह्युं. जे आजे सम्पूर्ण थतुं होइ तत्त्वजिज्ञासु समाजना करकमलमां धरतां परम प्रमोद थाय छे.

वर्द्धमानपुरी (वढवाण शहेर) मां जैन जेवा उच्चकुलमां जन्म, बाल्यावस्थाथी ज धार्मिक संस्कारो, धर्मसंस्कारी मातानो योग, दश वर्षथी पंदर वर्षनी उमर पर्यंत अमदावाद शेठ चिमनलाल नगीनदास बोर्डींगमां व्यावहारिक–धार्मिक शिक्षण, पंदर वर्षनी उमरे पूज्यपाद गुरुमहाराजश्रीना योगथी चारित्र भावना, [1]माता विगेरे वडील वर्गनी अनुकूलता पूर्वक चारित्र ग्रहण, साधु–जीवनमां–व्याकरण–काव्य–कोष–साहित्य–न्याय–आगमो-प्रकरणो–कर्मग्रन्थ–कर्मप्रकृति प्रमुख शास्त्रोनुं सतत अध्ययन–अध्यापन, अखंड गुरुकुलवास, विनयसम्पन्नता, गुरुशुश्रूषा इत्यादिगुणोथी पालीताणामां प्रवर्त्तकपदार्पण विगेरे टीकाकार मुनिश्रीना जीवन प्रसङ्गो छे. गुरुकृपाथी प्राप्त थएल तत्त्वज्ञानना योगे तेओथी ६००० श्लोकप्रमाण आ टीका रचवामां सम्पूर्ण फतेहमंद थया जाणी अमो

१ प्रवर्तकश्रीनां ससारी पू० माताजी छबलबाई पण धार्मिक शिक्षिका पद भोगवी दीक्षा ग्रहण करी. साध्वीजी कुशलश्रीजी नामे वर्तमानमा आत्मश्रेयः साधी रहेल छे

अनुमोदन करीए छीए. अने समाजोपयोगी अन्यग्रन्थोनी रचना करी सुज्ञसमाजने समर्पण करवा पूर्वक तेओश्री जैन साहित्यना गौरवमां वधारो करे तेम इच्छीए छीए।

पूज्यप्रवर प्रत्यूषाभिस्मरणीय आचार्य महाराजश्री विजयमोहनसूरीश्वरजी महाराज आ ग्रंथमालाना प्रोत्साहक छे, एटलुं ज नहिं परंतु ए माला ग्रन्थपुष्पोना संयोगथी सुवासनो विस्तार केम विशेष फेलावे ! तेनी हंमेशां कालजी राखवा साथे नवीन नवीन जैन साहित्यना प्रकाशनमां अमने वारंवार प्रेरक थया छे. आज सुधी तेओश्रीनी सत्प्रेरणाथी ३२ पुष्पोनुं आ माळामां अनुसन्धान थयुं छे, तेमां पण श्रीविपाक सूत्र सटीक (छाया–सहित) प्रतिमा शतक सटीक, उपदेशपद महाग्रन्थ सटीक १४५०० श्लोक-प्रमाण, कर्मग्रन्थ १ थी ४ सटीक, अभिधान चिन्तामणि कोष रत्नप्रभाटीका समेत, श्रीमहावीर चरित्र, षट्त्रिंशिकाचतुष्क प्रकरण सविवरण, श्रीलघुक्षेत्र समास सचित्र–संयत्र सविस्तरार्थ विगेरे अनेक सुविशाल सुगंधी मनमोहक ग्रन्थपुष्पोवडे मालाना सौरभमां खास वैशिष्ट्य थयुं छे अने तेथीज जनसमाजनुं आकर्षण पण माला तरफ विशेष थवा पाम्युं छे. पूज्य आचार्यश्री अहर्निश आवा सत्प्रकाशनमां अमने विशेष प्रेरणा करे अने जैन साहित्यनी विशालतामां वधारो करावे तेम इच्छीए छीए।

पूज्य आचार्यश्रीना उपदेशथी बाजुना पृष्ठमां जणाव्या प्रमाणे जे जे महाशयोए आ ग्रन्थना प्रकाशनमां उदार आशयथी जे अमूल्य आर्थिक सहाय अर्पण करेल छे ते माटे अन्तःकरणथी ते ते महाशयोनो आभार मानीए छीए। आ टीका ग्रन्थना मुद्रक महोदय प्रेसना अधिपति शाह गुलाबचन्द लल्लुभाइए निर्णयसागर प्रेस जेवो सुंदरकार्य पद्धतिथी अमने जे संतोष आप्यो छे ते पण प्रशं-सनीय छे. आ मालाना उत्तेजक–ग्रन्थप्रकाशनना प्रेरक पूज्य आचार्यश्री, ग्रन्थसंशोधक पूज्य उपाध्यायजी महाराजश्री तेमज टीकाकार

प्रवर्तकश्रीनो उपकार मानवा साथे तेओश्रीना चरणारविन्दमां अनेकशः वन्दन करीए छीए ।

अन्तमां वाचकवृन्द आ टीका ग्रन्थनुं साद्यन्त वाचन मनन अने निदिध्यासन करवा पूर्वक तत्त्वग्राहक बनवा साथे जैन जैनेतर जगत्मां तत्त्वज्ञाननो विशेष प्रचार करे एज अन्तिम अभिलाषा—

श्रीमन् मुक्तिकमलजैनमोहन
मन्दिर रावपुरा महाजनगली
वडोदरा । श्रीनेमिजन्म
कल्याणक संवत्. १९९०॥

नैवेदक,
मोहनप्रताप्नेन्दचरणोपासक—
लालचन्द.

N A V A T A T V A

अखिललब्धिभृते श्रीमद्गौतमगणभृते नमो नमः ।

पूज्यपादप्रातःस्मरणीय जैनाचार्य १००८ श्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो :।

आराध्यपादपाठकप्रवरोपा० १००८ श्रीमत्प्रतापविजयगणिगुरुवरेभ्यो :।

[illegible]

आर्हत तत्त्वोनी सर्व श्रेष्ठता ।

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' 'तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः' इत्यादि सुविहितपुरुषोना वाक्योथी निश्चय छे, के अखिल-विश्वमां 'तत्त्वज्ञान' ए परम उपादेय छे यथार्थ तत्त्वज्ञान एहेज सम्यक्त्वस्वरूप होइ परम्पराए मोक्षप्राप्तिनुं अवन्ध्यकारण छे. वेदान्त, बौद्ध सांख्य, वैशेषिक वगेरे दर्शनो स्वस्वमन्तव्यानुसार भिन्नभिन्नतत्त्वोना प्रतिपादक छे, परंतु शाश्वतप्रभावशाली अमितगुणास्पद त्रैकालाबाधित सनातन श्रीजैनदर्शनसम्बन्धी तत्त्वोनी अपेक्षाए (तेमज ते ते तत्त्वोना लक्षणादि) विचारतां पण ते ते दर्शना-न्तरीय तत्त्वो पूर्वापरविरोधी तेमज विसंवादी होवानुं अनुभवाय छे, ज्यारे अनन्तज्ञानी अरिहंतपरमात्माना सनातन जैनदर्शन-सम्बन्धी तत्त्वोमां तत्त्वनुं यथार्थस्वरूप लक्षणगुणधर्मपर्यायोवडे पूर्वापर अविरोधिपणुं तेमज अविसंवादिपणुं निष्पक्षपात वैदिक केवा इतर दार्शनिक विद्वानोने पण स्वीकारवुं पडयुं छे अने पडे छे. आत्मविचारणा—कर्मविचारणा—पुद्गलादिद्रव्यो वगेरे विषयो जैनदर्शनमां जे विशिष्टपद्धतिथी आलेखवामां आव्या छे तेनी पूर्वापर अविरोधिनी पद्धति अन्यदर्शनोमां अंशे पण दृष्टिगोचर थती नथी.

S U M A N G A L A

महानुभाव तीर्थंकर भगवंतो ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मोनो क्षय थवा साथे केवलज्ञाननी प्राप्तिपूर्वक देवनिर्मित समवसरणमां विराजमान थइ योजनगामिनी सुधास्यन्दिनी नयगर्भित देशना आपे छे ते अवसरे अनेकलब्धिसम्पन्न श्रीगणधरभगवंतो विनम्रभावे परमात्माने अंजलिसाथे प्रश्न करे छे के 'भगवन्! किं तत्त्वम्?' उत्तरमां त्रिकालज्ञानी परमात्मा जणावे छे के,–'उपन्नेइ वा' पुनः गणधर महर्षि प्रश्न करे छे–'भगवन्! किं तत्त्वम्?' उत्तरमां सर्वज्ञ भगवान फरमावे छे,–'विगमेइ वा' एटलाथी संतुष्ट न थतां गणधरमहाराजा पुनः प्रश्न करे छे के 'भगवन्! किं तत्त्वम्?' उत्तरमां लोकालोकावलोकी तीर्थंकरपरमात्मा कहे छे के,–'धुवेइ वा'। त्रण वखत पुछायेला प्रश्नोना प्रत्युत्तरमां महानुभाव तीर्थंकरपरमात्माना मुखारविंदमांथी उपलब्ध थयेल 'उपन्नेइ वा १ विगमेइ वा २ धुवेइ वा ३' ए त्रिपदी सर्वश्रुतनुं वीज छे, वीजबुद्धिसम्पन्न महानुभाव गणधरमहर्षिओ ए त्रिपदीस्वरूप शाश्वत बीजने पामी अर्थथी अनादिअनन्त अने सूत्रथी सादिसान्त द्वादशाङ्गीनी अन्तर्मुहूर्तमां रचना करे छे. पट्टपरम्परामां थयेल सुविहितगीतार्थमहर्षिओ ए ज द्वादशाङ्गीना अवलम्बनथी तत्त्वज्ञानथी भरपूर विविधग्रंथोनी रचना करी जैनशासननी लोकोत्तर ज्ञानसंबन्धी प्रभावना करवा समर्थ थया छे।

त्रिपदी उपर ज सर्वतत्त्वोनो आधार।

तत्त्वज्ञानपरिपूर्ण जैनसिद्धान्त द्रव्यानुयोग–गणितानुयोग–चरणकरणानुयोग अने धर्मकथानुयोग ए चार विभागोमां विभक्त थयेलो छे। **द्रव्यानुयोगमां**–मुख्यत्वे षड्द्रव्यनुं प्रतिपादन होय छे, **गणितानुयोग**–जीवादिद्रव्योनी संख्या, परस्पर अल्पबहुत्व, कायस्थिति, भवस्थिति, संवेधादि, ज्योतिष्चक्रनो चार, द्वीपसमुद्र, नरकावासा विमानोनुं प्रमाण विगेरे विषयो दर्शावे छे। मुक्तिमार्ग, साधु–श्रावकधर्मनो आचार, क्रिया, शुभमार्गनी

चार अनुयोग।

प्रवृत्ति, अशुभमार्गनी निवृत्ति इत्यादि **चरणकरणानुयोगना** विषयो छे, ज्यारे महापुरुषोनी जीवनप्रणालिका, तेमांथी झलकती उत्तमनीति, सदाचरण, पूर्वकालीन इतिहास, दीर्घदृष्टिए विचारतां पूर्वापरकालनो अनुभव, उपादेय प्रति आदरभाव, असदाचारेना चरित्रथी थती असदाचारप्रत्ये गर्हा ए विगेरे विषयो **धर्मकथानुयोग** शरीर छे।

आगमोनी अपेक्षाए **श्रीसूत्रकृताङ्गमां** द्रव्यानुयोग प्रधान छे, **श्रीआचाराङ्गमां** चरणकरणानुयोग, **श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** आदिमां गणितानुयोग, अने **श्रीज्ञाताधर्मकथाङ्गादिमां** धर्मकथानुयोग मुख्यपणे दृष्टिगोचर थाय छे।

नवतत्त्व प्रकरणमां चारे अनुयोग

आ नवतत्त्व प्रकरण यद्यपि **द्रव्यानुयोग** प्रधान छे तो पण गणितानुयोग–चरणकरणानुयोग तथा धर्मकथानुयोगोना वर्णनमां ते अलग पडतुं नथी, जीवाजीवद्रव्योनुं स्वरूप द्रव्यानुयोगान्तर्गत छे, षड्द्रव्यो पैकी कालसम्बन्धी केटलाक विचारनो तेमज मोक्षतत्त्ववर्णन प्रसङ्गे आवता अल्पबहुत्त्वप्रमुखद्वारनो गणितानुयोगमां समावेश थाय छे, संवरतत्त्वमां कहेवाता समिति, गुप्ति, दशविधयतिधर्म ए **चरणकरणानुयोगना** विषयो छे, तेमज परीषह विगेरे वर्णनप्रसंगे कहेवामां आवतां महापुरुषोनां दृष्टान्तो ए **धर्मकथानुयोगमां** आवे छे. ए प्रमाणे चारे अनुयोगथी भरपूर होइ आ ग्रन्थ घणोज महत्त्वनो छे।

सर्वआगमोमां शिरोमणि पञ्चमाङ्ग **श्रीभगवती** (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्रमां स्थले स्थले साधुओना तत्त्वज्ञाननी परिपक्वता मांटे सिद्धवर्णन छे, परंतु श्रावकोनी ज्ञानसमृद्धिनुं पण वर्णन करतां जणाववामां आवेला “**अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरणिज्जरकिरियाहिगरणबंधप्पमोक्खकुसला**” इत्यादिपदोथी नवतत्त्वनी केटली महत्ता छे ते समजाइ आवे छे.

ते उपरांत श्रावकसमूहमां नवतत्त्वसंबन्धी केटलुं ज्ञान होवुं जोइए ? ते पण परमात्मा श्रीमहावीरदेवे उपर जणावेला महत्त्वपूर्ण-पदो ख्यालमां आवी शके तेम छे। प्राचीन कालमां 'जैन' अथवा 'श्रावक' उपनामने धारणकरवावालो वर्ग पुन्योदयथी प्राप्त थयेल ए उपनामने सफल करवा माटे जीवाजीवादि नवतत्त्वना ज्ञाननी प्राप्ति माटे सतत उद्यमी हतो, ए तत्त्वज्ञानने ज परम उपादेय मानी तेमां आसक्त रहेनार हतो, अने ए ज तत्त्वज्ञाननी प्राप्तिना योगे आध्यात्मिक उन्नतिमां हंमेशां ते वर्गमां तत्परता जोवामां आवती हती। परमकृपालु परमात्माने तेमज सूत्ररचयिता श्रीगणधरभगवंतोने पण 'अभिगयजीवाजीवा' इत्यादि पदोथी श्रावकोने सम्बोधवानो प्रसङ्ग ए कारणथीज प्राप्त थयेलो हतो। ज्यारे वर्त्तमानमां दु:षमकालना प्रभावे किंवा जीवोना बहुलकर्मिपणाने अङ्गे अर्थकामनीज प्राप्तिमां अहर्निश आसक्त (अमारो बन्धुवर्ग!) 'श्रावक' अथवा 'जैन' कुलमां उत्पन्न थवा पूर्वक ए पुन्यलभ्य उपनामने प्राप्त करवा छतां श्रावक केंवा 'जैन' ए पदनो शुं अर्थ छे ? ए पदनी शुं महत्ता छे ? अथवा ए उपनामने धारण करनारनी शुं शुं फरजो छे ? तेनुं विस्मरण थवा साथे कर्त्तव्य भ्रष्ट थइ दुष्प्राप्य 'श्रावक' ना विरुदने सान्वर्थ करी शकतो नथी एमां शुं कारण छे? ते विचारवानी खास जरुर छे। पांचदश घरनी श्रावकोनी वस्तीवाला नाना गामथी लइने विशाल वस्तीवाला मोटा शहेरोमां प्राय: प्रत्येकस्थले नानीमोटी धार्मिकपाठशालाओनुं अस्तित्त्व अवश्य जोवामां—जाणवामां आवे छे, एम छतां जेवुं लक्ष्य, जेवी कालजी अने जेवी तत्परता ! व्यावहारिक केळवणी तरफ अपाय छे ते अपेक्षाए अमुक अंशे पण धार्मिकशिक्षण तरफ विद्यार्थीओ केंवा तेओना वालीओ तरफथी लक्ष्य अपातुं होत, तत्परता उत्पन्न थइ होत। तो आजनो समाज धार्मिकतत्त्वज्ञानविहोणो निहाळवानो अवसर आव्यो छे ते

प्राचीन कालमां श्रावकोने ज्ञानसमृद्धि

अवश्य न प्राप्त थात । गुजराती–इंग्लीश–' –प्राकृत–मेथेमेटिक्स (गणेत–बीजगणित–भूमेति) इतिहास–भूगोळ विगेरे विषयोना अध्ययन माटे स्थले स्थले विद्यमान स्कुलो हाईस्कुलो तेमज कॉलेजोमां मातपितानी प्रेरणापूर्वक केंवा प्रेरणाविना हजारोनी संख्यामां विद्यार्थिओ हसते चहेरे चाल्या जता प्रत्यक्ष जोइए छीए, ज्यारे आपणी आजनी धार्मिकपाठशालाओमां बे आंकडाथी वधीने त्रण आंकडानो संख्या भाग्येज होवा साथे संख्यानो अपेक्षाए (पण) हाजरीनुं अल्पप्रमाण, हाजरीना प्रमाणनो अपेक्षाए अभ्यासमां कीडीना वेगे वृद्धि (?) तेमज शिक्षकप्रमुखवडेलना वेनयनो लगभग अभाव वेगेरे बावतोनुं आन्तर्दृष्टिथी अवलोकन करतां कोइपण सुज्ञमानवने खेद थया सेवाय नहें रहे। तेमां पण व्यावहारिकशिक्षणनो तेमज वयनो अमुक हद सुधीज धार्मिकअभ्यासनी परेपाटी चालु होवानुं अने ते व्यावहारेक शिक्षणनी तेमज वयनी मनःकल्पितमर्यादानुं उल्लंघन थतां 'अमे इंग्लीशमेन थया!' अमे 'मोटा थया!' 'आ अवस्थामां पाठशालामां जवुं ए अमने शोभे नहें' इत्यादि मनघडन्तकल्पनाओथी पोझीशनमां क्षति आववाना ओठा नीचे अथवा वर्त्तमानमां चालतो

ज्ञानसमृद्धिसम्बन्धी आजना समाजनी परिस्थिति।

धार्मिकशिक्षणप्रणालिकानी नीरसताने अङ्गे केंवा ए वेपयमां विद्यार्थिओ साथे तेओना माबाप वेगेरे वडिलोनी निरपेक्षवृत्तिना निमित्ते प्रथमावस्थामां चालु धार्मिकअभ्यासने अधवचथीज प्रायः तिलांजले आपवानुं अनुभवोओथी अनुभव बहार नथी। 'व्यावहारेकशिक्षणनी आवश्यकता नथी' एम कोइपण विचारशीलव्यक्ति कहेज नहें, अने कोइ वेचार कर्या सेवाय कहे तो ते योग्य पण गणाय नहे. परंतु व्या० शिक्षण उपर धर्मश्रद्धा तेमज धर्माचरणथी वेमुख थवानो, वडेलोना वेनयथी पराङ्मुख थवानो

तथा स्वतंत्रताना नामे स्वच्छन्दतानी वृद्धिपामवानो जे आक्षेप मुकवामां आवे छे ते आक्षेपने दूर करवा माटे व्या० शिक्षण साथे धर्मश्रद्धा तेमज धर्माचरणना मूल कारणभूत धार्मिकशिक्षणनो अमुक अंशे सहयोग थवानी खास जरुरीयात छे। जे शिक्षण प्रायः ऐहिकसुखनुं साधन छे ते शिक्षणतरफ विद्यार्थिओनो तेमज तेओना वालीओनो सम्पूर्ण ख्याल होवा साथे ते शिक्षण माटे तन मन अने धननो व्यय पण करवामां पाछी पानी थती नथी, ज्यारे ऐहिक तेमज आमुष्मिक सुखना साधनभूत धार्मिकतत्त्वज्ञान प्रत्ये केवल निरपेक्षदशा निहालवामां आवे छे. व्या० शिक्षणनी अपेक्षाए अमुक अंशे पण ए धार्मिकतत्त्वज्ञान तरफ लक्ष्य अपायुं होत, अने तन मन तेमज धननो सदुपयोग थवा साथे ते मार्गने उत्तेजन अपायुं होत तो आजनी प्रजा तत्त्वज्ञानथी वंचित रहेवा न पामत। प्रतिदिन ह्रास पामती तत्त्वविद्यानी प्रगतिमाटे आजनो बाळ तेमज युवान प्रजामां धर्मतत्त्वोनी अभिरुचि विशेष थवा साथे प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञाननो अंशे अंशे अधिकारी थाय ते माटे विद्यार्थिओए तेमज तेमना वालीओए खास अपेक्षा राखवानी जरुर छे, लाखो तेमज हजारोना खर्चे चालती धार्मिक अने सामाजिकसस्थाना कार्यवाहकोए तथा धार्मिक शिक्षकोए शिक्षणनी प्रणालिकामां धर्मनी जड रहे तेम पलटो करवानी आवश्यकता छे अने श्रीमन्तोए रात्रिदिवस अर्थकामनी प्रवृत्तिमांथी पण धर्मसाधनमाटे अवसर काढी धर्मतत्त्वो जाणवा साथे तत्त्वज्ञाननी प्राप्तिना पंथे दानप्रवाह खुल्लो करवानुं कर्त्तव्य अवश्य ध्याननां राखवा लायक छे। ए प्रमाणे थशे तोज श्रमणभगवान् महावीरपरमात्माए सिद्धान्तोमां आपेला 'अभिगयजीवाजीवा' इत्यादि श्रावकोना विशेषणो यत्किंचित् सान्वर्थ थइ शकशे।

श्री जैनशासनमां नवतत्त्वोनुं प्रतिपादन करनारा अनेक आगमो तेमज सुविहितगीतार्थ पूर्वाचार्यविरचित सख्यावंध ग्रंथो

जैनशासनमां नवतत्त्व साहित्य।

विद्यमान छे। श्री **समवायांगसूत्रना** उपाङ्गभूत श्री **प्रज्ञापनासूत्र** ए नवतत्त्वना विषय उपरज रचायेलुं छे ए टीकाकारमहर्षि **श्रीमलयगिरिजी महाराजाना** नीचे जणावाता शब्दोथी जाणी शकाय छे. तेओश्री टीकाना प्रारम्भमांज आ प्रमाणे उल्लेख करे छे के—'अस्यां प्रज्ञापनायां षट्त्रिंशत्पदानि, तत्र प्रज्ञापनाबहुवक्तव्यविशेषचरमपरिणामसंज्ञेषु पञ्चसु पदेषु जीवाजीवानां प्रज्ञापना। प्रयोगपदे क्रियापदे चाश्रवस्य 'कायवाङ्मनःकर्मयोग आश्रव' इति वचनात्। कर्मप्रकृतिपदे बन्धस्य प्ररूपणा। समुद्घातपदे केवलिसमुद्घातप्ररूपणायां संवरनिर्जरामोक्षाणां त्रयाणां, शेषेषु तु स्थानादिषु पदेषु कचित्कस्यचिदिति"। श्रमणभगवान् जगद्बन्धु परमात्मा **श्रीमहावीरप्रभुना** चरमोपदेशरूप अपृष्टव्याकरण **श्रीउत्तराध्ययनसूत्रना** मोक्षमार्गदर्शावनार अट्ठावीशमा मोक्षमार्गगति नामना अध्ययनमां पण आ नवतत्त्वोनो ज आ प्रमाणे उद्देश छे, "जीवा जीवा य बन्धो य, पुण्णं पावासवो तहा। संवरो णिज्जरामोक्खो सन्ते ए तहिया नव ॥ १ ॥ तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं। भावेण सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ २ ॥" तथा वाचकशिरोमणि दशपूर्वधर भगवान् **श्रीउमास्वातिवाचक** निर्मित **श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र** पण 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाऽजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्' इत्यादि सूत्रोथी जीवाजीवादितत्त्वोना वर्णनने उद्देशीनेज रचायानुं सर्व कोइ साक्षरने जाण बहार नथी ज। 'पुण्यपापयोश्च बन्धेऽन्तर्भावान्न भेदेनोपादानम्' पुण्यपापतत्त्वनो बन्धतत्त्वमां अन्तर्भाव होवाथी ते उभयतत्त्वोनी पृथक् गणना करी नथी, ए तत्त्वार्थवृत्तिकारमहर्षिना वाक्यथी तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमां आवता साततत्त्वो अने प्रस्तुत नवतत्त्वोनी सख्यामां यद्यपि विपर्यय छतां अर्थापेक्षया विपर्यय नथी। ते उपरांत प्रशमरति

प्रकरण, योगशास्त्रवृत्ति, धर्मरत्नप्रकरणवृत्ति, समयसार प्रकरण, तेमज त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरित्र विगेरे धर्मकथानुयोगमां आवतो नवतत्त्व सम्बन्धी उपदेश इत्यादि ग्रन्थो नवतत्त्वनु विशिष्ट प्रतिपादन करनारा छे।

खास नवतत्त्वनुं ज प्रतिपादन करनारा ग्रन्थो।

ए प्रमाणे अनेकग्रन्थोमां नवतत्त्व सम्बधी साहित्य दृष्टिगोचर थाय छे तोपण तत्त्वोनो स्वतंत्र बोधलेवा माटे आ नवतत्त्व प्रकरण अति प्रसिद्ध तेमज घणुं उपयोगी छे. आ नवतत्त्व प्रकरण १४ गाथामां, २७ गाथामां ५९ गाथामां, १४० गाथामां, विगेरे अनेकप्रकारे भिन्न भिन्न चिरंतनाचार्योंथी रचायेलुं जोवामां आवे छे. अने ते नवतत्त्व विपयक मूलगाथाओ उपर अनेक महापुरुपोए रचेली भाष्य, अवचूरि, संक्षिप्तटीका, बालावबोध, टव्वा तेमज पद्यबन्ध विविधस्तवनोनी हारमाला दृष्टिगोचर थाय छे, जे नीचे आपेल लिस्टथी जणाइ आवे छे—

नवतत्त्व साहित्यग्रन्थोनी सूची.[1]

प्राकृतसंस्कृतसाहित्य.	ग्रन्थकार.	प्राकृतसंस्कृतसाहित्य.	ग्रन्थकार.
१ नवतत्त्वप्रकरणमूल		४ नवतत्त्वविचारसारोद्धार, गा० ८	
२ नवतत्त्वविचार	२ भावसागर	५ नवतत्त्वसार प्रकरण (कुलक) ५	अंचल० श्रीजयशेखरसूरि
३ बृहन्नवतत्त्व		६ नवतत्त्वसार	

१ आ सूचि प्राचीनभंडारोना लीस्टो तेमज श्री जैनग्रन्थावलि आदिमा नवतत्त्व संबधी घएल उल्लेखोना आधारे मेळवीने आपेल छे

७	नवतत्त्ववृत्ति	७	श्री अम्बप्रसाद सं. १२२०
८	,, ,,	८	श्री देवेन्द्रसूरि
९	,, ,,	९	श्री कुलमंडनसूरि
१०	,, ,,	१०	श्री समयसुन्दरगणि
११	,, विवरण	११	श्री परमानन्दसूरि
१२	,, ,,	१२	श्री देवचन्द्रसूरि
१३	,, अवचूर्णि	१३	श्री साधुरत्नसूरि
१४	,, ,,	१४	श्री मानविजयगणि
१५	,, ,,		
१६	प्रक्षेपगा ११३ गाथा १६ नी (अवचूर्णि)	१६	तपोगच्छाचार्य श्री विजयनेमसूरि शिष्य श्री विजयोदयसूरि
१७	नवतत्त्व प्रकरण	१७	श्री देवगुप्तसूरि
१८	,, भाष्य	१८	श्री अभयदेवसूरि
१९	,, वृत्ति	१९	श्री यशोदेवोपाध्याय

प्राकृतभाषासाहित्य

२०	नवतत्त्व बालावबोध	२०	श्री सोमसुन्दरसूरि शिष्य श्री हर्षवर्धनगणी
२१	,, ,,	२१	श्री पार्श्वचन्द्र - नीय
२२	,, (कुलक) ,,	२२	श्री मेरुतुङ्गसूरिसन्ता-
२३	,, टवो	२३	श्री मानविजयगणी
२४	,, ,,	२४	श्री मणिरत्नसूरि
२५	,, ,,		

भाषासाहित्य

२६	नवतत्त्व रास	२६	श्री ऋषभदास
२७	,, ,,	२७	श्री भावसागर
२८	,, ,,	२८	श्री सौभाग्यसुन्दर
२९	नवतत्त्व जोड	२९	श्री विजयदानसूरि
३०	,, स्तवन	३०	श्री भाग्यविजयजी

३१ ,, ,,	३१ श्री विवेकविजयजी	३६ नवतत्त्व छन्दोवद्ध भाषा	३६ श्री ज्ञानसारमुनि
३२ ,, चोपाइ	३२ श्री कमलशेखर	३७ ,, सार	
३३ ,, ,,	३३ श्री सौभाग्यसुन्दर	३८ समयसार प्रकरण	३८ श्री देवानन्दसूरि
३४ ,, ,,	३४ श्री वर्धमानमुनि		
३५ ,, ,,	३५ श्री लुम्पकमुनि	३९ ,, वृत्ति	

वर्त्तमानमां प्रगट थएल नवतत्त्व साहित्य ।

उपर जणावेल नवतत्त्वविषयक साहित्यनो नोंध जैनग्रन्थावली तेमज प्राचीन ग्रन्थ भंडारोनी सूचीना आधारे आपवामां आवेल छे. ए साहित्य पैकी श्री नवतत्त्व भाष्य सटीक श्री आत्मानन्द सभा (भावनगर) तरफथी प्रगट थएल छे, ते उपरांत जैनग्रन्थप्रकाशक सभा (अमदावाद) तरफथी नवतत्त्व साहित्य सग्रह नामनुं पुस्तक वहार पाडवामां आवेल छे जेमां श्री उमास्वातिवाचक–जयशेखरसूरि विगेरे महापुरुपोए रचेला नवतत्त्व प्रकरणो, अवचूरि गुर्जरभापानुवाद तेमज स्तवनो विगेरेनो घणो संग्रह करवामां आव्यो छे । आ सिवाय स्थले स्थले खास प्रसिद्धि पामेल तेमज वर्त्तमानमां ज्या क्यां चालती धार्मिक पाठशालाओमां अभ्यास कराववामां आवतुं. ५९ (अथवा ६०) गाथाओनुं नवतत्त्व प्रकरण गुजराती तथा हिंदी भापामां संक्षिप्त किंवा सविस्तृत अनुवाद साथे संख्यावंध संस्थाओ तरफथी वहार पाडवामां आवेल छे जेमां भीमसी माणेक, म्हेसाणा–यशोविजयजी जैनपाठशाला (श्रेयस्कर मडल,) श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा तरफथी प्रगट थएला अनुवादो पाठ्यक्रम माटे घणा उपयोगी तेमज महत्त्वना छे ।

श्री सुमङ्गलाटीका समलङ्कृत आ **नवतत्त्व प्रकरण** पण हालमां विशेष प्रसिद्ध अने पाठ्यक्रममां अतीव उपयोगी ५९ गाथाओनुं रचायेल छे। प्रथम जणावी गया ते प्रमाणे आ प्रकरण उपर हिन्दी तेमज गुर्जर अनुवादो–विवेचनो अनेक विद्वानो तरफथी लखायां छे, अने जुदे जुदे स्थलेथी प्रगट थयां छे, परंतु ५९ गाथाथी संकलित आ नवतत्त्व प्रकरण उपर गमे ते कारणे कोइपण प्राज्ञ पुरुषनुं संस्कृत भाषामां टीका रचवानुं ध्यान खेंचायुं होय तेम मारा जाणवामां–जोवामां आवेल नथी, आ नवतत्त्व प्रकरण उपर संस्कृत भाषामां सरल टीका लखवी योग्य छे ए हेतुथी पूज्यपाद शासनप्रभावक गीतार्थप्रवर सच्चारित्र-चूडामणि आचार्य महाराज १००८ श्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरजी महाराजश्री तेमज तेओश्रीना परमविनेय अखंडगुरुकुल-वासी चरणगुणनिधि–म्हने रत्नत्रयीना प्रदाता पूज्यपाद पाठक प्रवर उपाध्यायजी महाराज १००८ श्रीमत्प्रतापविजयजी गणि महाराजनी आज्ञानुसार तेमज बालमुनिश्री यशोविजयजीना खास आग्रहथी मारी अल्पबुद्धिनो विचार

संस्कृत टीका रचवानुं प्रयोजन.

कर्या विनाज श्रीजिनेश्वर भगवंतना सिद्धान्तने अनुसरी आ नवतत्त्वप्रकरण जेवा गंभीर विषय उपर संस्कृत भाषामां टीका लखवानी मने अभिलाषा प्रगट थइ, अने पूज्य सद्गुरुकृपाए ते अभिलाषा आजे संपूर्ण थइ।

आ नवतत्त्व प्रकरणना मूलकार कोण छे? ते बाबतमां घणो उहापोह थवा छतां विद्वद्वर्ग तरफथी कोइपण निर्णय आजसुधी थइ शक्यो नथी, तोपण—

" इय नवतत्तवियारो, अप्पमइनाणजाणणाहेउं। संखित्तो उद्धरिओ, लिहिओ **सिरिधम्मसूरीहिं** ॥ १ ॥"

नवतत्त्व प्रकरणनी हस्तलिखित एक प्राचीन प्रतिमां उपर जणावेल ६० मी गाथा जोवामां आवती होइ आ प्रकरणना कर्त्ता श्रीमान् धर्मसूरीश्वरजी महाराज होय तेम मानी शकाय छे। ए धर्मसूरीश्वरजी महाराज क्या सैकामां विद्यमान हता ते संबंधी कांइपण माहिती मळी नथी। वृत्ति अवचूर्णि–वालाववोधकारो आ गाथानो उल्लेख करता नथी एथी एम पण मानवाने कारण मळे छे के आगळ जणाववा प्रमाणे नवतत्त्वप्रकरणनी मूळ गाथाओ तो २७ ज छे, अने ते सिवायनी गाथाओ घणी उपयोगी जाणी कोइ योग्य पुरुषे प्रक्षेप कर्यो होय तेम कल्पी शकाय छे। ते २७ मूळ गाथाओना प्रणेतानो समय तेरमा सैका पहेलानो होय तेम वृत्तिकार तेमज अवचूर्णिकारना ते ते प्रतिओना प्रान्तभागमां रहेल उल्लेखोथी सावीत थाय छे। वळी अन्य एक प्राचीन पुस्तकमां 'इति श्री वादिदेवसूरि विरचितं नवतत्त्वप्रकरणम्' ए प्रमाणे वाक्य जोवामां आवेल छे ते उपरथी–जे अपूर्व ग्रन्थमां केवळ निर्वाण सिद्धि माटे ४२००० श्लोकनी रचना हती ते स्याद्वाद रत्नाकर ग्रन्थना प्रणेता, सिद्धराजनी सभामां कुमुदचन्द्र जेवा दिगम्बरवादीओनो पराजय करनार तेमज परमार्हतपरनारी सहोदर कुमारपाल भूपाल प्रतिबोधक कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजना विद्यागुरु पूज्यप्रवर भगवान् श्री वादिदेवसूरि महाराज आ प्रकरणना रचयिता होय तेम पण अनुमान थाय छे उपर जणावेल 'इय नव०' गाथा तेमज 'इति श्री वादिदेव०' ए बन्ने उल्लेखोनी एक वाक्यता करवा माटे एम पण कल्पना करी शकाय के २७ गाथा रूप नवतत्त्व प्रकरणना कर्त्ता श्री वादिदेवसूरिजी महाराज होय, अने उपयोगी गाथाओना प्रक्षेपक श्री धर्मसूरिजी महाराजा होय !

नवतत्त्व प्रकरणना मूलकार।

प्रथम जणावी गया ते प्रमाणे आ नवतत्त्व प्रकरणनी मूलगाथाओ २७ होवी जोइए, अने ते ते विषयोने उपयोगी प्रासङ्गिक

गाथाओनो प्रक्षेप करी एकंदर ५९ (अथवा ६०) गाथाओ थएली होवी जोइए एम वृत्ति अवचूर्णि बालावबोध विगेरे उपरथी जोइ– जाणी शकाय छे। एकंदर नवतत्त्व प्रकरण उपर जुदा जुदा आचार्यो तरफथी एटली भिन्न भिन्न रचनाओ करवामां आवी छे के नवतत्त्वप्रकरणनी मूलगाथाओ केटली ? ते संबंधी कोइ पण चोकस निर्णय उपर आववुं मुश्केली भर्युं छे, आत्मानन्दसभा–भावनगर तरफथी अमुकवर्षो पहेलां प्रगट थएल 'श्री नवतत्त्व भाष्य–सटीक' ग्रन्थमां नवतत्त्वनी मूलगाथाओ १४ छे अने ते (त्यां) प्रारम्भमांज जुदी एक साथे आपवामां आवेल छे अने ते १४ गाथाना प्रणेता संबंधी श्री देवगुप्तसूरिमहाराजानुं नाम सर्वत्र प्रसिद्ध छे। आ उपरथी आपणे तो एटलोज सारांश खेंची शकीए छीए के नवतत्त्वनी गाथाओ १४ होय २७ होय ५९–६० होय के १४० होय ते विषय (चर्चा) बाजुमां राखीने नवतत्त्व विषयो उपर मळी आवती संख्याबंध भिन्न भिन्न पूर्वाचार्योनी कृतिओ उपलब्ध थती होइ जैनशासनमां जीवाजीवादि नवतत्त्वोनुं प्रतिपादन अने ते प्रतिपादननुं गौरव घणा विशेष प्रमाणमां रहेल छे। पुनरुक्ति तरीके कहीए के 'नवतत्त्वना प्रतिपादन उपर जैनदर्शन 'मंडाण छे' तो ते कथनमां अतिशयोक्तिने लेशपण अवकाश नथी।

गाथाओमां तत्त्वोनी व्हेंचण।

५९ गाथाना आ नवतत्त्व प्रकरणमां १ थी ७ गाथामां जीवतत्त्व, ८ थी १४ गाथामां अजीवतत्त्व, १५ थी १७ गाथाओमां पुन्यतत्त्व, १८ थी २० गाथामां पापतत्त्व, २१ थी २४ गाथामां आश्रवतत्त्व, २५ थी ३३ गाथामां संवरतत्त्व, ३४ थी ३६ गाथामां निर्जरातत्त्व, ३७ थी ४२ गाथामां बन्धतत्त्व, ४३ थी ५० गाथामां मोक्षतत्त्व, अने ५१ थी ५९ गाथाओमां प्रकीर्णक अधिकार आपवामां आवेल छे विषयसम्बन्धी विशेष समज माटे सविस्तृत विषयानुक्रम स्वतंत्र आपवामां आवेल होवाथी अहिं तद्विषयक विशेष

उल्लेख करवो उचित धार्यो नथी ।

आ प्रकरण उपर श्री सुमङ्गला नामनी टीका करवा सम्बन्धी जे कार्य करवुं ते एक प्रकारनुं साहस तेमज वालचेष्टा छे एम म्हारा जाणवामां छता ' शुभे यथाशक्ति यतनीयम् ' न्यायने आधारे तेमज सस्कृतभापामां लखवाथी ते भापानुं तेमज तत्त्वज्ञाननुं परिशीलन थवाना उद्देशथी अने आ प्रमाणे लखवा माटे उम्मरमां बाल छतां बुद्धिमां अवाल तत्त्वजिज्ञासु मुनिवर्य श्री यशोविजयजीनी उदात्त प्रेरणा थवाथी पूज्य गुरुमहाराजनी आज्ञानुसार आ टीका लखवानुं म्हें म्हारा जीवनमां प्रथम मंगल कर्युं छे, अने ए प्राथमिक मङ्गलनी अपेक्षाए टीकानुं ' सुमङ्गला ' नाम पण अमुकअंशे सान्वर्थ छे ।

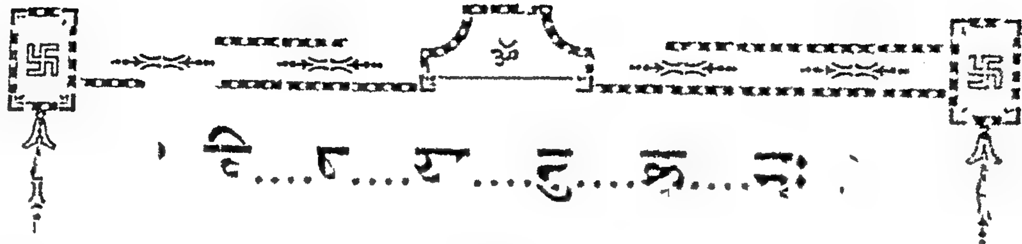
आ टीकाग्रन्थमा स्थले स्थले आचारांग, सूयगडांग, श्री भगवतीजी , पन्नवणाजी–तत्त्वार्थसूत्रसटीक–योगशास्त्र नवतत्त्वभाष्य विगेरे अनेक ग्रन्थोना उपयोगी प्रमाणो आप्यां छे कोइ कोइ स्थाने ते ते सूत्रोना अखंडपाठो तेमज टीकाना पण जरुरी पाठो आपवा भूलायुं नथी । शक्य प्रयत्नो द्वारा ग्रन्थने जेटलो सुगम वनाववानो प्रयत्न थाय तेटलो कर्यो छे, विपयोनी स्पष्टता माटे योग्य प्रयास सेवायो छे अने उपयुक्त स्थाने यंत्रो तेमज आकृतिओ पण आपवामां आवेल छे, तोपण श्रुतनी अगाधता, विपयोनु गाम्भीर्य अने अतीन्द्रियपदार्थोनु दुरावगाहपणुं होवा साथे म्हारी अल्पमति, प्रमादपराधीनता, तेमज छद्मस्थपणुं ए सर्व हेतुओथी अनेक स्खलनाओ थवानी अवश्य सम्भावना छे । सज्जनोने आ स्खलनाओने सुधारवा तेमज मने जणाववा साग्रह सूचना छे. परमगुरुदेव शासनमान्य व्याख्यानविशारद आराध्यपाद आचार्यमहाराज श्रीमद् विजयमोहनसूरीश्वरजी महाराजे आ ग्रन्थनुं साद्यंत अवलोकन करी अनेक स्खलनाओमांथी म्हारु संरक्षण कर्युं छे, तेमज पूज्यगुरुदेव प्रातःस्मरणीय उपाध्यायजी महाराजश्री

प्रतापविजयजी गणीजी महाराजे आ ग्रन्थना लगभग बधा प्रुफोना संशोधनमां सहाय करी म्हने सविशेष उपकृत कर्यो छे, ते उपकृतिनुं अनेकशः हुं संस्मरण करु छुं । आगमोद्धारक परमगीतार्थ तत्त्ववेत्ता प्रत्यूषाभिस्मरणीय आचार्यमहाराजश्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराजाने अमुक विषयो सम्बन्धी प्रश्नो पुछतां तेओश्रीए आपेल संतोषकारक प्रत्युत्तरो माटे पुनः पुनः ते पूज्यपादना चरणारविन्दमां नमस्कार करुछुं । म्हारा गुरुबन्धु मुनिश्री उदयविजयजी तेमज मुनिश्री भरतविजयजीनी आ कार्यने अङ्गे माराथी विशेष समय रोकी शकवामां समर्पण थयेली सहायने पण याद करवा भुलातुं नथी ।

प्रान्ते आ ग्रन्थथी जैन जैनेतर समाजमां जिनेश्वरभगवंतोए प्रतिपादन करेला जीवाजीवादितत्त्वोनु ज्ञानविस्तार पामो ! अने तत्त्वज्ञानजन्य सम्यग्दर्शन–सम्यक्चारित्रादि गुणोनी प्राप्ति करी भव्यात्माओ आत्मकल्याणमां अभिमुख बनो ! एज अन्तिम महेच्छा ।

ज्येष्ठशुक्ला १५–सं. १९९०
राजनगर–अमदावाद.

लेः–श्रीगुरुचरणाब्जमधुकर
प्र. मुनिश्री धर्मविजय ।



वि....ष....या....नु....क्र....मः



॥ अथाजीवतत्त्वम् २

॥ अथ आश्रवतत्त्वम् ५ ॥

॥ अथ संवरतत्त्वम् ६ ॥

| अथ मोक्षतत्त्वम् ९ ||

अथ प्रकीर्णकाधिकारः १० |

सूक्ष्म-शुद्धिपत्रकम् ॥

पत्रम्	पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धम्,	शुद्धम् ।
३	१	११	अविरोध., तस्मात् ।	अविरोध , तथाहि– ‘सव्वजीवाणंपि अ ण अक्खरस्स अणतमो भागो णिच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोवि आव रिज्जा तेण जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा’ इति । तस्मात्० ।
३	२	९	वरीवर्त्तन्ते ।	वरीवृत्यन्ते ।
६	१	७	तत्र पुन्यपापतत्त्वयोरशुभाऽशुभाश्रवरूपत्वात् ।	तत्र पुन्यपापतत्त्वयोर्बन्धतत्त्वेऽन्तर्भावात् ।
६	१	१३	वरीवर्त्तते	वरीवृत्यते
७	२	७	,, ।	,, ।
८	२	१३	समापय्येव ।	समाप्य ।
११	२	१३	वरीवर्त्तते ।	वरीवृत्यते ।
१९	२	८	चिन्तनात्मकव्यापारप्रवृत्तमनोयोगेन ।	चिन्तनीयानुगुणात्मव्यापारेण ।
३४	१	१४	परिश्रुत ।	परिस्रुत ।
३९	१	१०	अथवा द्वावप्यनागतातीतौ-तुल्याविति ।	अथवा शब्दव्युत्पत्त्या द्वाप्यनागतातीतौ तुल्याविति ।
४३	२	१४	जीवप्रदेशानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानाम् ।	जीवप्रदेशाना लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानाम्
४९	२	९	भाविनीलेयं	भाविनीलेव ।
५१	१	१२	तदौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम ।	तद् वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम ।
६०	२	१	जीव सा सा ।	जीवस्तास्ता ।
६६	१	५	योगसद्भावाद्द्रव्यतस्तु ।	योगादिसद्भावाद्द्रव्यतस्तु ।
७२	२	१४	वत्तते ।	वर्त्तते ।
७३	१	५	अभिगृहीतमिथ्यादर्शन दर्शनप्रत्ययिकी ।	अभिगृहीतमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी ।
७७	१	४	शेषकाले चरणप्रतिपत्ते ।	शेषकाले देशाचरणप्रतिपत्ते ।
९३	२	११	इत्याभिलाषेण ।	इत्यभिलापेण ।
९६	२	७	सहस्रारं यार्वत् ।	सहस्रारं यावत् ।
९७	१	–	उच्छ्रयेन ।	उच्छ्रयेण ।
९८	१	२	सुख्येव सर्गस्स्यात् ।	सुख्येव सर्वस्स्यात् ।
१२५	१	१०	अनन्तगुणा ।	अनन्तगुणा ।
१२७	१	१०	गृहित ।	गृहीत ।

N A V A T A T V A

आयरियनमुक्कारेण विज्जामंता य

 सिंति। 

जन्म-सिद्धक्षेत्र.
सं. १९३५।



दीक्षा-म्हेसाणा.
सं. १९५७।

स्फूर्जत्प्रौढगुणप्रसूनसुरभिप्रावासिताऽर्हद्वनो-
य. सिद्धान्तविचारचारुचरितो व्याख्यानवित्कोविदः।
श्रद्धाज्ञानविवेकशीलविलसत्सद्रत्नपाथोनिधि-
स्तं श्रीमोहनसूरिराजमनघं वन्दे त्रिधा भक्तितः॥

पंन्यासपद-राजनगर.
सं. १९७३।

आचार्यपद-राजनगर.
सं १९८०।



S U M A N G A L A

N A V A T A T V A



जन्म-वढवाणशहेर संवत १९६०

लघुदीक्षा-सांगणपुर (म्हेसाणा)
संवत १९७६ माघ शु. ११



प्रवर्त्तक मुनिश्री धर्मविजयजी महाराज



उपस्थापना-वडोदरा. सं. १९७६.
वैशाख शु. १।

प्रवर्त्तकपद-सिद्धक्षेत्र पालीताणा
संवत १९८७।

S U M A N G A L A

॥ ॐ नमोऽर्हत्परमेश्वराय ।

श्रीसिद्धार्थपार्थिवकुलगगनाङ्गणगभस्तिमालित्रिशलातनन्दनश्रीमहावीरक्रमकमलाभ्यां नमोनमः ॥

श्रीसिद्धार्थपार्थिवकुलगगनाङ्गणगभस्तिमालिज्ञातनन्दनश्रीमहावीरक्रमकमलाभ्यां नमोनमः ॥

श्रीनवतत्त्वप्रकरणं सुमङ्गलटीकासमलङ्कृतम्

। श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमोनमः ।

ऐन्द्रालिप्रणताय दोषविगमान्निःशेषसत्संविदे, संसाराब्धिनिमज्जतामसुमतां पोतायमानाय च ।
कल्याणैकनिकेतनाय जगतां वन्दारुकर्म्मच्छिदे, त्रैलोक्यैकसुरद्रुमाय सततं स्याद्वादिने ते नमः ॥१॥
श्रीसिद्धार्थप्रगुणदयितानन्दनं चारुतन्त्रं, आपत्कोटीविघटनपटुं संपदाकृष्टिमन्त्रम् ।
श्रेयोवल्लीवनजलधरं तत्त्वधीसौधदीपं, भव्याब्जार्कं बुधमतिधवं नन्नमामीश्वरं वीरम् २

१ अर्हते इत्यर्थः ।

वन्दारुजनमन्दारं वृन्दारकनिषेवितम् । भव्याम्भोजविवस्वन्तं, वन्देऽहं गणिगौतमम् ॥ ३ ॥

सदयहृदयकान्तं पूज्यमानं सुभव्यै-र्ग्रथितललितपद्यैर्वर्ण्यमानं कवीन्द्रैः ॥
जिनचरणसरोजे सर्वदैकाग्रचित्तं, विजयकमलसूरिं संस्तुवे प्रीतिपूर्वम् ॥ ४ ॥

येनाऽज्ञानतमो ममेन्दुसदृशस्फूर्जत्सुबोधांशुभि-र्ध्वस्तं यश्च विपश्चिदीशनिकरेणाऽऽसंस्तुतः सद्धिया ।
बाल्येऽपि प्रजिगाय मोहनृपतिं कल्याणकल्पद्रुमं, भो भव्याः प्रणमन्तु तं बुधवरं सूरीश्वरं मोहनम् ॥ ५ ॥

क्व बुद्धिलेशो मम बिन्दुतुल्यः, क्वेदं च शास्त्रं जलधीशमानम्[१] ।
तथाऽपि गीतार्थगुरुप्रतापात् सुमङ्गलानावि सुसंस्थितोऽहम् ॥ १ ॥

इह हि नारकतिर्यङ्नरामरगतिस्कन्धस्य, गर्भनिषेककललार्बुदमांसपेश्यादिजन्मजरामरणशाखस्य, दारिद्र्याद्यनेकव्यसनोपनिपातपत्रगहनस्य, प्रियविप्रयोगाऽप्रियसंप्रयोगाऽर्थनाशाऽनेकव्याधिशतपुष्पोपचितस्य, शारीरमानसोपचिततीव्रतरदुःखोपनिपातफलस्य संसारतरोरुन्मूलने तीक्ष्णकुठारकल्पा अहमहमिकावनम्रनिःशेषसुराऽसुरनिकरा अमितपुण्यप्राग्भारा सकलजगज्जंतुजातामितैकान्तहितानुशासिनस्त्रिभुवनभवनाभोगभासिनः प्रध्वस्ताऽशस्ततिमिरनिकराः सर्वज्ञदिवाकरा जैनेन्द्रप्रवचने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अवन्ध्यमोक्षफलप्रापकत्वेन प्रोचुः । तत्रापि त्रिकमध्ये तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं सम्यग्-

१ जलधीनामीशः स्वयंभूरमण इति ।

दर्शनं प्रधानतया त एव तीर्थंकरगणधरा उररीचक्रुः, यतो नहि सम्यग्दर्शनं विना ज्ञानचारित्रे स्वेष्टकार्यं प्रसाधयतः,
सम्यक्त्वमूलके एव ज्ञानचारित्रे मोक्षं प्रति अवन्ध्यकारणे, उक्तञ्चार्हत्प्रवचनसंग्रहे तत्त्वार्थाधिगमसूत्रसम्बन्धकारिकायां परम-
कारुणीकैः पाठकप्रवरैरुमास्वातिसूरिवरैः;—" सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति। दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं
भवति जन्म ॥ १ ॥" सम्यग्दर्शनस्य तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकत्वात् कानि तत्त्वानि किंनामधेयानि किंस्वरूपाणि च ? इत्यन्ते-
वासिजिज्ञासामाकलय्य तत्त्वप्रतिपादिकामिमां प्रथमां गाथां वस्तुसंकीर्तनात्मकमङ्गलस्वरूपां च ग्रन्थकारस्तावदाह;—

जीवाऽजीवापुण्णं, पावासवसंवरो य निज्जरणा । बंधो मुक्खो य तहा, नवतत्ता हुंति नायव्वा ॥ १ ॥

टीका—'जीवेति'—जीवः, अजीवः, पुण्यं, पापं, आश्रवः, संवरः, निर्जरा, बन्धः, मोक्षश्चैतानि नवसंख्यात्मकानि
तत्त्वानि ज्ञातव्यानि भवन्ति, हेयज्ञेयोपादेयतया विविच्य निवृत्तिप्रवृत्तिरूपेण भजनीयानि सुप्रसिद्धानि च जिनमते इति
गाथाक्षरार्थः ॥ अथ विस्तरेण प्रत्येकं तत्त्वं विव्रियते, तत्र तावदादौ जीवतत्त्वम्, ननु जीव इति कः पदार्थः ?
इत्याशङ्कायामुच्यते, 'जीव प्राणधारणे' इति भौवादिके धातुः, जीवंति स्वस्वयोग्यतया इन्द्रियप्रभृतिप्राणान् धारयन्तीति
जीवाः। प्राणाश्च द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, तत्र द्रव्यप्राणा—दशप्रकाराः 'पणिंदिय' त्ति गाथायां वक्ष्यमाणाः भावसंज्ञकाः प्राणाश्चान-
न्तज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यात्मकाश्चतुःप्रकाराः, तत्र ये संसारस्था जीवास्ते वक्ष्यमाणेन्द्रियादिप्राणान् यथायोगं बिभ्रति, ये च दग्ध-
सकलकर्मेन्धना अनन्ताप्रतिमज्ञानदर्शनशालिनो मुक्तिसौख्यभाजस्सिद्धास्ते तु पूर्वोक्तान् चतुरो भावाभिधान् प्राणान् धार-
यन्ति, इति प्राणधारणात्मकं जीवस्य लक्षणम् ॥ अथवा व्यवहारनयेन यस्तथाविधाऽध्यवसायवशतः शुभाऽशुभानां कर्म्मणां

कर्त्ता, तेषामेव सुकृतदुष्कृतानां फलमुपभोक्ता, कर्मानुसारेण नारकादिगतिषु संसर्त्ता, कर्म्मणामात्यन्तिकक्षयं विधाय परिनिर्वाता च स एव जीवो नान्यः । यदुक्तम्—" यः कर्त्ता कर्म्मभेदानां भोक्ता कर्म्मफलस्य च । संसर्त्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः " ॥ १ ॥ अथवा ' चैतन्यलक्षणो जीवः ' इति वचनात् सुखदुःखाद्यनुभवज्ञानात्मको जीवः सर्वैश्शेमुषीवद्भिस्सुतरां प्रतीयते । अथात्र कश्चिदारेकते;—ज्ञानरूपश्चैतन्यरूपो वा जीवश्चेत् अनवरतमेव कस्मात् सोऽर्थान् न पश्यति, जानानं हि ज्ञानमुच्यते, ज्ञानं च न जानीते विप्रतिषिद्धमिदम्, जीवश्च ज्ञानरूपोऽतः सर्वदा तेन जानानेनैव भवितव्यम् न कदाचिदन्यथा, विज्ञानात्मके जीवे कस्मात् पूर्वोपलब्धार्थविषयं विस्मरणमविनष्टज्ञानस्य सतोऽस्य भवति ?, किं वा कारणमात्मनः अव्यक्तबोधत्वे, ज्ञानं नाऽव्यक्तमिष्यते, उपलब्धिस्वरूपत्वाच्च ज्ञानस्य, चैतन्यपर्यायज्ञानात्मकत्वादात्मनो न जातुचिच्छङ्कितेन भवितव्यम्, लोकाऽलोकवर्त्तिनिःशेषद्रव्यपर्यायज्ञातृत्वेनाऽवश्यं भाव्यमात्मना प्रतिसमयमिति । अत्रोच्यते;—ज्ञानात्मत्वे सत्यपि जीवस्य सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि न निरन्तरोपयोगप्रसङ्गः, कथं ? भवाद्भवान्तरं संसरणशीलोऽयमात्मा कर्मवशात् प्रदेशाष्टकमपहाय सर्वप्रदेशेषु ज्वलनज्वालाकलापोपरिष्टाद्वर्त्तमानघटान्तर्गतनीरवच्चलः कृकलाशवत्ससततमेवार्थान्तरेषु परिणामी चिरेणैकस्मिन् द्रव्ये पर्याये वा कथमुपयुज्येत ?, स्वभावादेव च भवस्थजन्तूनां उपयोगस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणोत्कृष्टतः, इत्यादिहेतुभ्यो ज्ञानावारककर्म्मपटलाच्छादितत्वान्न सर्वदावैति चैतन्यलक्षणोऽप्ययं जीवः । यथा प्रकाशमयत्वेऽपि सविता निबिडघनघटाभिभूतमूर्त्तिर्न प्रकाशते स्पष्टं तथाऽयमात्मेत्यवगन्तव्यम् । स्मृतिरपि अत एव नाऽवश्यंभाविनी जायते तस्य कर्मावृतात्मनः, अव्यक्तबोध—संशयाऽ—सर्वद्रव्यपर्यायज्ञानानि च आवरणशीलज्ञाना-

वरणकर्म्मसद्भावादप्युपेयानि, यदा च लब्धिरूपान्तःकरणेन्द्रियऽऽभोगिकाऽनाभोगिकवीर्यसम्पन्नस्याऽऽत्मनो वीर्यपर्याय-करणानुसारि क्षयोपशमस्संजायते तदा यथाक्षयोपशमं ज्ञानमाविर्भवति, संक्लिष्टाध्यवसायेन क्षयोपशमानुकूलवीर्यापगमे च पुनरपि तदेव ज्ञानावारकं कर्म्म आवृणोति सद्यस्तमात्मानम्, प्रागपाकीर्णसैवालानामपामच्छत्त्वमिव, पुरुषकारव्यापारविरामादनन्तरमेव शैवालपटलानि यथा पुनराच्छादयन्ति, यथा वा भस्माद्यनेकद्रव्यैर्घृष्टविमलादर्शतलमागन्तुकश्यामिकामलीमसमाशुजायते, अथवा संमार्जनैः शुद्धप्रासादेऽपि प्रबलपवनोद्धतानि रजांसि वातायनद्वारा समागत्य विशुद्धमपि हर्म्यं कचवरसंपन्नं विदधते तथाऽस्यात्मनो मुहुर्मुहुर्ज्ञानावरणजलधौ निमज्जनोन्मज्जने कुर्वतः स्पष्टः स्पष्टतरः स्पष्टतमः मलीमसः मलीमसतरः मलीमसतमश्च बोधः प्रादुरस्ति, शारदः शशीव यदा सर्वथा निरावरणो ज्ञानावारकत्वादिघातिकर्म्मापेक्षया भवति तदा हस्तामलकवत् निःशेषद्रव्यपर्यायान् जानातीति प्रत्येतव्यम् ॥ ननु निगोदादिषु चेतनालक्षणवत्त्वं जीवस्य कथं जाघटीति ? न दृश्यते तत्र चैतन्यलेशोऽपि, उच्यते;—तत्रापि चेतनाऽवश्यंभाविनी अल्पांशतया, एतच्चाग्रे वक्ष्यामो वयं, तथापि यदि–निगोदप्रभृतिष्वल्पचैतन्येषु स्तोकतमोऽपि ज्ञानांशो न स्यात्तदा जीवा अजीवत्वं प्राप्नुयुः, एवं चाऽऽगमविरोधः, तस्मात् चेतना लक्षणो जीव इति सिद्धम् । जीवस्य यल्लक्षणभेदाद्यात्मकं स्वरूपं तज्जीवतत्त्वम् । १ ।

द्रव्यभावप्राणधारणात्मकं कर्म्मकर्तृत्वादिकं चेतनात्मकं यज्जीवलक्षणमनुपदमेवोक्तं तद्यत्र न घटते सोऽजीवः धर्म्माऽधर्म्माकाशपुद्गलकालात्मको वक्ष्यमाणस्वरूपः यो जीवो न भवति स अजीव इति नञ्समासे पर्युदासो विज्ञेयः, जीवद्रव्यापेक्षयाभिन्नानामपि अजीवद्रव्याणां द्रव्यापेक्षयाऽभिन्नत्वम् ॥ तस्य लक्षणप्रकारात्मकं स्वरूपं तदजीवतत्त्वम् २। पुनाति पवित्रीकरोति

प्राणिनः पापपङ्कादिति पुण्यम्। यैः कर्म्मपुद्गलैर्जीवस्य सातानुभवः संजागते ते कर्माणवः द्रव्यपुण्यसंज्ञकाः, द्रव्यपुण्यनामककर्म्मोत्पत्तौ हेतुभूता जीवस्य ये शुभाध्यवसायास्तद् भावपुण्यमुच्यते ॥ अथवा पुण्यानुबन्ध–पापानुबन्धिप्रकाराभ्यां पुन्यं द्विधा, तत्र पुन्यं भुञ्जानस्य यन्नव्यं शुभकर्म्म बध्यते, यस्योदयेन च पुनः शालिभद्र इव अत्र सुखसंपत्तिं सम्यक्प्रकारेणानुभूय परत्राऽपि सुखमेव भुनक्ति तत्पुन्यानुबन्धिपुन्यं, अस्मिँल्लोके ये दानशौण्डा रिद्धिमन्तः परमपारगतप्रणीतत्रिकालाबाधितवीतरागधर्मं सम्यक्पालयन्त इहभवे शान्तिसाम्राज्यमनुभवन्ति, धर्म्माराधनप्रभावाच्च पुनरागामिभवे स्वर्गादिसुखं भोक्ष्यन्ते, अत्र पुन्यानुबन्धिपुन्यमेव कारणतां भजति, यत् किल शुभमनुष्यादेर्जीवस्य पूर्वभवप्रपञ्चितं कर्म्म मानुष्यत्त्वादिशुभभावानुभवहेतुर्भवति, तदनन्तरं देवादिगतिपरम्पराकारणं च तत् पुन्यानुबन्धिपुन्यमुच्यते इति तात्पर्यार्थः, एतच्च ज्ञानपूर्वकनिर्निदानकुशलानुष्ठानाद् भवति ॥ यस्योदयेन च पुनः ब्रह्मदत्तचक्री इव अमुत्र भवे सुखमनुभूय परत्र नरकत्त्व तिर्यक्त्वादिकं अनुभवति तत् पापानुबन्धिपुन्यम्। यथा आर्यजनपदेऽनार्यदेशे वा एतादृशोऽपि केचन वर्त्तन्ते यदस्मिन् भवे जन्मान्तरोपचितपुन्यविपाकात्मकं लक्ष्मीललनापरिकलितं विषयसुखमनुबोभूयन्ते परं गर्वाध्मातमनसः त्रिपुटीशुद्धदेवगुरुधर्ममश्रद्दधाना देवानांप्रियाः कृतघ्नास्सन्तस्ते दानशीलादिधर्म्मादिकार्यमकुर्वाणा असदाचारप्रवृत्ततया हिंसा-मृषावाद-स्तेय-परदारगामित्त्व–परिग्रहग्रहिलतया पापातिशयं बद्धा नरकादिभवे तीव्रशातनामनुभवन्तो दरीदृश्यन्ते ज्ञानिभिः, अत्र पापानुबन्धिपुन्यस्य हेतुता, अस्मिन्नवतत्त्वप्रकरणे पुन्यानुबन्धिपुन्यमेव सुकृततया ज्ञेयम्, तस्य लक्षणप्रकाराभ्यां स्वरूपं तत्पुन्यतत्त्वमिति ॥ ३ ॥ अपगता निरस्ता सुखानां प्राप्तिर्यत्र तत् पापं, यस्योदयेन जीवो दुःखदौर्भाग्यादिकमनुभवन् दृश्यते तच्च पापस्य विलसितम्। तत्र

प्रत्येक-तत्त्वस्य व्याख्या.

॥ ३ ॥

ज'वस्य दुःखहेतुभूता ये कर्म्मपरमाणवस्ते द्रव्यपापतयाऽभिधीयन्ते, यच्च पुनरशुभकर्म्मण उत्पत्तौ मौलनिमित्तभूता ये संक्लि-
ष्टाऽध्यवसायास्तद् भावपापमुच्यते, एतदपि पुण्यवत् पापानुबन्धि–पुन्यानुबन्धिभेदाभ्यां द्विप्रकारम् । तत्र ये पूर्वविहिताऽ-
शुभकर्म्मणा तत्कर्म्मफलं दासत्त्वादिकमुपभुञ्जाना धीवरशबरादय इहभवे दुःखिता विलोक्यन्ते, परभवेऽपि मत्स्यकपोतप्रभृति-
क्षुद्रजन्तुविघातोपात्ताशुभतमकर्म्माणो वचनाऽगोचरं दुःखमनुभवन्तो दृश्यन्तेतराम्, एतच्च पापानुबन्धिपापमुक्तं मेधाविना
पूर्वोपार्जितकर्म्मणाऽभियोग्यादिदुःखानुबद्धदेहमनसो दुःखेनाजस्रमनुतप्तचेतस्का अशरणास्सन्तोऽपि चेतसि ये एवं चिन्तयन्ति
यदस्माभिर्दुर्लभतरं नरभवमवाप्य किंचिदपि धर्म्माचरणं न विहितं, कृपालेशोऽपि न व्यधायि क्षुद्रप्राणिष्वस्माभिरनेकपापाचरि-
तानि अज्ञानत्वेन कृतानि, अत एवेदानीमवाच्यं दुःखं सह्यते परवद्भिरस्माभिः, इहभवेऽपि यदि करुणाविष्टचेतस्कतया वयं
न किमपि यथाशक्ति सुकृतं विधास्यामो वीतरागप्रणीतविशुद्धधर्म्मशरणं नाङ्गीकरिष्यामस्तदा परत्राऽपि का गतिर्भाविनी माम-
कीना, इत्येवं मनसि निर्धार्य "सह कलेवरखेदमचिन्तयन् स्ववशता च पुनस्तव दुर्लभा, घनतरं च सहिष्यसि जीव रे परवशे न
च तत्र गुणोऽस्ति ते" ॥१॥ इति सूक्तोक्तमर्थं सफलीकुर्वन्तः दरिद्रश्राद्धचंडकौशिकादिवत् भकर्म्मोपार्जनं कुर्वन्ति तत् पुण्या-
नुबन्धि पापम् । अस्मिन्प्रकरणे पुन्यानुबन्धिपापमेवोररीकर्त्तव्यम्, अस्य पापस्य स्वरूपं लक्षणभेदात्मकं तत्पापतत्वम् ।४॥
आसमन्तात् स्रूयते गृह्यते कर्म्म यैस्ते आस्रवाः शुभाऽशुभकर्म्मादानहेतवः । यथा विविधविवरशतसंकुलायां नावि विवरेभ्य उदकं
प्रविशति, जलाक्रान्ता च नौका जलधौ निमज्जति, तथाश्रवविवरशतसंकुलोऽयमात्मा कर्मोदकभराक्रान्तस्सन् अपारसंसार-
पारावारे ब्रुडति । यया क्रिययाऽऽत्मप्रदेशेषु कर्मण आगमनं सा द्रव्याश्रवत्वेनाख्याता, कर्मोपार्जने हेतवो रागद्वेषात्मका

ये विशुद्धाऽविशुद्धाध्यवसाया जीवस्य ते भावाश्रवाः। अस्याश्रवतत्त्वस्य लक्षणभेदात्मकं स्वरूपं तदाश्रवतत्त्वम् ॥ ५ ॥ तथा संवृणोत्याच्छादयत्याश्रवद्वाराणि, अथवा संव्रियन्ते सम्यक्तया निवार्यन्ते समागच्छन्ति कर्माणि यस्मात्स संवरः, तेषामाश्रवाणां गुप्त्यादिभिर्निरोधः स संवर इत्यर्थः, तथाचोक्तम्; “ आश्रवनिरोधः संवरः ” (तत्त्वा० अ. ९. सू. १)। तत्र जीवप्रदेशेषु कर्म्मण आगमनस्य यो निरोधः स द्रव्यसंवरः, कर्म्मण आगमनस्य निरोधे ये आत्मनो विशुद्ध-विशुद्धतर-विशुद्धतमाऽध्यवसायाः स भावसंवरः, यदुक्तं योगशास्त्रे;–“ सर्वेषामाश्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः। स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्यभावविभेदतः ॥ १ ॥ यः कर्म्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः। भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावसंवरः ” ॥ २ ॥ तस्य स्वरूपं तत् संवरतत्त्वम् ॥६॥ नितरामतिशयेन जीर्यन्ते क्षीयन्ते कर्म्माणि यया सा निर्ज्जरा, कर्म्मणां तु विपाकात् तपसा वा यः शाटः सा निर्ज्जराऽथवा, सा सकामाऽकामभेदाभ्यां द्विधा, तत्र वीतरागपारगतगदितो जम्बुद्वीशालिगणधरगुम्फितः श्रीजिनधर्म अवितथ एव इति मन्यमानस्य प्रज्ञावतस्सम्यग्दृष्टेः शुभ-शुभतर-शुभतमाध्यवसायैर्यो कर्म्मणां शाटः सा सकामनिर्ज्जरा। एकमपि जिनागमाऽक्षरं वैपरीत्येन श्रद्दधानस्य मिथ्यादृष्टेर्यः कर्म्मणां परिक्षयः सा अकामनिर्ज्जरा अभिधीयते, उक्तञ्च;—“ संसारबीजभूतानां कर्म्मणां जरणादिह निर्ज्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा कामवर्जिता ॥ १ ॥ ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ” ॥ अस्मिन् प्रकरणे सम्यग्दृष्टेर्या सकामनिर्ज्जरा सैव निर्ज्जरात्वेन गणनीया, यतस्सम्यग्दृष्टिः शुभाध्यवसायपरिणतस्सन् यावत् प्रमाणं कर्म्म परिशाटयति तत्प्रमाणात् नूतनकर्म्मबन्धमतीवाल्पतया विदधाति, अनेन क्रमेण

१ ‘ यमिनाम् ’ इत्यनेन सम्यग्दृष्टयोऽपि ग्राह्याः, न केवलं संयता एव, यतः सम्यग्दृष्टीनां सकामनिर्ज्जरा सिद्धान्ते सुविख्याता।

बहुनिर्जराऽल्पबन्धात्मकेन जीवस्य मोक्षाऽव ः, मिथ्यादृष्टिश्च पुनः अल्पं निर्जरां बहुबन्धं च विधत्ते अत आत्यन्तिककर्म्मक्षयावसरे नास्ति तस्य। पुनः सा निर्जरा द्रव्यभावभेदाद् द्विविधा, कर्म्मण आत्मप्रदेशेभ्यो यद्देशेन निर्जरणं सा द्रव्यनिर्जरा निर्जरायां निमित्तभूता आत्मनो येऽच्छतमाध्यवसायाः सा भावनिर्जरा। अस्य लक्षणभेदात्मकं स्वरूपं निर्जरातत्वम् ॥७॥

मिथ्यादर्शनाऽविरतिकषाययोगैः शुभाऽशुभं कर्म बध्नाति इति बन्धः। पूर्वोक्तस्वरूपैरास्रवैः क्षीरनीरवद्वह्न्ययःपिण्डवद्वाऽऽत्मप्रदेशैः सह प्रकृत्यादिविशेषतो यः कर्म्मणां सम्बन्धः स बन्ध र्थः॥ इदमत्र तात्पर्यम्—प्राग्बद्धं कर्म्म विपाकोदयप्राप्तं सत् तत्सामर्थ्यात्तथाविधाऽध्यवसायवशतः यदि जीवस्तथाविधबन्धनपरिणामपरिणतो भवति ततः कर्म्मवर्गणान्तःपातिनो जीवप्रदेशाऽवगाढाः पुद्गला अपि ज्ञानावरणीयादिकर्म्मरूपतया परिणमन्ते, यदाह;—"जीवपरिणामहेऊ कम्मत्ता पुग्गला परिणमन्ति। पोग्गलकम्मनिमित्तं जीवेऽवि तहेव परिणमइ" ।१॥ इति, अस्य लक्षणभेदात्मकं यत् स्वरूपं तद् बन्धतत्त्वम् ॥८॥ तथा मोक्षयति मोचयति बन्धोदयदीरणासत्तागतेभ्योऽष्टकर्म्मभ्यो जीवमिति मोक्षः कृत्स्नकर्म्मक्षयात् ज्ञानशमवीर्यदर्शनात्यन्तिकैकान्तिकाऽनाबाधनिरूपमसुखात्मके स्थाने आत्मनः अवस्थानं मोक्षः, तस्य मोक्षतत्त्वस्य लक्षणभेदात्मकं स्वरूपं तन्मोक्षतत्त्वमिति ॥९।

पूर्वव्याख्यातेष्वेषु नवतत्त्वेषु कियन्ति जीवस्वरूपाणि कियन्ति चाऽजीवात्मकानि? इति जिज्ञासायां किं द्वेत्रियते, सार्धं मूर्त्ताऽमूर्त्तविभागाः हेयज्ञेयोपादेयविभागा अपि तत्त्वनवकस्य लिख्यन्ते। जीवतत्त्वं जीवेन युक्तत्त्वात् जीवस्वरूपमेव, संवरनिर्जरामोक्षात्मकानि त्रीणि तत्त्वानि जीवगुणानां प्रकाशकत्त्वेन तान्यपि जीवात्मकानि। पुण्यपापाऽऽश्रवबन्धलक्षणानि चत्त्वारि

पुद्गलविकारात्मकानि अतोऽजीवत्वोपेतानि, अजीवतत्त्वं तु अजीवस्वरूपमेवेति जीवाजीवविभागः । मूर्त्ताऽमूर्तविषये जीवः इन्द्रियायतनयुक्तत्वान् मूर्त्तः, अजीवस्तु मूर्त्ताऽमूर्त्तस्वरूपो यत्कतिपयधर्म्माऽधर्म्मादीनि द्रव्याण्यमूर्त्तिमन्ति, पुद्गलाश्च मूर्त्तिमन्तः । पुण्य–पापाऽऽश्रव–बन्धलक्षणानि चत्त्वारि पुद्गलविकारात्मकत्वेन मूर्त्तानि, संवरनिर्जरामोक्षाश्च जीवपरिणामरूपत्त्वादमूर्त्ताः । इति मूर्त्ताऽमूर्त्तविभेदः । तत्त्वनवके जीवाऽजीवौ ज्ञेयौ, नहि जीवाऽजीवयोरादरत्यागौ भवतः । पापाऽऽश्रव-बन्धस्वरूपाणि त्रीणि तत्त्वानि आत्मगुणविघातकत्त्वाद्धेयानि । संवर–निर्जरामोक्षाश्च जीवगुणप्रकाशकत्त्वादुपादेयाः, पुण्यस्य तु सुवर्णशृंखलाबन्धनस्वरूपत्वात् निश्चयनयेन मुमुक्षुणा त्याज्यमेव परं मोक्षमार्गगमनशीलस्य मुमुक्षोःपथि पाथेयमिव हितकरत्त्वादुपादेयमपि ॥

ननु नवतत्त्वेषु प्रथमं जीवतत्त्वं, द्वितीयमजीवतत्त्वं, तृतीयं पुण्यतत्त्वं इत्यादिकः क्रमो निर्हेतुकस्सहेतुको वा ? यदि सहेतुकस्तदा को हेतुः ? उच्यते; सकलतत्त्वावगन्ता, पुद्गलद्रव्याणामादाता आश्रवसंवरादिक्रियाविधाता जीव एव, यावज्जीवस्वरूपं सम्यक्तया न ज्ञायते तावज्जीवविरोधिनोऽजीवस्य–पुण्यपापाश्रवादीनां च नोपपत्तिस्तस्मादादौ जीवतत्त्वम् । जीवस्याऽमुत्र परत्र च गत्यागत्यादिकर्म्मसु अजीवस्वरूपाणां धर्माधर्म्माऽस्तिकायादीनां साहाय्यमृते सामर्थ्यं नास्ति तस्माद्द्वितीयमजीवतत्त्वम् । कर्म्मस्वरूपौ पुन्यपापावजीवात्मकावेव तत्राऽपि पुन्यं शस्तमशस्तं च पापतत्त्वमिति क्रमशः तृतीयतुर्यौ पुन्यपापौ ज्ञेयौ । पुन्यपापयोरपि शुभाऽशुभाश्रवं विना ग्रहणं न जाघटीति ततः पञ्चममाश्रवतत्त्वम् । यत आश्रवेण कर्म्मबन्धो भवति ततः तन्निरोधकेन केनाऽपि तत्त्वेनाऽवश्यं भवितव्यम्, स च संवरः तच्च षष्ठं तत्त्वम् । संवरेण नवकर्म्मसंततिर्यथाऽवरुद्धा

१ संसारिजीवापेक्षयेदम्, सिद्धजीवापेक्षया त्वमूर्त्त एव ॥

तद्वत् पुराणकर्म्मक्षपकं किमपि तत्त्वं वर्त्तते, तच्च निर्ज्जराख्यं सप्तमं तत्त्वम् । आश्रवेण गृहीतानां कर्म्मणां सूच्चीकलापदृष्टान्तेन बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनाप्रकारैरात्मनः साकं यावत्सम्बन्धो न स्यात् तावदुदयद्वारा तस्य फलमपि न संभवेत्, यच्च पुनर्जीवसम्बद्धप्राचीनकर्म्मविनाशकं निर्ज्जरानामकं तत्त्वमस्ति तस्मादात्मना सह कर्म्मसंयोगकारणेन केनाऽपि तत्त्वेन भाव्यमेव, तच्च बन्धनामकमष्टमम् । यदा जीवेन सह कर्म्मसम्बन्धो भवति तदा तस्य कर्म्मण आत्मप्रदेशेभ्यो मोक्षोऽपि संभावनीयः, पुनर्मोक्षस्य सर्वोत्कृष्टतया तदर्थमेव समस्तश्रुतप्रवृत्तिः प्रस्फुरति चातस्सर्वश्रेयसामास्पदं सकलमंगलमणिमाणिक्यमकराकरायमाणं मोक्षनाम्ना सुविख्यातं नवमं तत्त्वम् ॥ ग्रन्थान्तरेषु तत्त्वसप्तकं श्रूयते यथाः–"जीवाऽजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्ज्जरामोक्षास्तत्वम्" इति (तत्त्वा–अ. १. सू. ४) तत्कथं तत्त्वनवकं पुनः पुनः प्रस्तूयते ? सत्यं, तत्वसप्तकं यदस्ति तत्र पुन्यपापतत्त्वयोश्शुभाऽशुभाश्रवरूपत्त्वात् आश्रवे तत्त्वे एव समावेशो व्यधायि वाचकमुख्यैः, एवं च विवक्षया नवानामपि तत्त्वानां जीवाऽजीवात्मकत्त्वात् जीवाऽजीवलक्षणे तत्त्वद्विके निखिलानामपि तत्त्वानामन्तर्भावो संजायते, अतो पूर्वोक्ताऽऽशंका न कर्त्तव्येति ॥ ननु ग्रन्थादौ मध्येग्रन्थं ग्रन्थान्ते च ग्रन्थनिर्मातृभिर्विघ्नव्यूहव्यपोहाऽर्थं शिष्यशिक्षार्थं पूर्वपुरुषपरिपाटीपालनार्थं च मङ्गलमवश्यमेव कर्त्तव्यं, तच्चास्मिन् नवतत्त्वप्रकरणे नाऽऽलोक्यते, तत्र किं बीजम् ? उच्यते;–नमस्काराऽऽशीर्वादवस्तुसंकीर्त्तनात्मकानि त्रिप्रकारकाणि मङ्गलानि तत्तद्ग्रन्थेषु सुतरां व्याख्यातानि, अस्मिन् ग्रन्थे नमस्काराऽऽशीर्वादाऽऽत्मके मंगले दृष्टिपथं नागच्छतः परं वस्तुसंकीर्त्तनाख्यं तृतीयं मङ्गलमत्र वर्वर्त्तते, ततोऽत्र मङ्गलाऽभावप्रकारका विनेयाऽऽशङ्काऽपास्ता 'नायवा' इतिपदेन नवतत्त्वानां स्वरूपमभिधेयम् । प्रयोजनं तु जीवादितत्वानां ज्ञानं सुपरिज्ञाय हेयोपादेयेषु निवृत्तिप्रवृत्ती

विधाय मोक्षमार्गे गमनमेव सुविदितम् । अभिधेयनवतत्त्वानां ग्रन्थस्य च वाच्यवाचकसम्बन्धो जन्यजनकसम्बन्धो वा, नवतत्त्वस्वरूपं जिज्ञासुरत्राऽधिकारीति अनुबन्धचतुष्टयमपि व्याख्यातम् इति ॥ १ ॥

अथ प्रतितत्त्वं कतिभेदात्मकमिति प्रदर्श्यते—

चउदस चउदस बाया-लीसा बासी य हुंति बायाला। सत्तावन्नं बारस, चउ नव भेया कमेणेसिं ॥२

टीका—' चउदसे ' त्ति जीवतत्त्वस्य चतुर्दशभेदाः, अजीवतत्त्वमपि चतुर्दशभेदलक्षणं, द्विचत्वारिंशद्भेदाः पुन्यतत्त्वस्य, पापस्य द्व्यशीतिः, आश्रवतत्त्वं द्विचत्वारिंशद्भेदात्मकं, संवरस्य सप्तपञ्चाशत्, निर्जराया द्वादश, बन्धस्य चत्वारो मोक्षस्य च नव भेदाः क्रमेणैषां ज्ञातव्याः। एवं सर्वसंख्यया षट्सप्तत्यधिकद्विशतभेदा नवानामपि तत्त्वानां सम्मिलितानां भवन्ति, तेषां स्वरूपं प्रतितत्त्वं विस्तरेणाग्रे ग्रन्थकारस्स्वयमेव वक्ष्यति, तथाऽपि प्रागुक्तप्रथमगाथाव्याख्यायां मूलतत्त्वानां यथा जीवाऽजीवमूर्त्ताऽमूर्त्तहेयज्ञेयोपादेयात्मकेषु सप्तविभागेषु भिन्नता प्रदर्शिता तद्वत् तत्त्वभेदानामपि सप्तविभागेषु भिन्नता प्राचीनगाथाभिर्यन्त्रेण च प्रदर्श्यते, तद्यथा;—" धम्माऽधम्माऽऽगासा, तियतिय अद्धा अजीवदसगा य॥ सत्तावन्नं संवर निज्जर दुदस मुत्ति नवगा य ॥ १ ॥ अट्ठासि अरूवि हवइ, संपइ उ भणामि चेव रूवीणं ॥ परमाणुदेसपएसा, खंध चउ अजीवरूवीणं ।२॥ जीवे दस चउ दु चउ, बासी बायालहुंति चत्तारि ॥ सय अट्ठासी रूवी दुसयछसत्त नवतत्ते " ॥ ३ ॥ एतासां गमनिका—धर्म्माऽस्तिकायाऽधर्म्मास्तिकायाऽऽकाशाऽस्तिकायानामजीवस्वरूपाणां स्कंधदेशप्रदेशाख्यैर्विभागैर्नवभेदाः, अद्धा कालः स च दशम इति दश भेदा अजीवस्य, सप्तपञ्चाशत् संवरस्य, द्वादश निर्जरायाः, मोक्षस्य च नवभेदाः मिलितास्सर्वसंख्ययाऽष्टा-

नवतत्त्वभेदप्रतिपादनम्.

शीतिसंख्याका अमूर्त्तभेदाः सञ्जाताः । अथ मूर्त्ताः कतिभेदास्तदुच्यते, पुद्गलात्मकाः परमाणुप्रदेशदेशस्कन्धाश्चत्त्वारोऽजीवस्य, चतुर्दशजीवस्य, द्विचत्त्वारिंशत् पुन्यस्य, द्व्यशीति पापस्य, द्वाचत्त्वारिंशदाश्रवस्य, चत्त्वारि वन्धस्य चेति सर्वसंख्यागणनेन अष्टाशीत्यधिकशतं मूर्त्तभेदानां जातमिति ॥ स्थापना ॥

तत्त्वनाम.	२७६ भेदेषु जीवाऽ-जीववि०	२७६ भेदेषु मूर्त्ताऽ-मूर्तवि०	२७६ भेदेषु हेय-	ज्ञेय-	उपादेयविभागः
जीवतत्त्वम्	१४ – ०	१४ – ०	०	१४	०
अजीवतत्त्वम्	० – १४	४ – १०	०	१४	०
पुन्यतत्त्वम्	० – ४२	४२ – ०	०	०	४२
पापतत्त्वम्	० – ८२	८२ – ०	८२	०	०
आश्रवतत्त्वम्	० – ४२	४२ – ०	४२	०	०
संवरतत्त्वम्	५७ – ०	० – ५७	०	०	५७
निर्ज्जरातत्त्वम्	१२ – ०	० – १२	०	०	१२
वन्धतत्त्वम्	० – ४	४ – ०	४	०	०
मोक्षतत्त्वम्	९ – ०	० – ९	०	०	९
	९२ – १८४	१८८ – ८८	१२८	२८	१२०

प्रागुक्तगाथायां तत्त्वभेदप्रतिपादिकायां जीवतत्त्वस्य संख्यातश्चतुर्दशभेदा उक्ताः, एतत्तु सर्वकृतं परं वर्त्तन्ते जीवा अन्यभेदभिन्ना न वेति शंका व्युदासार्थं ग्रन्थकारस्तावदाह;—

एगविह-दुविह-तिविहा, चउव्विहा पंचछव्विहा जीवा। चेयण तस इयरेहिं, वेयगईकरणकाएहिं ॥३॥

टीका—"एगविहे" त्ति;–पूर्वव्याख्यातद्वितीयगाथायां प्रतिज्ञाता जीवचतुर्दशभेदा अग्रे व्याख्यास्यन्ते, अस्यां तु जीवस्य एकविधत्वं द्विविधत्वमित्यनेन प्रकारेणोल्लिख्यते, तद्यथा;–सर्वे जीवा एकेन्द्रियादारभ्य पञ्चेन्द्रियपर्यन्ताश्चैतन्यात्मकेन लक्षणेन संगताः, यत एतादृङ्नास्ति कश्चिदपि जीवोयश्चैतन्यवियुक्तोऽपि जीवेत्याख्यां बिभर्त्ति, लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियकोटिपतितेऽपि जीवे चैतन्यस्य सूक्ष्मांशतया सर्वदा सद्भावो वर्वर्त्तत इति अग्रे सर्वं स्फुटं भविष्यति। यच्च पुनर्जीवस्य किं लक्षणमिति परिप्रश्ने सति 'चैतन्यलक्षणो जीव' इति लक्षणस्वरूपनिश्चये जाते, यस्य वस्तुनो यल्लक्षणं तल्लक्षणाऽभावे तद्वस्तुनोऽप्यभाव इति जीवचैतन्ययोरन्वयव्यतिरेकिसम्बन्धात् चैतन्ययुक्तो जीव इत्येकप्रकारः॥ अथवा कर्म्मवशवर्त्तिनो ये संसारस्था जीवास्ते त्रसस्थावरभेदाभ्यां विभिन्नास्सन्ति, केचन त्रसनामकर्म्मोदयात्त्रसत्वं भजन्ति, अर्थात् त्रासभयोत्पादकस्थानेभ्यो भीत्वा स्वेच्छया स्थानात्स्थानान्तरं गन्तुं समर्थाः, कतिपयाश्च स्थावरनामोदयात् त्रासभयस्थानकमनुभवन्तोऽपि तत्स्थानात्स्वैरं गन्तुमसमर्थाः स्थावरत्वं भजन्ते, नास्त्येतादृक्कश्चिदपि जीवो यस्त्रसस्थावरभेदाभ्यां बहिर्भूतस्स्यात्॥ अथवा पुरुषवेद स्त्रीवेदनपुंसकवेदात्मकेषु त्रिषु विभागेषु संसारिणो जीवा भिन्नतामनुभवन्ति। तत्र ये दारान् प्रति स्वाभिलाषमाविर्भावयन्ति ते पुंवेदत्वं पिपुरति। ये च जीवा प्रतिपुरुषं स्वेच्छां दधते ते स्त्रीवेदभावं भजन्ते। ये च प्रतिनरं प्रतिनारीं च स्वानुबन्धं

बध्नन्ति ते तु तृतीयाप्रकृतित्वमनुभवन्ति । वेदत्रयबहिर्वर्त्ती कर्माणुपरिकलितो न विद्यते कोऽपि जीवोऽस्मिँल्लोके अथवा केचन जीवा देवगतिभाजः, केचन मनुष्यगतिमनुभवन्तिः, केचन तिर्यग्गत्यां तिर्यक्त्वं भुञ्जानाः, कतिपयाश्च स्वाऽशुभकर्मानुसारेण नरकगत्यामवाप्याऽसह्यगाढदुःखोपेतं नारकपर्यायं बिभ्राणाश्चतुर्गतिविभागेन विभिन्नाः संसारिणो जीवा वर्त्तन्ते इति ज्ञानिना ज्ञानचक्षुषा दृश्यतेऽस्माभिरपि जिनागमात् श्रूयते च ॥ अथेन्द्रियविभागेन जीवाः पञ्चधा विभक्ताः, कतिजीवाः स्पर्शनेन्द्रिययुक्ताः, कतिपयाश्च स्पर्शनेन्द्रिय-रसनेन्द्रिययुगलं धारयन्तः, केचिच्च स्पर्शन-रसन-घ्राणाख्यानि त्रीणीन्द्रियाणि बिभ्राणाः, पूर्वोक्तमिन्द्रियत्रिकं चक्षुरिन्द्रियोपेतं केचनादधन्तः, कतिपयाश्च जन्मान्तरोपार्जितशुभकर्म्मणो जागरूकत्वेन स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्रनामकानि पञ्चान्यपीन्द्रियाणि बिभ्रन्तः सुखं भुञ्जाना जीवा दृग्गोचरा भवन्ति अनन्तसौख्यशालिनः कर्म्मकर्दमशोषणांशुमालिनः सिद्धान् वर्जयित्वा एकेन्द्रियादिपञ्चप्रकारताबहिर्वर्त्तिनो जीवस्य संभवोऽसंभाव्य एव । अथवाऽस्मिन्जगत्तले के पृथ्वीत्वमनुभजमानाः केचन पृथ्वीकायिकाः, अप्त्वं भुञ्जानाः केचनाप्कायिकाः, अग्नित्वं केचनाऽनुभवन्ति अत एवाऽग्निकायिकाः, वायुस्वरूपमनुसरन्तो वायुकायिकाः, वनस्पतित्वं दधन्तः कतिचिद् वनस्पतिकायिकाः (एते पञ्चाऽपि प्रकाराः स्थावरान्तर्गताः) त्रसत्वं भजमानाः त्रसकायिका इत्येवं षोढाऽपि संसारसमापन्नगा जीवास्समाख्याताः ।

ननु द्वितीयगाथायां जीवस्य चतुर्दशभेदाः प्रतिज्ञाताः, अस्यां तु प्रकारान्तरेण जीवा व्यावर्णिताः, तत्कथं संभवति ? सत्यं, पूर्वोक्तगाथायां ये जीवस्य चतुर्दशभेदा व्यावर्णितास्तानग्रे मूलगाथया कथयिष्यन्ति ग्रन्थकर्त्तारः, अत्र तु ये अन्ये भेदा उक्तास्तत्र जीवाश्चतुर्दशप्रकारा एवेति निश्चयाऽभावप्रतिपादनार्थं ते भेदा अभ्यधायिषत । अन्यदपि एतद् ज्ञेयं यद् जीवाः

पूर्वोक्तप्रकारका एवेति न, प्रकारान्तरेण सप्तविधा अष्टविधा त्रिषष्ठ्यधिकपञ्चशतविधा अपि प्रज्ञापनादिग्रन्थेषु सुविख्याताः विस्तरभयादत्र न प्रतन्यते, तत एवावसेयाः ॥ ३ ॥

अथ 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायेनादौ जीवस्य चतुर्दशभेदभिन्नत्वं प्रतिपादयति;—

एगिंदिय सुहमियरा, सन्नियर पणिंदिया य सबितिचउ। अपज्जत्ता पजत्ता, कमेण चउदस जिअट्ठाणा ४

टीका—'एगिंदयत्ति' 'एकेन्द्रियाः–सूक्ष्मेतराः,' सूक्ष्मैकेन्द्रिया बादरैकेन्द्रियाश्चेत्यर्थः, 'संज्ञीतरपञ्चेन्द्रियाश्च' संज्ञिपञ्चेन्द्रिया इतरशब्देनासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च, 'स द्वित्रिचतुः' द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रियसहिताः पूर्वोक्ताश्चत्वारः सम्मिलिताः सप्तभेदा भवन्ति, ते सप्तभेदा अपर्याप्तनामकर्म्मोदयेन अपर्याप्ताः, पर्याप्तनामकर्म्मोदयेन च पर्याप्ता इति पर्याप्ताऽपर्याप्तविभागेन क्रमेण चतुर्दशजीवस्थानानि भवन्तीति गाथाक्षरार्थः। व्यासार्थस्त्वयम्;—अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाः, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाः, पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाः, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाः, अपर्याप्तद्वीन्द्रियाः, पर्याप्तद्वीन्द्रियाः, अपर्याप्तत्रीन्द्रियाः, पर्याप्तत्रीन्द्रियाः, अपर्याप्तचतुरिन्द्रियाः, पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः, अपर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, अपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्चेति जीवस्य चतुर्दशभेदाः। कर्म्मपरमाणुपरिकलिताः संसारस्थास्सर्वे जीवा एषु चतुर्दशभेदेषु अन्तर्गताः। चतुर्दशभेदबहिर्वर्त्ती नास्ति कोऽपि संसारे जीवः। तत्राग्रे वक्ष्यमाणस्वरूपाणां स्वयोग्यानां पर्याप्तीनां समापनं विनैव ये मरणशरणं गतवन्तस्तेऽपर्याप्ता इत्युच्यंते, ये च स्वयोग्याः पर्याप्तीः समाप्यैव पञ्चत्त्वमश्नुवते ते पर्याप्ताः समाख्याताः॥ सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवानां स्वरूपं प्राज्ञपुरन्दरैर्जीवाभिगमादिषु विस्तरेण प्रोक्तं तथाऽपि मन्दमतीनामवबोधाय संक्षेपत एवोल्लिख्यते

किञ्चित्; ये एकेन्द्रियजीवा समुदितास्सन्तोऽपि दृग्गोचरा न भवन्ति केवलं केवलज्ञानशालिनस्सर्वज्ञा एव सर्वपरिच्छेदात्मकेन

केवलज्ञानेन तान् द्रष्टुं सामर्थ्यभाजस्ते सूक्ष्मनामकर्म्मोदयात्सूक्ष्मा इति प्रोच्यन्ते । यद्यप्यत्र जीवशरीरयोरभिन्नत्वाज्जीवाः

समुदिता इत्युदलेखि, परं तत्र सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां समुदितानि शरीराण्यपि दृष्टिपथं नायान्तीत्यवगन्तव्यम्, अन्यथा सिद्धा-

ऽवस्थापन्नेष्वपि जीवेषु दोषप्रसङ्गः । एते सूक्ष्मैकेन्द्रियाः समग्रचतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरंतरं

खचिताः, यावल्लोकैकप्रदेशोऽपि सूक्ष्मजीवविरहितो न भवति, एषां जीवानां सूक्ष्मनामकर्म्मोदयात्सूक्ष्मत्वमस्ति, अतएव केनापी-

न्द्रियेणैतेषां सद्भावज्ञानं छद्मस्थानां न स्यात्, परं केवलाऽऽलोकाऽवलोकितसमस्तलोकवर्त्तिपदार्थानामतीन्द्रियज्ञानिनां न

किञ्चिदप्यगोचरम्, तैश्च केवलज्ञानेन सर्वमपि द्रव्यपर्यायजातमालोक्य तेषां सूक्ष्मजीवानामस्तित्वं प्रतिपादितम्, नहि रागद्वेष-

मोहप्रभृतिप्रबलवैरिवारविजेतारः कदाप्यनृतं ब्रूयुः, अनृतभाषणहेतूनां रागद्वेषमोहानां सर्वथैव तेष्वभावत्वात्, अतएवाऽऽसा-

ह्शैरपि तेषां सूक्ष्मजीवानां सद्भावस्स्वीकर्त्तव्य ॥ ननु ये सूक्ष्मार्थाः चर्मचक्षुर्भ्यां दुर्निरीक्ष्यास्ते सूक्ष्मदर्शकयन्त्रेण कथं

न दृश्यन्ते ? सत्यम्;—सूक्ष्मदर्शकयन्त्रं तु चक्षुषेस्साहाय्यकृत्, अत अन्याऽन्यस्थूलद्रव्याऽपेक्षया ते सूक्ष्मा न तु सूक्ष्मनामो-

दयात् सूक्ष्मास्ते तु सूक्ष्मदर्शकयन्त्रस्य साहाय्येनाधिकतेजोभ्यां चक्षुर्भ्यां विलोक्यन्ते परमेषां तु इन्द्रियातीतविषयत्वात् न

नेत्रगोचरत्वम्, बादरवायुरदृश्यमानोऽपि जागरूकस्पर्शनेन्द्रियद्वारा स्पष्टं विज्ञायतेऽस्तित्वेन, न च सूक्ष्मदर्शकयन्त्रेणालोक्यते,

एवं सूक्ष्मदर्शकयन्त्रेणादृश्यमाना अपि एते सूक्ष्मजीवास्सद्भावतयाङ्गीकर्त्तव्याः ॥ एषु सूक्ष्मसंज्ञकेषु जीवेषु ये पृथ्वीकायिका ये

चाप्कायिकास्तेजस्कायिका वायुकायिकाश्च ते प्रत्येकमसंख्यातास्समुदिता अप्यसंख्याता, ये च सूक्ष्मवनस्पतिकायिकास्ते त्वनन्ताः,

नन्तसूक्ष्मवनस्पतिकायिकजीवानां शरीरमेकं भवति यत् सूक्ष्मनिगोदनाम्ना सूक्ष्मसाधारणशरीरनाम्ना सूक्ष्मानन्तकायनाम्ना चोपलक्ष्यते,तादृशामसंख्यातसूक्ष्मनिगोदानामेको गोलको भवति,तादृशा गोलकाऽस्मिँल्लोकेऽसंख्यातसंख्याकास्सन्ति, यदुक्तम्, " गोला य असंखिज्जा असंखनिगोयओ हवइ गोलो । इक्किक्कंमि निगोए अणंतजीवा मुणेयव्वा " ॥ १ । तथा ये पृथ्वी–जलाग्नि–वायु–वनस्पत्यादयश्चक्षुरादीन्द्रियेणाऽनुभवमायान्ति ते निखिलाऽपि पृथ्वीकायिकादयो बादरा अवगन्तव्याः, तत्र पृथ्वीकायिकाऽप्कायिकाऽग्निकायिकवायुकायिकाश्च जीवाः प्रत्येकमसंख्याताः, ये च बादरवनस्पतिकायिकास्तत्र कन्द–मूलाऽऽर्द्रक–श्रीकृशेवालादयः साधारणशरीरिणोऽनन्ताः, येचाऽऽम्रनिम्बादयो वृक्षा ये च फलजीवास्ते प्रत्येकशरीरिणोऽसंख्यातसंख्याकाः । तथा शंख–कपर्दिका–चन्दनक–कृमिप्रभृतयो जीवा द्वीन्द्रियसंज्ञकाः, एते बादराः किन्तु न सूक्ष्मास्तथाविधसूक्ष्मनामकर्म्मोदयाऽभावात् । एवं त्रीन्द्रियचतुरेन्द्रियादयोऽपि बादरा एवाऽवगन्तव्याः । तेतु ईलिका–पिपीलिका–यूका–मर्कटकघृतेलिकादयस्त्रीन्द्रियाः, भ्रमर–वृश्चिक–मक्षिका–मशकादयश्चतुरिन्द्रियाश्च बोधव्याः, तथा पञ्चेन्द्रियेषु ये जननीजनकयोस्संयोगं विनैव तथाविधजलादिसाधनेनोत्पद्यमाना मण्डूक–सर्प्प–मत्स्यादयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः, मर्त्यानां मलमूत्रादिचतुर्दशाऽशुचिस्थानकेषूत्पद्यमानास्संमूर्च्छिममनुष्यादयश्च ते सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियसंज्ञका ज्ञेयाः, एकेन्द्रियादारभ्य सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियपर्यन्ता निखिला अपि तथाप्रकारकविशिष्टमनोविज्ञानराहित्येन भूतभविष्यत्कालसत्कविचारणाशून्येनाऽसंज्ञिन उच्यन्ते । तथा ये च जीवा मातृपितृसंयोगपूर्वकं गर्भाशये उत्पद्यन्ते ते गर्भजपञ्चेन्द्रियाः, पर्याप्तावस्थायामेते सर्वेऽपि अतीताऽनागताऽद्धासत्कपरामर्शात्मिकदीर्घकालिकीसंज्ञायाः सद्भावेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रोच्यन्ते । एवं लेशतो जीवस्य स्वरूपं प्रदर्शितं, विस्तरस्तु जीवाभिगम–

प्रज्ञापना–लोकप्रकाशादिग्रन्थेभ्यस्समवसेयः । ४ ।

जीवस्य चतुर्दशभेदान्नामतो व्याख्यायाथ जीवलक्षणं प्रतिपादयतिः—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणम् ॥ ५ ॥

व्याख्या;—'नाणं' त्ति, जीवस्य चतुर्दशभेदास्तु वर्णिताः, परमयं जीव इति ज्ञापकं जीवस्य लक्षणवल्लक्षणं किमिति शङ्काव्यपोहार्थमिदमुच्यते। पूर्वंतावत् लक्षणस्य व्याख्या;—लक्ष्यते वस्त्वनेनेति लक्षणमथवाऽसाधारणधर्म्मो लक्षणमिति, अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवदोषाऽपेतं यल्लक्षणं तदेव लक्षणम्। यस्मिन् लक्षणे अव्याप्त्यादयः केचिदपि दोषास्तल्लक्षणं लक्षणकोट्यां न घटते, यथा 'गोः किंलक्षणं?' इति गुरुणाऽनुयुक्ताश्चत्वारोऽन्तेवासिन एवमूचुः, प्रथमस्तावत् गोः कपिलत्वं लक्षणमाह, तत्राऽव्याप्तिदोषः, सिताऽसितवर्णवतीनां तत्राऽप्रवेशात्। द्वितीयस्त्वाह 'शृङ्गित्वं गोर्लक्षणम्, तत्राऽतिव्याप्तिर्महिष्यादीनामपि तत्र प्रवेशात्, एकशफवत्त्वं गोर्लक्षणमिति तृतीयस्योक्तौ असंभवदोपदुष्टत्वं यतो गवामेकशफवत्वस्याऽसंभवः, चतुर्थस्त्वेवमुवाच, सास्नावत्त्वं च गोर्लक्षणम्, तत्र सिताऽसितकपिलादिवर्णभिन्नानां निखिलानामपि गवां समादेशात् गोव्यतिरिक्तोष्ट्रमहिष्यादीनां चाऽप्रवेशात् सर्वासामपि गवां सास्नायास्सद्भावत्वात् अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवदोषवर्जितं लक्षणवल्लक्षणं॥ तथाविधगुणजन्यविशिष्टज्ञानरहितानां जनानां व्यवहिताऽतीन्द्रियगोचरपदार्थावबोधार्थमनुमानमप्यावश्यकम्, यथा कश्चिन्नरः पर्वते वह्निमपश्यन् धूमदर्शनादनुमितिं विदधाति यदत्र वह्निना भाव्यम्, एवमनुमीयमानानां ज्ञानदर्शनादिगुणानामाधारवत्त्वादधिकरणं च विनाऽऽधेयस्यासंभवत्वात् ज्ञानादयो जीवद्रव्याश्रिता गुणत्वाद् रूपवत्। न पृथि-

जीव-लक्षणम्.

व्यादिभूताऽश्रिता ज्ञानादयो गुणाः, प्रत्येकं तेष्वनुपलभ्यमानत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा—सत्वकठिनत्वादि, भूतादिव्यतिरिक्ता जीवद्रव्याश्रिता गुणाः भूताद्यनाश्रितत्वे सति साश्रितत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्। अनेनेत्थं निश्चितिः सञ्जाता यज्ज्ञानादयो जीवस्य लक्षणभूताः। एतेषां ज्ञानादिगुणानां सूक्ष्मनिगोदप्रभृतिषु निखिलेष्वपि जन्तुषु कया रीत्या सद्भावस्तत्परामृश्यते;—अस्मिञ्जगति सर्वे पदार्थास्सामान्यधर्म्म—विशिष्टधर्मोपेताः, तत्रेदं किञ्चिदथवाऽयं घटोऽयं पट इति किञ्चित्व घटत्व—पटत्व-विशिष्टो यः पदार्थधर्म्मः स सामान्यधर्म्मः, तत्रेदंकिञ्चिदिति आकारवर्जितं पदार्थभानं नैश्चयिकार्थाऽवग्रहप्राधान्येन दर्शनमेव गण्यते, उपलक्षणाद् व्यंजनाऽवग्रह ईहा च दर्शनरूपेति। 'अयं घटः' इत्यत्र यद्यपि घटत्वविशिष्टनैश्चयिकाऽपायेन ज्ञानमेव, परं व्यावहारिकार्थाऽवग्रहाऽपेक्षया दर्शनत्वेनाऽप्युररी क्रियते। तथा अयं घट एव स च शुक्लादिवर्णोपेतस्सुवर्णमयः पाटलिपुत्रे निर्मित इत्याकारको विशिष्टधर्म्मोपेतो यो पदार्थावबोधस्तज्ज्ञानमुच्यते, एवं द्रव्यस्य सामान्याऽवबोधस्तद्दर्शनं, पदार्थविशिष्टाऽवबोधात्मकञ्च ज्ञानम्। अथवा पदार्थसामान्यधर्म्मसत्कोपयोगस्तद्दर्शनं, पदार्थविशिष्टधर्म्मसत्कोपयोगस्तज्ज्ञानम् निराकारोपयोगात्मकं दर्शनं, साकारोपयोगात्मकञ्च ज्ञानं एते सर्वे समानार्थाः। इत्येवं दर्शनज्ञानगुणावात्मनो मुख्यधर्म्मौ। अल्पतया विशिष्टतया वैते गुणा जीवमृते नान्यत्र स्तः, प्राणिमात्रवर्त्तिन्या विज्ञानशक्त्यैवाऽयं जीव इत्युपलक्ष्यते। एते दर्शनज्ञाने लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमादौ कृत्वा पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियं यावत् यथाक्षयोपशमं सकलेष्वपि जन्तुष्ववश्यं भवतः। न च पृथ्वीजलाऽग्निवायुप्रभृतिष्वेकेन्द्रियेषु प्रत्यक्षं विज्ञानशक्तेरनुपलभ्यमानत्वात्तस्या अभाव इति वाच्यम्। यथा-पथ्यादिभिर्मूर्छितमूर्त्तिमतो मर्त्यस्याव्यक्तचैतन्यमस्त्येव, एवं प्राग्भवोपात्तनिबिडकर्मोपाधिव्याहतचैतन्येष्वेकेन्द्रियादिष्वपि

अव्यक्तविज्ञानशक्तिविद्यमानता वरीवर्त्ति, अयं चैतन्यांशोऽस्माभिः कर्म्मपाशाऽवगुण्ठितः प्रत्यक्षं नानुभूयते परं केवल-
ज्ञानबलावलोकितलोकत्रिकैस्सर्वज्ञपरमेश्वरैस्तेषु चैतन्यांशो प्रत्यक्षं दरीदृश्यते, आगमेऽप्युक्तं;—" सव्वजीवाणंपि अ णं अक्खर-
रस्स अणंतमो भागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा " ॥ तस्मात् प्रतिजीवं
स्तोकतया वैपुलतया सम्पूर्णतया वा ज्ञानदर्शनगुणाववश्यं भवत इति निश्चेतव्यम् । तथाऽशेषछद्मस्थजीवेषु पूर्वं
सामान्यबोधात्मको दर्शनोपयोगस्ततो विशिष्टावबोधस्वरूपो ज्ञानोपयोग उत्कृष्टतया प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तकालिकश्च, क्षपित-
घातिकर्म्मणां सर्वज्ञानां निःशेषदोषापेतानां सिद्धानाञ्च प्रथमो ज्ञानोपयोगस्ततो दर्शनोपयोगः प्रत्येकं समयमात्रकालि-
कश्चेति ॥ तथा ज्ञानेन वस्तुधर्म्मं सम्यक्परिज्ञाय दर्शनेन च श्रद्धानं विधाय जीवाऽजीव–पुन्यपापाऽऽश्रवसंवरादिषु हेयोपा-
देयात्मिका आत्मनो या प्रवृत्तिस्तदेव चारित्रम्, उक्तञ्च तत्वार्थभाष्ये;—' विरतिर्नाम ज्ञात्वाभ्युपेत्याकरणं " अथवा मोहम-
छपराजिता अत एव नानाविधवधबन्धनादेशातनामनुभवन्ते जन्तवस्तमपराधिनं मोहं विजेतुं मद्गुरूपदेशतो लघुकर्म्माणस्सन्तः
पञ्चमहाव्रतद्वादशाणुव्रताद्यात्मकं कवचं पिधाय दुर्जय्यमपि तं सुभटाग्रेसरं येन विशिष्टगुणेन पराजय्य केवललक्ष्मीमनुभवन्ति
तदेव चारित्रम्, चरति आत्मा मोक्षे गच्छति येन तच्चारित्रमिति हृदयम् । ज्ञानदर्शनवदिदं चारित्रमपि लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मै-
केन्द्रियप्रभृतिषु समग्रजीवेषु स्वस्वक्षयोपशममाश्रित्य अल्पांशतया बह्वंशतया वाऽवश्यं विद्यते, तत्राऽक्षपितमोहनीयकर्म्मणो
ये छद्मस्थास्तेषामनन्ततमांशप्रमाणं चारित्रमस्ति, अयमनन्ततमांशोऽपि पृथक्पृथक् जीवानाश्रित्य तारतम्यभाग् विद्यते,

१ अर्शोऽङ्कुरादिदृष्टान्तजन्यानुमानेन तु अस्माभिरपि विज्ञायते ॥

यथा सूक्ष्मनिगोदस्य प्रथमसमये यो चारित्रस्याऽनन्ततमांशस्तदपेक्षयाऽन्यसूक्ष्मनिगोदस्यानन्ततमांशो विवक्षितसूक्ष्मनिगोदजीवस्य चारित्रांशाद् अनन्तगुणः, एवमन्यत्रापि यथायोगं भावनीयम् । ये च पुनः क्षपितमोहनीयकर्म्माणः केवलिनस्सिद्धाश्च तेषां संपूर्णं चारित्रं वर्त्तते, एवं सर्वजीवानां चारित्रगुणयुक्तत्वात्, चारित्रस्य विना जीवमनन्याऽऽधारत्वात् चारित्रमपि जीवस्य लक्षणम् ॥ ननु "सर्वे जीवाश्चारित्रगुणोपेता" इति कथनं न सम्यग् जाघटीति, यतो देशविरतिनामकं पञ्चमगुणस्थानं यैरद्यावधि नाऽलाभि ते मिथ्यादृष्टयोऽथवा सूक्ष्मनिगोदप्रभृतिजीवा येऽप्रत्याख्यानावरणाऽनन्तानुबन्धिस्वरूप सर्वघातिकषायोदयवन्तस्तेषां जीवानां चारित्रगुणस्याविर्भावो लेशतोऽप्यसंभाव्य एव, यावत्कालं जीवा अनन्तानुबन्धिकषायोदयभाजस्तावत्सम्यक्त्वमपि न लभन्ते तदा चारित्रस्य का वार्त्ता ? पुनर्यदि सूक्ष्मनिगोदादयो मिथ्यादृष्टयश्चाऽपि लेशतश्चारित्रगुणोपेतास्तर्हि देशविरत्याख्यपञ्चमगुणस्थानवर्त्तिनः श्राद्धा एव विरताऽविरताः कथमुच्यन्ते ? हि भवदुक्त्या तु पञ्चमगुणस्थानपर्यन्तं सर्वजीवा देशतश्चारित्रगुणसहितास्तस्मान्निखिलजन्तुषु चारित्रं कथं संभवेत् ? सत्यं; परं विचारणीयास्पदमेतत्, यतः सर्वघातिकषायोदयवतामपि जीवानां कतिचिच्चारित्रपर्याया अनावृता एव, यथा निबिडघनघटावृतेऽह्नि सवितू रश्मयो न दृश्यन्ते परं रश्मिगताल्पप्रभायुक्तत्वात् तद्दिनेन सर्वथाऽन्धकारमयेन न भूयते, यदि दिनस्यात्यल्पप्रभासङ्गतत्वं न स्यात्तदा दिनत्रियामयोर्भेदोऽपि न भवेत् । एवं श्रद्धापूर्वको यमनियमव्रतादिग्रहणात्मको निवृत्तिप्रवृत्तिरूपो वा चारित्रगुणस्तेषु सूक्ष्मनिगोदप्रभृतिषु न वर्वर्त्तते परमव्यक्ताऽतिस्तोककषायमन्दतात्मकं चारित्रं विद्यते एव, अनन्तानुबन्ध्यादिसर्वघातिकषायास्सर्वोत्कृष्टा भवेयुस्तथाऽपि कतिपयचारित्रपर्यायाणां निरावरणीयत्वात्

प्रतिज्ञेवमव्यक्तचारित्रं निःशङ्कम् । तदुक्तं श्रीकर्म्मप्रकृतिमहाशास्त्रे;—" वीरियंतरायकेवलदंसणमोहणीयणाणवरणाणं । असमत्तपज्जएसु सव्वदव्वेसु उ विवागो " ॥ १ ॥ अस्या गमनिका—वीर्यान्तराय—केवलदर्शनावरणाऽष्टाविंशतिविधमोहनीयपञ्चविधज्ञानावरणानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां असमस्तपर्यायेषु सर्वद्रव्येषु सर्वजीवद्रव्येषु विपाकः । तथा हि;—इमा वीर्यान्तरायादयः पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयो द्रव्यतस्सकलमपि जीवद्रव्यमुपघ्नन्ति, पर्यायांस्तु न सर्वानपि, यथा मेघैरतिनिचिततरैरपि सर्वात्मनान्तरितयोस्सूर्याचन्द्रमसोर्न तत्प्रभा सर्वथाऽपनेतुं शक्यते, उक्तञ्च;—" सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पहा चंदसूराणं " त्ति, तथाऽत्राऽपि भावनीयमिति " । तथा इच्छाया निरोधस्तदेव नैश्चयिकं तपः, अथवा इच्छानिरोधस्य यदभ्यासात्मकं हेतुस्वरूपं चिह्नस्वरूपं वा यदनशनादिसेवनं तदपि व्यवहारेण तपः प्रकीर्त्यते, यद्वाऽष्टप्रकारकं कर्म्म तापयतीति तपः, उपोषणोनोदरताप्रभृतिव्यवहारतपस अभ्यासेनेच्छानिरोधात्मकं नैश्चयिकं तपः प्राप्यते, अत एव व्यवहारतपो नैश्चयिकतपसश्चिन्हमस्ति हेतुस्वरूपं वा । यथा सर्वमिष्टान्नपानसामग्रीपरिकलितः कश्चित् परमार्हद्भक्तस्तां पुण्यलभ्यां सामग्रीमविगणय्याऽऽचाम्लचतुर्थभक्तषष्ठाष्टमादिप्रत्याख्यानं कुरुते तस्मादनुमितिस्संजायते यदस्यात्मा इच्छानिरोधात्मकतपोगुणोपेतः । अयं तपोगुणस्सर्वज्ञस्य क्षपितमोहनीयवीर्यान्तरायकर्म्मणस्संपूर्णतया विद्यते, यतस्तपसः प्रादुर्भावो मोहनीयवीर्यान्तरायक्षय—क्षयोपशमाभ्याम् अन्येषां तु निजनिजक्षयोपशमानुसारेण न्यूनाधिकतया वर्त्तते, ननु सर्वज्ञानां साकल्येन तपस आविर्भावस्तदा निःशेषैरपि केवलिभिरनाहारकैर्भवितव्यम् । मैवम्, दग्धघातिकर्म्मेन्धनास्सर्वज्ञा आहारमाहाराऽभिलाषवर्जिताः सन्तो न गृह्णन्ति, अभिलाषोत्पादककर्मणस्तेषामभावात्, केवलमौदारिकशरीरनिर्वाहार्थमेवाऽऽहारमादत्ते, देशनादिकर्म्माणि कायबलस्योपबृंहकत्वा-

त्कायबलोपबृंहस्य चाहारपरतन्त्रत्वात्, न चैवमाहारमुपादीयमाने तपोगुणस्य हानिप्रसङ्गः, तपसस्तु इच्छानिरोधात्मकेन लक्षणेन भूयमानत्वात्, व्याधिग्रस्तेन गृह्यमाणकटुकौषधवत् इति ॥ इत्थमिदं तपोऽपि ज्ञानचारित्रादिगुणवत्सूक्ष्मनिगोदादिष्वपि प्रागव्यावर्णितयुक्त्याऽस्त्येव, तस्मादयं तपोगुणोपि जीवस्य लक्षणं, जीवं विहाय न कुत्रचित्प्रवर्त्तते तपः ॥ तथा वीर्यमपि जीवस्य लक्षणम्, तत्र वि–विशेषेण ईरयति प्रेरयति आत्मानं तासु तासु क्रियासु तद् वीर्यमुच्यते, वीर्यं, उत्साहः, बलं, स्थाम, पराक्रमः, शक्तिरिति पर्यायाः, इदं वीर्यं द्विधा, करणवीर्यं, लब्धिवीर्यं च, तत्र मनोवाक्कायाऽऽलम्बनेन प्रवर्त्तमानं वीर्यं करणवीर्यमुच्यते, ज्ञानदर्शनचारित्रोपयोगेषु प्रवर्त्तमानमात्मनस्स्वाभाविकं वीर्यं लब्धिवीर्यं कथ्यते । यद्वाऽऽत्मनि शक्तित्वेन सम्भूतं यद्वीर्यं तल्लब्धिवीर्यं, तस्याश्शक्तेर्हेतुभूतं मनोवाक्कायात्मकं साधनं तत्करणवीर्यम् । इदं करणवीर्यं सकलसयोगिसंसारिणां भवति, लब्धिवीर्यं तु वीर्यांतरायस्य क्षयोपशममाश्रित्य छद्मस्थजीवानां न्यून–न्यूनतर–न्यूनतमाऽधिकाऽधिकतराऽधिकतमाद्यसंख्यप्रकारकं भवति, केवलिनां सिद्धिसौख्यशालिनां च वीर्यान्तरायस्य समूलक्षयेण संपूर्णतया लब्धिवीर्यं विद्यते, इदं वीर्यं सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवेऽपि अनन्ततमांशेन विद्यते, तस्मात् प्रतिजीवं वीर्यस्याऽल्पाऽधिकतया संपूर्णतया वाऽवश्यं सद्भावाद्वीर्यस्य च जीवं विनाऽनन्याऽऽधारत्वाद् वीर्यमपि जीवस्य लक्षणम् ॥ ननु वीर्यपर्यायस्वरूपा शक्तिस्तु पुद्गलेऽपि विलोक्यते, यतस्समयमात्रेण परमाणुः लोकान्ताल्लोकपर्यन्तं यावद्गन्तुं समर्थः, शक्तिश्च वीर्यपर्यायितया समाख्याता, तत्कथं वीर्यं जीवस्यैव लक्षणम् ? उच्यते;–शक्तिस्तु केनाऽपि प्रकारेण प्रतिद्रव्यं विद्यते, किञ्चिदपि द्रव्यमेतादृङ् नास्ति यस्मिन् कस्याश्चित्शक्तेरपि पर्युदासः । अत्र तु योग–उत्साह–पराक्रमात्मिका शक्तिरिष्यते, तथाविधायाश्च शक्तेः पर-

माणुष्वसंभवः, अतो वीर्यं जीवस्यैव लक्षणं, न तु परमाण्वात्मकपुद्गलद्रव्यस्याऽपि ॥ तथोपयोगोऽपि जीवस्य लक्षणत्वेन व्याख्यातः, स च द्वादशधा, तद्यथा–पञ्चविधं ज्ञानं, त्रिविधमज्ञानं, चतुर्विधं दर्शनं, तत्र पञ्चविधज्ञानत्रिप्रकारकाऽज्ञानात्मकोऽष्टविधस्साकारोपयोगः, चतुर्विधदर्शनात्मको निराकारोपयोगश्च एवं साकारनिराकारलक्षणेषु द्वादशसूपयोगेषु यथासंभवं जीवोऽवश्यं वर्त्तते, अयमुपयोगो जीवस्य मूलगुणत्वेनाऽऽख्यातः, यदा स उपयोगस्साकारादिविशेषणविशिष्टस्तदा ज्ञानं, निराकारविशेषणयुक्तस्तदा दर्शनमिति कथ्यते, इत्येवं लेशतः प्रदर्शितानि ज्ञान–दर्शन–तपो–वीर्य–उपयोगात्मकानि जीवस्य लिङ्गानि सत्तापेक्षया निखिलेष्वपि जीवेषु संपूर्णतया वर्त्तन्ते, तथाऽपि कर्म्मपरमाणुपरिकरपरिकलितानां संसारिणां तु अल्पाऽधिकतयाऽऽविर्भूतानि सन्ति, सिद्धानां साकल्येन प्रादुर्भूतानि भवन्ति ॥ ५ ॥

पूर्वप्रपञ्चितगाथया जीवस्य लक्षणं व्याख्याय याभिर्जीवाः पर्याप्ता अपर्याप्ता वोच्यन्ते तत्पर्याप्तिस्वरूपप्रदर्शनपूर्विकां, ‘ एकेन्द्रियादिजीवानां कतिपर्याप्तयो वर्त्तन्ते ’ तत्प्रतिपादिकां गाथामाह;—

आहार–सरीर–इंदिय, पज्जत्ती आणपाण–भास–मणे ।
चउ–पंच–पंच–छप्पिय, इग–विगलाऽ–सन्नि–सन्नीणं ॥ ६ ॥

टीका—‘ आहार ’ त्ति; घण्टालालान्यायेन मध्यवर्ती ‘ पज्जत्ती ’ शब्द आहारादिपदैरानप्राणादिपदैश्च सह प्रत्येकं सम्बन्धनीयः, तद्यथा;–आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, आनप्राणपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिश्च ननु पर्याप्तिशब्दस्य कोऽर्थः ? इत्याशङ्कायामुच्यते;–आयुषः क्षयानन्तरं विवक्षितभवान्निर्गत्य यस्मिन् भवे जन्तुस्समुत्पद्यते तत्राऽऽ-

३

भवपर्यन्तं जीवन निर्वाहार्थमाहारग्रहणाद्या आवश्यकक्रियास्तेनाऽवश्यं विधेयाः, तत्तत् क्रियार्थं समुपजायमाना या शक्तिस्सैव 'पर्याप्तिः'। पुनर्जीवेषु याश्शक्तय उत्पद्यन्ते ता पुद्गलद्रव्योपचयस्याऽऽलम्बनेनैवोत्पद्यन्ते, यतस्संसारिजीवानां सर्वे पौद्गलिकव्यापाराः पुद्गलसंघातस्याऽऽलम्बनेनैव भवन्ति, यद्यपि जीवस्य शक्तिस्स्वतंत्राऽपरिमिता च, परं सा तु सिद्धिवधूसङ्गशालिनां सिद्धानामेव, अपौद्गलिका च सा आत्मसाक्षात्कारस्वरूपा, भवस्थानां तु पौद्गलिका, यदुक्तं कर्म्मप्रकृतौ:—"द्रव्यनिमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते" अतस्तत्शक्त्युत्पत्तौ निमित्तभूतो यः पुद्गलोपचयस्सोऽपि कारणे कार्यस्य व्यपदेशेन पर्याप्तित्वेन व्याख्यायते, अनेनैव हेतुना च पर्याप्तयोऽपि पुद्गलसंघातस्वरूपाः प्रोच्यन्ते ॥ तत्त्वार्थभाष्ये तु "पर्याप्तिः क्रियापरिसमाप्तिरात्मनः" तत्तच्छक्तौ निमित्तभूतपुद्गलसमूहसत्क क्रियाया या परिसमाप्तिस्सा पर्याप्तिरित्यर्थः। एवं शक्तिः, शक्तौ हेतुभूतः पुद्गलोपचयः समाप्तिश्चेति पर्याप्तिशब्दस्य त्रयोऽर्थाः ॥ बृहत्संग्रहण्यादिग्रन्थेषु तु पर्याप्तिशब्दः सामर्थ्यविशेषार्थत्वेन व्याख्यातः, तच्च सामर्थ्यं पुद्गलद्रव्योपचयजन्यम्। उत्पत्तिस्थानमागतेन जीवेन प्रथमसमयगृहीता ये पुद्गलास्तेषां तत्प्रथमसमयगृहीतपुद्गलसम्बन्धेन तत्स्वरूपप्राप्तानां द्वितीयादिप्रतिसमयगृह्यमाणपुद्गलानाञ्चाऽऽहारादिस्वरूपाणां खलरसादिपरिणमने या शक्तिस्सा पर्याप्तिः, यथोदरवर्त्तिन्या तथाप्रकारकतैजसादिपुद्गलशक्त्या गृहीताऽऽहारादिपुद्गलाः खलरसादिरूपतया परिणम्यन्ते, तथैव प्रथमसमयादिगृहीतपुद्गलानां तथाविधा या शक्तिस्सैव पर्याप्तिरित्यर्थः ॥ बृहत्संग्र-

१ प्रतिसमयमाहारग्रहणं, सप्तधातूनां रचना, इन्द्रियद्वारा स्वस्वविषयोपादानं, श्वासोच्छ्वासग्रहणविसर्जनं, संभाषणं, मानसिकास्तर्का इति षट्कार्याण्यवश्यं कर्त्तव्यानि इति ॥

हण्यां तु—" आहारसरीरइंदिय—ऊसास वओ मणोऽभिनिव्वत्ति, होइ जओ दलियाओ करणं पइ सा उ पज्जत्ती " । १ ॥ अस्या गमनिका—" आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासवचोमनसामभिनिर्वृत्तिरभिनिष्पत्तिर्यतो दलिकाद्दलभूतात् पुद्गलसमूहात्तस्य दलिकस्य स्वस्वविषये परिणमनं प्रति यत् करणं शक्तिरूपं सा पर्याप्तिः" इत्यनया व्याख्ययाऽऽहारादिपरिणमनक्रियायां करणत्वेनाऽपि पर्याप्तिः प्रदर्शिता ॥ अथ नामग्राहं पर्याप्तिर्व्याख्यायते;—तत्र जीवः पुद्गलोपचयालम्बनेन समुत्पन्नया यया शक्त्या बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः १, पुद्गलोपचयाऽऽलम्बनसमुत्पन्नया यया शक्त्या जीवो रसीभूतमाहारं रसाऽसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुस्वरूपेण परिणमय्य शरीरं रचयति सा शरीरपर्याप्तिः २, पुद्गलोपचयालम्बनजन्येन येन सामर्थ्यविशेषेण रसादिसप्तधातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३, अयमर्थः प्रकारान्तरेणाप्यन्यत्रोक्तः, " पञ्चानामिन्द्रियाणां प्रायोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वाऽनाभोगनिर्वर्तितेन वीर्येण तद्भावनयनशक्तिः [तान् पुद्गलान् इन्द्रियस्वरूपेण परिणमयितुं सामर्थ्यं] सा इन्द्रियपर्याप्तिः" । संग्रहण्यां तु "जीवो यया धातुरूपतया परिणमितादाहारादेकस्य द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां पञ्चानां वेन्द्रियाणां प्रायोग्यानि द्रव्याण्युपादायैकद्वित्र्यादीन्द्रियरूपतया परिणमय्य स्वस्वविषयेषु परिज्ञानसमर्थो भवति सेन्द्रियपर्याप्तिः " । जीवः पुद्गलसमूहाऽऽलम्बनसमुत्पन्नया यया शक्त्या पुनरुच्छ्वासयोग्यपुद्गलानादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वास पर्याप्तिः ४, जीवः पुद्गलनिचयाऽऽलम्बनसमुपजातेन येन शक्तिविशेषेण भाषाप्रायोग्यपुद्गलानादाय भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः ५ । जीवः पुद्गलोपनिचयजातया यया शक्त्या पुनर्मनोयोग्यपुद्गलद्रव्यानादाय मनस्त्वेन परिणम-

स्याऽऽलम्ब्य च विसृजति सा मनःपर्याप्तिः ६ ॥ तत्त्वार्थभाष्ये वृत्तौ च–पर्याप्तिपञ्चकमङ्गीकृतं न षट्कम्, मनःपर्याप्तेरिन्द्रियपर्याप्त्यन्तर्गणनात्त्वात्, इन्द्रियं बाह्यं करणं, मनस्त्वन्तःकरणमिति, व्याख्याऽपि प्रकारान्तरेणैव विहिता, तच्चैवम्;—(भाष्यम्)॥ पर्याप्तिः पञ्चधा, तद्यथा—आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, प्राणापानपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिरिति, पर्याप्तिः क्रियापरिसमाप्तिरात्मनः॥ व्याख्या ॥ पर्याप्तिः पञ्चविधेत्यादि, पर्याप्तिः पुद्गलरूपा—आत्मनः कर्त्तुः करणविशेषः, येन करणविशेषेणाहारादिग्रहणसामर्थ्यमात्मनो निष्पद्यते तच्च करणं यैः पुद्गलैर्निर्वर्त्यते ते पुद्गला आत्मनात्तास्तथाविधपरिणतिभाजः पर्याप्तिशब्देनोच्यन्ते इति सामान्येनोद्दिष्टम् । पर्याप्तिं नामग्राहं विशेषेण निर्दिदिक्षन्नाह–' तद्यथेत्यादि ' आहारग्रहणसमर्थकरणपरिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः, शरीरकरणनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियकरणनिष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः, प्राणापानावुच्छ्वासनिश्वासौ तद्योग्यकरणनिष्पत्तिः प्राणापानपर्याप्तिः, भाषायोग्यपुद्गलग्रहण(परिणमनालम्बन)विसर्गसमर्थकरणनिष्पत्तिर्भाषापर्याप्तिः, यथोक्तं—" आहारसरीरइंदिय, ऊसासवउमणोभिनिवत्ति । होइ जओ दलियाओ करणं पइ सा उ पज्जत्ति " ॥ १ ॥ इति शब्द इयत्ताप्रतिपादनार्थः ॥ ननु च षट् पर्याप्तयः पारमर्षप्रवचनप्रसिद्धाः कथं पञ्चसङ्ख्याका इति, उच्यते;–इन्द्रियपर्याप्तिग्रहणादिह मनःपर्याप्तेरपि ग्रहणमवसेयमतः पञ्चैवेति निश्चयः, ननु च शास्त्रकारेणाऽनिन्द्रियमुक्तं मनः, कथमिन्द्रियग्रहणात् गृह्यते तदित्युच्यते, यथा शब्दादिविषयग्राहीणि साक्षाच्चक्षुरादीनि, न तथा मनः, सुखादीनां पुनस्साक्षाद्ग्राहकं मनोऽसंपूर्णमिन्द्रियमित्यनिन्द्रियमुक्तं, इन्द्रलिङ्गत्वानुभवात्तु भवत्येवेन्द्रियमिति ॥ तत्राहारपर्याप्तिनिरूपणायाह;–(भाष्यम्) शरीरेन्द्रियवाङ्मनःप्राणापानयोग्यदलिकद्रव्याहरणक्रियापरिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः

प्राणापानयेश्चाऽऽगमप्रसिद्धवर्गणाक्रमेण यानि योग्यानि दलिकद्रव्याणि
॥ व्याख्या ॥ शरीरस्येन्द्रियाणां वाचो मनसः करणविशेषः, अत्र च मनोग्रहणात् परिस्फुटमिन्द्रियग्रहणेन
तेषामाहरणक्रिया ग्रहणमादानं तस्याः परिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः : शरीरपर्याप्तिः, संस्थापनं
मनसोऽप्युपादानमिति (भाष्यम्) गृहीतस्य शरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्तिः शरीरपर्याप्तिः, संस्थापनं
रचना घटनमित्यर्थः ॥ व्याख्या ॥ सामान्येन गृहीतस्य योग्यपुद्गलसंघातस्य शरीरेपाङ्गतया संस्थापनक्रिया विरचन-
क्रिया तस्याः पर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः शरीरवर्गणायोग्यपुद्गलप्रतिनियता च रचना इत्यर्थः ॥ (भाष्यम्) त्वगादीन्द्रियनि-
र्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः ॥ व्याख्या ॥ त्वगिति स्पर्शनेन्द्रियं तदादीन्द्रियं स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-
श्रोत्र-मनोलक्षणं तत्स्वरूपनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः ॥ (भाष्यम्) प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्यग्रहण(परि-
णमनाऽऽलम्बन)निसर्गशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः ॥ व्याख्या ॥ प्राणापानावुच्छ्वास-
निश्वासक्रियालक्षणौ, तयोर्वर्गणाक्रमेण योग्यद्रव्यग्रहणशक्तिः सामर्थ्यं तन्निर्वर्त्तनक्रियासमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः। (भाष्यम्)
भाषायोग्यद्रव्यग्रहण(परिणमनाऽऽलम्बन)निसर्गशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिः ॥ व्या-
ख्या ॥ अत्रापि वर्गणाक्रमेणैव भाषायोग्यद्रव्याणां ग्रहणनिसर्गौ, तद्विषया शक्तिः सामर्थ्यं तन्निर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिर्भाषा-
पर्याप्तिरिति ॥ (भाष्यम्) मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहण (परिणमनाऽऽलम्बन)निसर्गशक्तिनिर्वर्त्तनक्रियापरिसमा-

---

१ आहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिषु ग्रहणपरिणमनलक्षणक्रियाद्वयम्, प्राणापानभाषामनःपर्याप्तिषु च ग्रहणपरिणमनाऽऽलम्बननिसर्ग-
लक्षणक्रिया चतुष्कं, यत्रनिसर्गस्तत्राऽऽलम्बनमावश्यकं, धन्वजीवाऽऽकर्पणा देवदिति ॥

प्तिर्मनपर्याप्तिरित्येके ॥ व्याख्या ॥ मनस्त्वयोग्यानि–मनोवर्गणायोग्यानि मनःपरिणामप्रत्यलानि यानि द्रव्याणि तेषां ग्रहणनैसर्गसामर्थ्यस्य निर्वर्त्तनक्रियापरिसमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरिति " [श्री तत्त्वार्थवृत्तिः, अष्टमाध्यायः] ॥

पूर्वोक्तपर्याप्तिषट्कमध्ये यस्य जीवस्य यति पर्याप्तयस्तासां पर्याप्तीनां युगपदेव प्रारम्भो जायते, समाप्तिस्तु क्रमेण भवति। यत आहारादीनां पर्याप्तीनां पुद्गलाः क्रमशः सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमपरिणामवन्तः, तच्चैवम्–आहारपर्याप्तेः शरीरपर्याप्तिस्सूक्ष्मपुद्गलद्रव्योपचयघटितत्त्वात् सूक्ष्मा, ततोऽपीन्द्रियपर्याप्तिस्सूक्ष्मतरपुद्गलसमूहरचितत्त्वात् सूक्ष्मतरा, तस्या अपि विशेषसूक्ष्मतरपुद्गलनिचयरचनात्मिका प्राणापानपर्याप्तिः सूक्ष्मतमा, एवमग्रेऽपि परिभावनीयम्। यथा स्थूलसूत्रकर्तिका सूक्ष्मसूत्रकर्त्तिकाऽपेक्षया झटिति सूत्रं कर्त्तयति, सूक्ष्मसूत्रकर्त्तिका सूक्ष्मतरसूत्रकर्त्तिकापेक्षया शीघ्रं सूत्रं निर्मिमीते एवमत्रापि द्रष्टव्यमिति तत्त्वार्थभाष्यवृत्तावुल्लिखितम्। एवमुपपातक्षेत्रमागतो जीवो युगपदेव स्वयोग्यपर्याप्तिरचनां प्रारभते, तत्राऽऽहारपर्याप्तिस्तु प्रथमे समये एव निष्ठामुपयाति शेषास्त्वन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालेन समाप्तिं गच्छन्ति, तद्यथा—आहारपर्याप्तिः समाप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेन शरीरपर्याप्तिर्निष्ठामेति, शरीरपर्याप्त्यनन्तरमिन्द्रियपर्याप्तिरन्तर्मुहूर्त्तेन पूर्णतां याति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तेन प्राणापानपर्याप्तिः, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तेन भाषापर्याप्तिः, ततो भाषापर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालेन मनःपर्याप्तिः, सर्वासामपि समाप्तिकालोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः ॥ अयं पूर्वोक्तः क्रम औदारिकशरीराऽपेक्षया व्यावर्णितः, वैक्रियाऽऽहारकशरीरिणां तु औदारिकशरीरिवत् आहारपर्याप्तिः प्रथमे समये एव निष्ठामियर्त्ति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तेन शरीरपर्याप्तिः समाप्तिमेति, ततस्समयमात्रेणेन्द्रियपर्याप्तिस्ततस्समयमात्रेण प्राणापानपर्याप्तिः, ततस्समयमात्रेण मनःपर्याप्तिः परिसमाप्तिं याति, श्री भगवत्यादौ तु देवानां भाषामनः-

पर्याप्ति-स्वरूपम्

पर्याप्त्योः समकालमेव समाप्तिरभिहिता, अनया विवक्षया तयोरेकत्वमाश्रित्य सुराणां पञ्चपर्याप्तयो व्याख्याताः ॥ आसां-पर्याप्तीनां मध्ये एकेन्द्रियाणां प्रथमाश्चतस्रः पर्याप्तयो भवन्ति, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरेन्द्रियलक्षणानां विकलेन्द्रियाणां मनःपर्याप्तिं विना पञ्चपर्याप्तयो वर्त्तन्ते, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि प , संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तु षट् पर्याप्तयस्सन्ति निजनिज-भवयोग्यपर्याप्तीः समाप्तिं नीत्वा ये जीवाः पञ्चत्वं प्राप्नुवन्ति ते पर्याप्ताः, ये च स्वकीयभवप्रायोग्याः पर्याप्तीर्न समापयन्ति, प्रागेवाऽऽयुषः क्षयेण मरणमभ्युपयते ते अपर्याप्ताः ॥ इमौ पर्याप्ताऽपर्याप्तनामानौ द्वौ भेदौ लब्धिकरणाभ्यां पुनर्द्विप्रकारकौ, एव जीवाः पर्याप्ताऽपर्याप्तापेक्षया चतुर्भेदभिन्नास्सञ्जाताः, तद्यथा लब्ध्यपर्याप्ताः १ करणाऽपर्याप्ताः २ लब्धिपर्याप्ताः ३ करणपर्याप्ताश्च ४ । तत्र ये जीवाः स्वयोग्यपर्याप्तीनां समापनात् प्रागेवाऽवश्यं म्रियन्ते, न तु स्वयोग्यपर्याप्तीस्समापयन्ति ते लब्ध्यपर्याप्तसंज्ञकाः, यथैकेन्द्रियाणां चतस्रो भवप्रायोग्याः पर्याप्तयस्तत्र ये एकेन्द्रिया आहारशरीरेन्द्रियाख्यास्तिस्रः पर्याप्तीर्विरचयन्ति, परं प्राणापानपर्याप्तिसमापनात् प्रागेव पञ्चतामियन्ति ते लब्ध्यपर्याप्तका भावनीया एवं द्वीन्द्रियादिष्व-प्यूह्यम् ॥ ये च जीवाः पर्याप्तनामकर्म्मोदयेन स्वयोग्यपर्याप्तीः समाप्तिं नीत्वैव कालं कुर्वते ते लब्धिपर्याप्ता उच्यन्ते यैः पुनर्जीवैः स्वयोग्यपर्याप्तयस्समाप्तिं नीताः ते करणपर्याप्ताः, अथवा मतान्तरेण इन्द्रियपर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरं सर्वेऽपि करण-पर्याप्ताः । यैश्च जीवैरद्यावधि निजभवप्रायोग्यपर्याप्तयस्समाप्तिं न नीता इति वर्त्तमानकालाऽपेक्षया विचार्यमाणा जीवाः करणाऽपर्याप्ताः कथ्यन्ते । अस्मिन्ने भङ्गे केवलं वर्त्तमानाऽवस्था एव द्रष्टव्या, भविष्यत्काले लब्धिपर्याप्ताः स्युः लब्ध्य-पर्याप्ता वा स्युर्नास्ति तद्विचारणाऽत्र ।

अथ लब्ध्यपर्याप्तादिभेदचतुष्के परस्परं संवेधश्चिन्त्यते–तद्यथा यो लब्ध्यपर्याप्तः स करणापर्याप्तोऽपि भवति, यो लब्धिपर्याप्तस्स करणपर्याप्तः करणाऽपर्याप्तोऽपि वर्त्तते, यः करणपर्याप्तस्स लब्धिपर्याप्त एव भवति, यः करणाऽपर्याप्तः स लब्धिपर्याप्तो लब्ध्यपर्याप्तो वा विद्यते, एवं परस्परं संवेधो विचारणीयः ॥

अथ प्रतिभेदं कालमानमाह;–लब्ध्यपर्याप्तस्य भवप्रथमसमयादारभ्याऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं कालमानमुक्तं, यतो लब्ध्यपर्याप्तस्यान्तर्मुहूर्त्तादधिकमायुरेव नास्ति । लब्धिपर्याप्तस्य तु भवप्रथमसमयादारभ्याऽऽभवपर्यन्तं यावन्निजाऽऽयुपस्समापनं तावत्प्रमाणं कालमानम् । करणाऽपर्याप्तस्य तु भवप्रथमसमयादारभ्याऽन्तर्मुहूर्त्तं यावत् कालप्रमाणं, यतस्ततोऽनन्तरं लब्धिपर्याप्तो भवति लब्ध्यपर्याप्तो वा । करणपर्याप्तस्यत्वन्तर्मुहूर्त्तन्यून निजायुपस्समाप्तिपर्यन्तं कालप्रमाणम् ॥

ये च जीवा लब्ध्यपर्याप्तास्तेऽपि आहार–शरीरे–न्द्रियलक्षणा स्तिस्रः पर्याप्तीः समाप्यैव कालं विदधति । यतो भवाद्भवान्तरं जिगमिषवो जीवाः पारभविकमायुरबद्ध्वा न भवान्तरं संक्रामन्ति, आयुर्बन्धश्चेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तिमृते न भवत्येवेति ॥

ननु कति जीवाः पूर्वोक्तप्रकारेण स्वयोग्यपर्याप्तिभिरपर्याप्ता एव म्रियन्ते, केचन च निजप्रायोग्यपर्याप्तीः समाप्य म्रियन्ते, तत्र को हेतुः ?; उच्यते–यैर्जीवैर्गतजन्मनि पर्याप्तनामकर्म्म उपार्जितं ते तु पर्याप्तनामकर्म्मोदयेन स्वयोग्यपर्याप्तीनां निष्ठां विदधति, यैश्च जीवैर्गतजन्मनि अपर्याप्तनामकर्म्म बद्धं ते निजभवप्रायोग्यपर्याप्तीनां समाप्तिं न कुर्वन्ति ॥

१. अस्यां संवेधचिन्ताया स्वस्वयोग्यनिखिलपर्याप्तिपरिसमाप्तिलक्षणं करणपर्याप्तत्त्वमवसेयम्, न तु इन्द्रियपर्याप्तिसमाप्तिलक्षणं मतान्तरीयमिति ।

ननु पर्याप्तलब्धिरपर्याप्तलब्धिर्वा कथं नामकर्मजन्या मन्तव्या ? यस्मात् पर्याप्तीनां पूर्णतायामपूर्णतायां वा दीर्घमल्पं वाऽऽयुरेव निमित्तं, दीर्घे चायुषि सति पर्याप्तीनां समाप्तिर्भवेत्, अल्पे च सति समाप्त्यभावः, ततः किं नामकर्मप्रभवा पर्याप्तिसमाप्तिरुत दीर्घाऽल्पायुर्जन्या ? सत्यम्, पक्षिणामुड्डयने यथा पवमानः, चक्षुषां दर्शनक्रियायां यथा प्रकाशः, मत्स्यानाञ्च तरणक्रियायां यथा जलमवश्यं साहाय्यकृत् परं पक्षिचक्षुःप्रभृतीनां स्वशक्त्या विना वाय्वादेसद्भावेऽपि उड्डयनादिक्रिया न संभवन्ति, एवं पर्याप्तीनां पूर्णतायामपूर्णतायां वा आयुरपि सहकारिकारणत्वेनेष्टं क्रियते, परं प्राधान्येन तु पर्याप्तापर्याप्तनामकर्मणी एव निमित्ते स्त इति ॥ अथ समाप्तिं गताः पर्याप्तयः किं कार्यं विदधति इति परिप्रश्ने उत्तरमुच्यते—जीव आहारपर्याप्तिलक्षणया शक्त्या प्रतिसमयमाहारग्रहणात्मिकां क्रियां कुरुतेऽथवा गृहीतमाहारं खलरसादिसप्तधातुरूपतया परिणमयति, शरीरपर्याप्तेः समाप्त्या तज्जन्यसामर्थ्यविशेषेण काययोगात्मिकां चेष्टां कर्त्तुं धावनवल्गनादिक्रियायां, लोमाहारेण कवलाऽऽहारेण वाऽऽत्तान् पुद्गलान् शरीरतया परिणमयितुंश्च जीवस्समर्थो भवति, इन्द्रियपर्याप्तिपूर्णताजन्यशक्तिविशेषेण इन्द्रियद्वारा इन्द्रियगोचरं तं तं विषयं बुध्यते जीवः, प्राणाऽपानपर्याप्त्यापर्याप्तो जीवः प्राणाऽपानयोग्यदलिकानादाय तान् दलिकान् प्राणाऽपानतया परिणमय्याऽवलम्ब्य चोच्छ्वासनिश्वासत्वेनोत्पादयति, तथा भाषापर्याप्तिपर्याप्तेषु जीवेषु भाषणात्मकं वाग्बलमुत्पद्यते। मनःपर्याप्तिपरिनिष्ठया च जीवश्चिन्तनात्मकं मनोबलं प्राप्नोतीति ६॥

इत्येवं प्राक्तनगाथायां पर्याप्तिषट्कस्वरूपं कस्य जीवस्य कतिपर्याप्तयो भवन्ति चेति व्याख्यायाऽस्यां गाथायां जीवस्य बाह्यलक्षणात्मकान् पूर्वोक्तपर्याप्तिभिश्च निष्पन्नान् प्राणान् व्याचिख्यासुराह;—

पणिंदियत्तिबलूसा—साऊद पाण चउ सग अट्ठ इगदुतिचउरिंदीणं, असन्निसन्नीण नव दस य ।७

व्याख्याः—'पणिंदय'त्ति पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शन—रसन—घ्राण—चक्षुः श्रोत्रलक्षणानि, 'तिवल' इति त्रीणि बलानि मनोवल-वाग्वल-कायवलस्वरूपाणि, उच्छ्वासः, आयुश्चेति दश प्राणाः संसारोदरवर्त्तिजीवबाह्यलक्षणात्मकाः, तेपु च यथासंख्यं चत्त्वारः षट् सप्त अष्टौ प्राणाः क्रमेणैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां भवन्ति, असंज्ञि—संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाञ्च क्रमेण नव दश च प्राणा वर्त्तन्ते इति गाथाक्षरार्थः॥

विस्तरार्थस्त्वयम्;—"इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा" (पाणि० अ. ५. पा. २ सू. ९३) इति सूत्रेण इन्दनादिन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गं करणेन कर्त्तुरनुमानादिन्द्रियशब्दनिष्पत्तिः। आत्मनो विज्ञानोत्पत्तौ यानि प्रकृष्टमुपकारकाणि तान्येवेन्द्रियाणि, तानि च स्पर्शन—रसना—घ्राण—चक्षुः—श्रोत्रलक्षणानि पञ्चधा, तान्यपि द्रव्य-भावभेदाभ्यां द्विधा, तत्र द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्त्युपकरणभेदाद् द्विविधं, पुनरपि निर्वृत्तिराभ्यन्तरबाह्यभेदाद् द्विधा। तत्र कर्म्मणा निर्वर्त्त्यत इति निर्वृत्तिः, उत्सेधाङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनाऽवस्थिता याऽऽभ्यन्तरा स्वस्वविषयज्ञानसमर्था वृत्तिः सा आभ्यन्तरनिर्वृत्तिद्रव्येन्द्रियमित्युच्यते। तेष्वात्मप्रदेशेषु वर्धकीसंस्थानीयेन पुद्गलविपाकिना निर्म्माणनाम्ना आरचित अङ्गोपाङ्गनाम्ना च निष्पादित इन्द्रियव्यपदेशभाक् कर्णशष्कुल्यादि-विशेषो यः प्रतिनियतसंस्थानस्तद् बाह्यनिर्वृत्तिद्रव्येन्द्रियमुच्यते आभ्यन्तरबाह्यभेदभिन्नायास्तस्या एव निर्वृत्तेर्येनोपकारो विधीयते तदुपकरणम्। तच्चोपकरणमिन्द्रियकार्यजनकं, तदुपकरणमप्याभ्यन्तरबाह्यभेदाद् द्विप्रकारकं, तत्राऽभ्यन्तरोपकरणेन्द्रियं

चक्षुषः कृष्णशुक्लमण्डलं, बाह्यमुपकरणेन्द्रियं पत्रपक्ष्मद्वयादि ज्ञेयम् । एवं शेषेष्वपि संभावनीयम् । सत्यामपि बाह्याऽऽभ्यन्तर-भेदभिन्नायां निर्वृत्तौ उपकरणेन्द्रियस्योपघातान्न जीवो द्रष्टुं पारयति ॥ भावेन्द्रियमपि लब्ध्युपयोगभेदाद् द्विधा, तत्र ज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमानुसारिणीन्द्रियद्वारा स्वस्वविषयग्राहिणी या शक्तिस्तल्लब्धिद्रव्येन्द्रियमिति कथ्यते, तथा जीव इन्द्रियद्वारा स्वस्वविषयग्रहणक्रियायां प्रवर्त्तते तदुपयोगभावेन्द्रियमुच्यते । पूर्वोक्ता ज्ञानदर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमानुसारिणी लब्धिस्तु प्रतिजीवेषु युगपदेव प्रवर्त्तते, परं विषयाऽवबोधरूपो व्यापारस्तु प्रतिसमयमेकेनैवेन्द्रियेण भवति, अत उपयोगाऽपेक्षया एको जीवो विवक्षितैकेन्द्रियोपयोगवानेव वर्त्तते, अथवा ज्ञानदर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमलक्षणा लब्धिस्तु सर्वेष्वप्येकेन्द्रियप्रभृतिषु जीवेषु वर्त्तते, परं द्रव्येन्द्रियं कस्यचिदेकं, कस्यचिच्च द्वे, इति जातिनामकर्म्मानुसारेण भवति, अतो लब्धीन्द्रियापेक्षया सर्वे जीवा पञ्चेन्द्रियलब्धिभाजः । द्रव्येन्द्रियाऽपेक्षया एकेन्द्रिया द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च, उपयोगेन्द्रियाऽपेक्षया त्वेकेन्द्रियाश्च भवन्ति ॥ अथेन्द्रियाणां स्थानं कुत्र कुत्र विद्यते तच्चिन्त्यते:—तत्र स्पर्शनेन्द्रियस्थानं सकलं शरीरं, सर्वस्मिन् देहे बाह्यभागोऽभ्यन्तरभागश्चाऽऽभ्यन्तरस्पर्शनेन्द्रियपुद्गलयुक्ताऽऽत्मप्रदेशैर्व्याप्तो भवतीत्यर्थः ॥ तथा मुखे बाह्यनिर्वृत्तीन्द्रियस्व-रूपाया जिह्वा दृश्यते तस्यां जिह्वायामुपरिष्टादधस्ताच्चाऽऽभ्यन्तररसनेन्द्रियपुद्गलयुक्ताऽऽत्मप्रदेशैरुपेतमङ्गुलस्यासंख्यातभाग-प्रमाणस्थूलमेकं प्रतरं (प्रस्तटं वा) वर्त्तते, अनेनैव प्रतरस्वरूपेन्द्रियद्वारा जीवो मधुरतिक्तादिरसं ज्ञातुं समर्थो भवति । तथा नासिकायामुपरिवर्त्तिसुपिरभागेऽङ्गुलाऽसंख्येयभागमात्रस्थूलमाभ्यन्तरघ्राणेन्द्रियपुद्गलयुक्ताऽऽत्मप्रदेशैस्सहितं स्थानं वर्त्तते येन स्थानविशेषेण गंधविषयं ग्रहीतुमलंभवति जीवः तथा चक्षुषि कनीनिकान्तः अङ्गुलाऽसंख्येयभागपरिमिताऽऽभ्यन्तर

चक्षुरिन्द्रियपुद्गलयुक्ताऽऽत्मप्रदेशैस्सहिता या आकृतिरस्ति तच्चक्षुरिन्द्रियस्थानं, कनीनिकायां सत्यामपि तस्या अभावे नहि द्रष्टुं शक्तो भवति जीवः ॥ तथा कर्णपर्पटिकायामन्तःसुषिरभागेऽङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणाऽऽभ्यन्तरश्रोत्रेन्द्रियपुद्गलयुक्ताऽऽत्मप्रदेशैरुपेता या आकृतिर्वर्त्तते तच्च श्रोत्रेन्द्रियस्थानम्, अनेनैव स्थानेन जीवश्शब्दादिकं शृणोति, इत्येवं बाह्यतो दृश्यमानानि त्वग्-जिह्वा-नासिका-चक्षुः-श्रोत्राणि स्वयं-इन्द्रियस्वरूपाणि न, किन्तु पूर्वोक्ततत्तदाभ्यन्तरेन्द्रियाधाररूपाणीति विज्ञेयम् ॥ अथ बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदभिन्नानां पञ्चानामपीन्द्रियाणामाकृतिरुच्यते;—तत्र पूर्वमाभ्यन्तरेन्द्रियाऽऽकृतिः कथ्यते;—निजनिजशरीरप्रमाणाऽऽकारवत्त्वान्नानासंस्थाना स्पर्शनेन्द्रियाऽऽकृतिः, रसनेन्द्रियाऽऽकृतिः क्षुरप्रसंस्थाना, घ्राणेन्द्रियं कलम्बुकापुष्पसंस्थानम्, चक्षुरिन्द्रियं मसूराकारकं, श्रोत्रेन्द्रियं तु कदम्बपुष्पाकारकं भवति। एता आकृतय आभ्यन्तरेन्द्रियाणां ज्ञेयाः, ताश्च सर्वजीवेषु समानाः ॥ बाह्येन्द्रियाणां तु भिन्नभिन्नप्रकारकाणि संस्थानान्यवगन्तव्यानि ॥

इदानीमाभ्यन्तरेन्द्रियाणां दीर्घत्वं-पृथुत्वं स्थूलत्वञ्च लिख्यते, तद्यथा;—स्वस्वशरीरप्रमाणायता, पृथुत्वेनाऽपि स्वशरीरप्रमाणाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागमात्रस्थूला स्पर्शनेन्द्रियाऽऽकृतिः। तथा दीर्घत्वेन पृथुत्वेन चाऽङ्गुलपृथक्त्वप्रमाणाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागस्थूला रसनेन्द्रियाऽऽकृतिः। घ्राणेन्द्रियाकृतिश्च दीर्घत्वेन पृथुत्वेन स्थूलत्वेन चाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागपरिमिता। एवं चक्षुःश्रवणेन्द्रियाकृतिरपि अङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणा दीर्घत्व-पृथुत्व-स्थूलत्वैश्च वर्तते इति ॥ अधुनेन्द्रियाणां विषयाः विषयग्रहणञ्च क्षेत्रं प्रदर्श्यते। द्रव्यवर्त्तिनः स्निग्ध-रूक्ष-शीत-उष्ण-मृदु-कर्कश-गुरु-लघुलक्षणा अष्टसंख्याकाः स्पर्शाः स्पर्शनेन्द्रियगोचरा भवन्ति, तान् स्पर्शानुत्कृष्टतो नवयोजनेभ्य आगतान् द्रव्यान्तरैरप्रतिहतशक्तिकान् जानाति न परतोऽ-

प्यागतान् । परत आगतानां मन्दपरिणामवत्त्वात् ॥ पदार्थवर्त्तिनस्तिक्त–कटु–कषाया–ऽम्ल–मधुरलक्षणाः पञ्चरसा रसनेन्द्रियविषया वर्त्तन्ते, तेऽपि उत्कर्षतो नवयोजनेभ्य आगता एव विज्ञायन्ते न परत आगताः । पुद्गलस्थितौ सुगन्ध-दुर्गन्धलक्षणौ गन्धौ घ्राणेन्द्रियगोचरौ, तावपि उत्कर्षतो नवयोजनेभ्य आगतावेव परिच्छिद्येते । तथा पुद्गलवर्त्तिनश्शुक्ल-कृष्णरक्तादयो वर्णाः पुद्गलस्थितप्रतिनियतसंस्थानानि च चक्षुरिन्द्रियस्य विषयत्वेनेररीक्रियन्ते, चक्षुरिन्द्रियमुत्कर्षतः सातिरेकाद् योजनशतसहस्रादारभ्य कटकुड्यादिभिरव्यवहितानस्पृष्टान् दूरस्थितान् अभास्वरपुद्गलान् पश्यति, भास्वरचन्द्र-सूर्यादयस्तु अनेकलक्षयोजनादपि दृश्यन्ते ॥ तथा सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदभिन्नाश्शब्दाः श्रोत्रेन्द्रियगोचराः, ते च शब्दा उत्कर्षतो द्वादशयोजनेभ्य आगताश्च श्रूयन्ते न परतस्समागताः, परत आगतानां तेषां मन्दपरिणामवत्त्वात्, तथाहि;–परत आगताः खलु ते शब्दपुद्गलास्तथास्वाभाव्यान्मन्दपरिणामास्तथोपजायन्ते येन स्वविषयं श्रोत्रज्ञानं नोत्पादयितुमीश्वराः, श्रोत्रेन्द्रियस्याऽपि च तथाविधमद्भुततरं बलं न विद्यते येन परतोऽप्यागतान् शब्दान् शृणुयादिति ॥ जघन्यविषयग्रहणक्षेत्रं तु नयनवर्ज्जश्रोत्रादीनां प्राप्तविषयपरिच्छेदकत्वात् अङ्गुलाऽसंख्येयभागपरिमितं, ततोऽङ्गुलाऽसंख्येयभागादप्यागतं शब्दा-दिद्रव्यं परिच्छिद्यते, नयनश्चाऽप्राप्तकारीति तद् जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागादव्यवहितं परिच्छिनत्ति; अयमत्राऽऽशयः;–जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमात्रे व्यवस्थितं पश्यति न तु ततोऽर्वाक्तरम् । प्रतिप्राणिप्रसिद्धश्चायमर्थः, तथा च नातिसन्निकृष्ट-मञ्जनरजोमलादिकं चक्षुः पश्यतीति, उक्तञ्च;–"अवरमसंखेज्जंगुलभागतो नयणवज्जाणं । संखेज्जंगुलभागे नयणस्स" इति ॥

१ पुष्करार्धक्षेत्रवर्त्तिमनुष्यापेक्षयेदम् ।

अस्मिँल्लोके कर्णेन्द्रियसंख्या सर्वाल्पा, ततश्चक्षुरिन्द्रियसंख्या विशेषाधिका, ततो घ्राणेन्द्रियसंख्या विशेषाधिका, ततो रसनेन्द्रियसंख्या विशेषाधिका, ततोऽपि स्पर्शनेन्द्रियसंख्याऽनन्तगुणा इति ॥ पुनर्ये संज्ञिजीवास्ते तु इन्द्रियेण तत्तद्विषयं गृहीत्वा मनोद्वारा एव विषयस्वरूपं जानन्ति, परं मनस्साहाय्यं विना संज्ञिजीवानां केवलेनेन्द्रियेणैव विषयावबोधो न संजायते। इतरेषामसंज्ञिनां तु मनस्साहाय्यं विनैव केवलमिन्द्रियद्वारा एव विषयज्ञानं सञ्जायत इतीन्द्रियस्वरूपम् ॥

अथ मनोबलनामा षष्ठः प्राणो व्याख्यायते;—येन द्रव्यविशेषेण संज्ञिजीवाश्चिन्तनात्मकं व्यापारं कर्तुं प्रभवन्ति तन्मन उच्यते, एतन्मनो मनोवर्गणागतपुद्गलद्रव्यैर्निष्पद्यते, पुनरेतन्मनो गर्भजानामौपपातिकदेवनारकाणाञ्च वर्त्तते नान्येषाम्। एतच्च मनो द्रव्यभावभेदात् द्विविधम् ॥ तत्र मनःपर्याप्तनामकर्म्मोदयेन काययोगद्वारा मनोयोग्यपुद्गलद्रव्यान् आदाय चिन्तनात्मकव्यापारप्रवृत्तमनोयोगेन तान् मनोयोग्यपुद्गलद्रव्यान् चिन्तन—मननव्यापारसाधनतया परिणमय्याऽवलम्ब्य च विसृजति ते पुद्गला एव द्रव्यमनस्त्वेन प्रोच्यन्ते, तथा चोक्तं श्रीनन्द्यध्ययनचूर्णौ;—मणपज्जतिनामकम्मोदयतो जोग्गे मणोदव्वे घेत्तुं मणत्तेण परिणामिया दव्वा दव्वमणो भन्नइ"त्ति ॥ द्रव्यमनोरूपपुद्गलसमूहस्याऽऽलम्बनेन जीवस्य यश्चिन्तनात्मको व्यापारस्तद् भावमनः कथ्यते, तदुक्तं श्रीनन्द्यध्ययनचूर्णौ—" मणदव्वालंबणो जीवस्स मणवावारो भावमणो भन्नइ " त्ति ॥ अतो द्रव्यमनसा विना विशिष्टभावमनो न घटते, भावमनसा विना द्रव्यमनस्तु केवलिनां घटते ॥ दिगम्बरास्त्वेतत् पूर्वोक्तं द्रव्यमनः अष्टदलपद्माकारकं हृदयस्थं मन्यन्ते, परं तन्न समीचीनम्। यत एकदेशस्थमनःकरणेन सर्वात्मप्रदेशेषूपयोगप्रवृत्तिर्न संभवति, उपयोगप्रवृत्तिस्तु सर्वाऽऽत्मप्रदेशेषु विलोक्यते, ततो मनसः एकदेशस्थितिकल्पनाऽकल्पनीया, यच्च पुनः

सुखदुःखाद्यनुभवलक्षणं मनोज्ञानं सर्वाऽऽत्मप्रदेशेषु संजायते, यच्च सर्वबाह्याऽऽभ्यन्तरदेहव्यापिस्पर्शनेन्द्रियेण सर्वप्रदेशेषु स्पर्शज्ञानं प्रादुर्भवति तदपि सर्वात्मप्रदेशव्यापिना मनसा विना न संजायत इति, तस्मान्मनस एकदेशस्थितिकल्पनमयुक्तम् ॥ द्रव्य-भावात्मकस्य द्विप्रकारकस्याऽपि मनसो व्यापारस्तन्मनोबलम् ॥

अथ सप्तमो वचनबलाऽऽख्यः प्राणः;—भाषापर्याप्तिनामकर्मोदयेन काययोगद्वारा भाषाप्रायोग्यपुद्गलद्रव्यान् आदाय भाषात्वेन परिणमय्याऽवलम्ब्य च वाग्योगेन या विसर्जनशक्तिस्तद्वचनबलमुच्यते, अथवा शब्दोच्चारणलक्षणा जीवस्य या शक्तिस्तदपि वाग्बलं प्रकीर्त्यते। इयं पूर्वोक्तस्वरूपा भाषा जीवभाषात्वेन भण्यते, अजीवद्रव्योत्पन्ना अव्यक्तशब्दलक्षणा भाषा अजीवभाषात्वेन कथ्यते। द्विप्रकारकाऽपीयं भाषा पुद्गलद्रव्यसंघातनिष्पन्ना। तार्किकास्तु शब्दं नभोगुणत्वेन ख्यापयन्ति तन्न युक्तम्, यतो वायुना ऊह्यमाना, धूम्र इव संह्रियमाणा, जलमिव द्वारं प्रति अनुस्रियमाणा, वायुरिव गुहादिषु प्रतिस्खल्यमाना विविधक्रियालक्षणा भाषा प्रत्यक्षमनुभूयते, विशिष्टाः क्रियाश्च विना पुद्गलद्रव्यं न भवन्ति, अत एव भाषा पुद्गलद्रव्यनिष्पन्ना मूर्त्तिमती च, नभस्त्वक्रियममूर्त्तश्च, ततो द्विधाऽपि भाषापुद्गलविकारजा, परं न नभोगुणरूपा। प्रथमे समये जीवो भाषापुद्गलानादत्ते, द्वितीये च समये तान् भाषायोग्यपुद्गलान् भाषात्वेन परिणमय्याऽवलम्ब्य च विसृजति, एवञ्च एकसमयात्मिका भाषायाः स्थितिः, सततभाषणात्मकप्रवाहापेक्षया तूत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावदपि स्थितिः। पुनर्जीवो यद्दिग्सन्मुखो वक्ति तस्यां दिशि स्थिता अन्ये श्रवणलब्धिभाग्जीवास्तां वक्तृमुखनिसृतां मूलभाषां शृण्वन्ति, मूलभाषापुद्गलैश्च वासितामपि शृण्वन्ति, परं शेषासु दिक्षु स्थिता जीवा मूलभाषापुद्गलद्रव्यैर्वासितामेव भाषां शृण्वन्ति न मौलाम्। एते भाषा-

पुद्गला वक्तृमुखमादौ कृत्वा लोकान्तं यावत् स्पृशन्ति इति जीवभाषास्वरूपम् ॥ अजीवभाषास्वरूपं तु पुद्गलपरिणामव्याख्याऽवसरे व्याख्यास्यामो वयमिति वचनबलसंज्ञकः सप्तमः प्राणः ॥

अथ कायबलं वर्ण्यते;—शरीरद्वारा वस्तुग्रहणविसर्जनाद्यात्मको यो जीवस्य व्यापारः, अथवा शरीरस्य या शक्तिस्तत् कायबलमुच्यते, तच्च शरीरमौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्म्मणभेदेन पञ्चधा। तत्रौदारिकशरीरप्रायोग्यपुद्गलद्रव्यैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरम्, अथवा रसाऽसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुभिर्निष्पन्नं यच्छरीरं तदौदारिकम् अथवा तीर्थकर-गणधर-चक्रि-वासुदेवप्रभृतीनामुदारगुणवतां महात्मनां यच्छरीरं तदौदारिकमुच्यते। विविधप्रकारकाः क्रियाः कर्तुं समर्थं यच्छरीरं तद्वैक्रियं, यतोऽनेन शरीरेण जीवः कदाचिद् गगनगामी कदाचिच्च भूगामी भवति, एको भवति अनेकोऽपि भवन्ति, गुरुर्भवति लघुरपि भवति, महान् भवति, अल्पोऽपि भवति, दृश्यो भवति अदृश्येनाऽपि भूयते इत्यादिका नाना प्रकारकाः क्रिया अनेन शरीरेण कर्तुं प्रभवति जीवः। अथवा वैक्रियप्रायोग्यपुद्गलद्रव्यैर्निष्पन्नं यच्छरीरं तद्वैक्रियमुच्यते ॥ तथाविधाऽऽहारकलब्धिभाक् चतुर्दशपूर्ववित् संयमी प्रमत्तगुणस्थानवर्त्ती परमपारमैश्वर्योपेतश्रीतीर्थकरादीनां प्रभुत्वं द्रष्टुं सूक्ष्मार्थविचारणाऽऽपन्नसंदेहदोलाधिरूढस्य मनसस्समाधिं विधातुं वा तथाप्रकारकाऽऽहारकशरीरप्रायोग्यपुद्गलद्रव्यैर्नूतनं यच्छरीरं विरचय्य तीर्थकरसमीपे प्रेषयति तदाहारकशरीरम् ॥ जग्धाहारस्य पाचकं तेजोलेश्या-शीतलेश्यानिमित्तं वा तैजसशरीरप्रायोग्यपुद्गलद्रव्यैर्निष्पन्नं यच्छरीरं तत्तैजसनाम। मतिज्ञानावरणीयाद्यष्टपञ्चाशदधिकशतकर्म्मप्रकृतीनां पिण्डाऽऽत्मकं यच्छरीरं तत्कार्म्मणशरीरं, एतत् कार्म्मणशरीरमात्मानमन्यवपुश्चतुष्कञ्चोत्पादयति, भवाद् भवान्तरं गच्छतो जीवस्य साहाय्य-

कृद् उत्पत्तिप्रथमसमये आहारग्रहणक्रियायां हेतुत्त्वमपि भजति ॥ शरीरपञ्चकमध्ये औदारिकशरीरं शेषशरीरचतुष्काऽपेक्षया स्थूलपुद्गलद्रव्यैर्नैष्पन्नम् । वैक्रियशरीरं ततः सूक्ष्मपुद्गलद्रव्यैर्नैष्पन्नम् । तत आहारकशरीरं सूक्ष्मतरपुद्गलद्रव्यैस्सञ्जातं, ततोऽपि तैजसशरीरं सूक्ष्मतमपुद्गलद्रव्यैर्नैष्पद्यते, ततोऽपि कार्म्मणशरीरस्याऽतीवसूक्ष्मतमपुद्गलद्रव्यैर्निष्पत्तिश्च सिद्धान्ते सुख्याता अथ कस्मिन् शरीरे कति परमाणवस्तच्चिन्त्यते;—औदारिकशरीरमत्यल्पपरमाणुभिर्नैष्पन्नम्, वैक्रियं च ततोऽसंख्येयगुणपरमाणुपरिकलितम्, ततोऽप्याहारकशरीरमसंख्यगुणपरमाणुभिस्संजायते, ततोऽपि तैजसशरीरमनन्तगुणपरमाणुभिर्नैष्पद्यते, ततोऽप्यनन्तगुणपरमाण्वात्मकं कार्म्मणशरीरं च भवति ॥ अथैतेषां शरीराणां स्वामिनः प्रोच्यन्ते;—

औदारिकशरीरं एकेन्द्रियगतसूक्ष्मनिगोदादिसर्वतिरश्चां निःशेषमनुष्याणाञ्च विद्यते, वैक्रियशरीरं सर्वदेवनारकाणां वैक्रियलब्धिमतां गर्भजमनुजानां गर्भजतिरश्चां च वर्त्तते, केषाञ्चिद् बादरवायुकायिकानामपि वैक्रियं शरीरं भवति, आहारकशरीरं तु आहारकलब्धिभाजां चतुर्दशपूर्वविदां संयतानामेव नान्येषां वर्त्तते, आमुक्तेः[१] सर्वे जीवाः तैजसकार्म्मणशरीरभाजस्सर्वदैव लभ्यन्ते ॥ अथौदारिकादिशरीरप्रमाणं;—औदारिकशरीरं (प्रत्येकवनस्पतिशरीराऽपेक्षया) सहस्रयोजनप्रमाणोच्चम् । वैक्रियं तु चतुरङ्गुलाधिकैकलक्षयोजनपरिमितं, आहारकशरीरमेकहस्तप्रमाणं, तैजसकार्म्मणे तु चर्तुदशरज्वात्मकलोकप्रमाणे भवतः, एतच्चोत्कृष्टतो विज्ञेयं, जघन्यतस्तु औदारिकमङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणं, वैक्रियमपि अङ्गुलाऽसंख्येयभागपरिमितं, उत्तरवैक्रियाऽपेक्षया त्वङ्गुलसंख्येयभागो विज्ञेयः, आहारकशरीरं बद्धमुष्टिकहस्तमितं, तैजसकार्म्मणे अङ्गुलाऽ-

१ अनेनेत्थं न ज्ञेयं यत् सर्वे जीवा मुक्तिगामिनः, ये भव्या मुक्तिगामिनस्तेषामामुक्तेः, अन्येषां तु सदैव इति ॥

संख्येयभागप्रमाणोच्चे भवतः। इति शरीरस्वरूपस्य दिङ्मात्रमिदम्, विस्तरस्तु श्रीप्रज्ञापना–तत्त्वार्थ–लोकप्रकाशादिभ्योऽवसेयः॥ पूर्वोक्तपञ्चशरीरद्वारा जीवस्य यो व्यापारः स कायबलनामाऽष्टमः प्राणः॥

उच्छ्वासनामकर्म्मोदयतः उच्छ्वासपर्याप्त्या पर्याप्तो जीवः काययोगेन उच्छ्वासयोग्यपुद्गलद्रव्यानादाय उच्छ्वासतया परिणमय्याऽवलम्ब्य च मुञ्चति स उच्छ्वाससंज्ञको नवमः प्राणः। उच्छ्वासनामकर्म्मोदयेन जीव उच्छ्वासलब्धिं प्राप्नोति, उच्छ्वासपर्याप्त्या तु उच्छ्वासयोग्यपुद्गलद्रव्यानादाय उच्छ्वासत्त्वेन परिणमयितुं समर्थो भवति। सत्यामपि उच्छ्वासलब्धौ पर्याप्तिजन्यसामर्थ्यं विना परिणमनाऽऽलम्बनादिषु प्रवृत्तिर्न हि भवति। बाणप्रक्षेपविद्यायां निष्णातोऽपि धनुर्ग्रहणादिव्यापारमृते बाणप्रक्षेपशक्तिं न सफलां करोति, एवमत्राऽपि उच्छ्वासपर्याप्तिजन्यशक्तिमन्तरेण केवलयोच्छ्वासलब्ध्या कार्यं न सिद्ध्यति। अयमुच्छ्वासो बाह्याऽभ्यन्तरभेदभिन्नः, ये एकेन्द्रियद्वीन्द्रिया विना घ्राणेन्द्रियमुच्छ्वसन्ति निःश्वसन्ति स आभ्यन्तर उच्छ्वासः, ये च पिपीलिकादयस्त्रीन्द्रिया भ्रमरादयश्चतुरिन्द्रिया मनुजप्रभृतयः पञ्चेन्द्रियाश्च नासिकया उच्छ्वसन्तो निःश्वसन्तो वा दृश्यन्ते तेषां य उच्छ्वासः स बाह्यः। अयमुच्छ्वासः पुद्गलविकारजः, अतिसूक्ष्मपरिणामवत्त्वान्नेन्द्रियप्रत्यक्षः परमवश्यं ज्ञानगोचरः॥

येन प्राणविशेषेण प्रतिनियतभवे नियतकालपर्यन्तं यदवस्थानं तदायुः, अथवा परभवे एव जीवं प्रतीत्य उदयमेतीति आयुः, एतदायुः पुद्गलद्रव्यनिचयात्मकं येन पुद्गलद्रव्यनिचयोदयेन जीवो जीवति। एतच्च द्विधा–द्रव्यायुः कालायुश्च, आयुःकर्म्मणो ये पुद्गलास्तद् द्रव्यायुः, तैलाभावे दीपो यथा न प्रकाशते तद्वदायुषः पुद्गलानामभावे प्रतिनियतभवे जीवो जीवितुं न शक्नोति। आयुःकर्म्मपुद्गलानां साहाय्येन नियतकालपर्यन्तं यावज्जीवेन जीव्यते स जीवनकालः कालायुर्नाम्ना प्रोच्यते,

वक्ष्यमाणप्रकारेण द्रव्यायुषस्समाप्तिमन्तरेण कदाचिदपि जीवो मरणं नावाप्नोति, परं कालायुस्तु यद्यपवर्त्तनीयं विद्यते तदा नियतकालसमाप्तेः प्रागेव जीवो मरणमश्नुते, यद्यायुरनपवर्त्तनीयं तर्हि तु नियतकालसमाप्त्यनन्तरमेव पञ्चत्त्वमाप्नोतीति, ॥ अथाऽपवर्त्तनीयाऽनपवर्त्तनीयायुषोः स्वरूपं लिख्यते;—तत्र पूर्वस्मिन् भवे जीवेन तथाविधाऽध्यवसायैरायुषः स्थितिर्विवक्षितकालप्रमाणा एतादृशी शिथिला बद्धा येन शस्त्राद्युपघातप्रसङ्गे सति पूर्वभवबद्धाया आयुषः स्थितेः समापनात् प्रागेव मरणमश्नुते, तथाप्रकारकं यदायुस्तदपवर्त्तनीयमुच्यते, तथा च मौनीन्द्रं प्रवचनम्;—“ अपवत्तणिज्जमेयं आउं अहवा असेस कम्मंपि । बंधसमए वि बद्धं सिढिलं चिय तं जहाजोगं ” ॥ १ ॥ तथा प्राग्भवे जीवेन तथा प्रकारैरध्यवसायैरायुः कर्म्मणः स्थितिरेतादृशी निबिडा बद्धा येन शस्त्राद्युपघातप्रसङ्गेऽपि प्राग्जन्मोपात्ता स्थितिः समयमात्रेणाऽपि न्यूना न भवति, एतादृग् यदायुस्तदनपवर्त्तनीयम् । तथाचोक्तं;—“जं पुण गाढनिकायण बंधेण पुव्वमेव किल बद्धं । तं होइ अणपवत्तणजुग्गं कम्मवेयणिज्जफलं ” ॥१॥ इति पूर्वोक्तस्वरूपे अपवर्त्तनीयाऽनपवर्त्तनीये आयुषी कालायुष एव भेदौ भवतः, न तु द्रव्यायुषः, यथा सुदीर्घमपि कालायुरपवर्त्तनीयं सत् स्वल्पमपि भवति, एवं द्रव्यायुर्न भवत्येव, द्रव्यायुषः समाप्त्यनन्तरमेव जीवः पञ्चत्त्वं प्राप्नोति ।

ननु आयुषः कर्मत्त्वात् तस्य च पुद्गलात्मकत्त्वादायुरपि पुद्गलस्वरूपम्, स्थितिरपि आयुःपुद्गलानामेव, ततो निखिलानामायुःपुद्गलानां क्षयेऽपि विवक्षिता स्थितिर्न समाप्ता इत्येतत्कथं ? सत्यम्, उच्यते;—यथा प्रदीपस्य वर्त्तिकायां बृहत्यां कृतायामन्तर्वर्त्तिस्नेहस्य शीघ्रेण क्षये जाते प्रदीपे निर्विण्णे रात्येवमुच्यते यदयं प्रदीपोऽल्पकालमेवाऽज्वलत्, तद्वदायुषो निखिलपुद्गलानां वक्ष्यमाणोपक्रमैः शीघ्रेण क्षये सति कालाऽयुषोऽपवर्त्तनीयत्त्वादपूर्णकालेऽपि जन्तूनां मरणं दृष्टिगोचरं भवति,

यत आयुःपुद्गलद्रव्यसद्भावे एव जीवो जीवितुं शक्नोति नान्यथा । अथवा शतहस्तपरिमिता दीर्घा रज्जुरेकपर्यन्तादग्धा सती क्रमशः अतिविलम्बेनाग्निना दह्यते, सा एव कुण्डलीकृता दग्धा सती तूर्णमेव भस्मसाद् भवति, एवमायुःपुद्गलानां क्रमेण क्षये संजायमाने यावत् परिमितमायुः तावत् कालपर्यन्तं जीवेन जीव्यते, परं यदि प्रतिसमयं विशेषविशेषतरपुद्गलक्षयलक्षणा उपक्रमप्रभवा परिपाटी स्यात्तदा तु अन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणाऽपि कालेन निःशेषपुद्गलानां क्षये सति आयुषस्समाप्तिः शीघ्रं संजायते ॥ शस्त्रादेर्बाह्यनिमित्तेन यस्यायुषः क्षयः स्यात् तत् सोपक्रममायुः, अथवाऽऽयुषः समाप्त्यनेहसि यत्र किञ्चिदपि बाह्यं निमित्तं भवेत् तत् सोपक्रमसंज्ञकमाहुः । यस्यायुषः समाप्तिकाले बाह्यनिमित्तं न किञ्चिदपि प्रतिभाति, परमायुःक्षय एव यत्र कारणं तन्निरुपक्रमाख्यमाहुः । उक्तस्वरूपमनपवर्त्तनीयमाहुः सोपक्रमनिरुपक्रमभेदाभिन्नम् । अपवर्त्तनीयं तु सोपक्रममेव । आयुःक्षयहेतव उपक्रमा अध्यवसान–निमित्त–आहार–वेदना–पराघात–स्पर्श–श्वासोच्छ्वासप्रकारैः सप्तविधाः, तथा चाहुः श्रीपूज्याः;–" अज्झवसाणनिमित्ते आहारे वेयणा पराघाए । फासे आणापाणु सत्तविहं झिज्झए आऊ " ॥ १ ॥ सोपक्रममायुष्कं वेदनयार्त्तस्य मूर्च्छतो जन्तोः। बन्धप्रायोग्याभ्यां विगच्छति स्नेहरौक्ष्याभ्याम् ॥ १ ॥ निरुपक्रमं तु न तथाऽऽयुष्कं दृढसंहितं यदिष्टं तत् । नन्वग्न्याद्यैरनुपक्रम्यं कंकटुकमपरान्नम् ॥ २ ॥ आयुष्कस्याऽवयवा बन्धनमुक्ता जटन्ति ते तस्मात् । आर्द्राद् वस्त्राद्यद्वत् प्रशोष्यमाणाज्जलावयवाः ॥ ३ ॥ प्राणाऽऽहारनिरोधाऽध्यवसायनिमित्तवेदनाघाताः । स्पर्शश्चायुर्भेदे, सप्तैते हेतवः प्रोक्ताः ॥ ४ ॥ "

ननु आयुषः क्षये उपक्रमा हेतुत्वेन व्याख्याताः, एतैरध्यवसानाद्यैरुपक्रमैरायुः त्वरितं क्षयं यथा प्राप्नोति, तथाऽऽयुषो

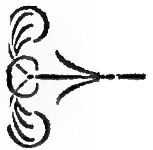
वृद्धौ हेतवो वर्त्तन्ते न वा ? अत्रोच्यते, यथोपक्रमाः खलु आयुषः क्षये निमित्तभूता वर्त्तन्ते एवमायुषो वृद्धौ उपाया न विद्यन्ते, गतजन्मनि यदायुर्यत्स्थितिपरिमितं बद्धं तत् समयमात्रेणाऽपि कालेनाऽनुत्तरवीर्यशालिनस्तीर्थकरा अपि वर्धयितुं न सामर्थ्यभाजः । यद्यप्युद्वर्त्तनाकरणेन यथा ज्ञानाऽऽवारकादिकर्म्मणां स्थितिरसयोर्वृद्धिः संजायते एवमायुःकर्म्मणोऽपि स्थितिरसे वृद्धिमर्ते भवतः परं सा वृद्धिर्बन्धं यावदेव प्रवर्त्तते न परतः, तथा चोक्तं श्रीशिवशर्म्मसूरिमतल्लिकाभिः कर्म्मप्रकृतौ उद्वर्त्तनाकरणे 'आवन्धाउवट्टइ' त्ति ॥

ननु अपवर्त्तनीयाऽनपवर्त्तनीयभेदलक्षणतारतम्येन आयुर्बध्यते तत्र के हेतुः ? उच्यते, आयुर्बन्धाऽवसरे यदि आयुर्बन्धप्रायोग्यास्तथाविधतीव्राऽध्यवसाया भवेयुस्तदा तैस्तीव्राऽध्यवसायैर्गृहीता आयुःकर्म्मपुद्गलाः केषुचिद् आत्मप्रदेशेषु अतिपिण्डिता भवन्ति, अतः स आयुःकर्म्मपिण्ड उपक्रमैरभेद्योऽस्ति एतत्प्रकारकं यदायुस्तदनपवर्त्तनीयम् । आयुर्बन्धकाले यदि मन्दाध्यवसायाः स्युस्तदा तैर्मन्दपरिणामैरुपात्ता आयुःकर्मपुद्गलास्सर्वाऽऽत्मप्रदेशेषु अतिविरलतया विभिन्ना भवन्ति, तस्मात् ते पुद्गला उपक्रमसाध्याः पिण्डितत्वाऽभावात् एतदपवर्त्तनीयमायुः ॥ अयमर्थः श्रीतत्त्वार्थवृत्तौ विस्तरेण प्रपञ्चितः, जिज्ञासुभिः शेमुषीवद्भिस्ततोऽवलोकनीयः । पूर्वोक्तनिरुपक्रमानपवर्त्तनीय–सोपक्रमानपवर्त्तनीय–सोपक्रमापवर्त्तनीयलक्षणेषु त्रिप्रकारेष्वायुःषु के जीवा कस्मिन्नायुपि वर्त्तन्ते तच्चिन्त्यते;—सर्वे देवाः सर्वे नारका असंख्येयवर्षायुष्का युगलिकतिर्यङ्मनुष्या बलदेवा वासुदेवाश्चक्रवर्त्तिनो गणधरास्तीर्थकराश्चरमशरीरिणश्च निरुपक्रमाऽनपवर्त्तनीयप्रकारकायुभाजो भवन्ति, शेषाश्च त्रिप्रकारकायुष्मन्तो भवन्ति, यदुक्तं;—" उत्तमचरमसरीरा सुरनेरइआ असंखनरतिरिआ हुंति निरुवक्कमाओ दुहावि-

सेसा मुणेयव्वा ” ॥ १ ॥ के जीवाः कदाऽऽयुर्बन्धं कुर्व्वन्त्येति परिप्रश्ने उत्तरमाहः–नारका देवा असंख्यवर्षायुष्कतिर्यङ्-मनुष्याश्च विद्यमानायुषष्षण्मासाऽवशेषे पारभविकमायुर्बध्नन्ति । निरुपक्रमायुष्मन्तः पृथ्वी–अप्–तेजो–वायु–वनस्पतिकायिका द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च स्वायुषस्त्रिभागाऽवशेषे सति आगामिभवायुर्बन्धं विदधति । सोपक्रमायुष्कास्तु सर्वेऽपि निजनिजायुषस्त्रिभागाऽवशेषे नवमभागाऽवशेषे सप्तविंशतितमभागाऽवशेषे एकाऽशीतितमभागाऽवशेषे अन्तर्मुहूर्त्ताऽवशेषे वा पारभविकमायुर्बध्नन्ति । उक्तञ्चः–“ बंधंति देवनारय–असंखनरतिरि छमाससेसा उ । परभविया उ सेसा निरुवक्कमत्ति-भागसेसा उ ॥ १ ॥ सोवक्कमाउया पुण सेसतिभागे अहव नवभागे । सत्तावीस इमे वा अन्तमुहुत्तंतिमे वावि ” ॥ २ ॥ इत्यायुर्नामको दशमः प्राणो व्याख्यातः, एवञ्च “ पणिंदिय ” त्ति गाथाऽपि व्याख्याता । इति जीवतत्त्वम् ॥

व्याख्यातं जीवतत्त्वं, लेशतस्सुमन्दधिया मयका । तेनाऽस्तु भव्यसंघो ज्ञानात्मकजीवतत्त्वयुतः ॥ १ ॥

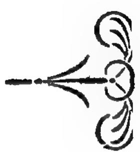
इति संविग्नशाखीय–विद्वद्वृंदावतंस–कुमतध्वान्ततरणि–मुनिचक्रचूडामणि–तपागच्छगगनदिनमणि श्रीमन्मुक्तिविजय (अपरनाममूलचन्दजी) गणिपादपद्मचंचरीक–सर्वज्ञशासनगभस्तिमालि–निरवद्य-चारित्रशालि–तपागच्छाचार्यपुरंदर–श्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरपट्टोदयाद्रिसहस्रांशु–अमेयप्रभाव-प्रवचनप्रवीणचेतस्काऽनवद्यसंयमसेवाहेवाक–व्याख्याप्रज्ञाऽऽचार्यवर्य्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वर-विनेयरत्न–गीतार्थवर–पाठकप्रवरोपाध्यायपदालङ्कृत–श्रीमत्प्रतापविजयगणिशिष्याणुप्रवर्त्तक-श्रीधर्म्मविजयविरचितायां नवतत्त्वप्रकरणस्य सुमङ्गलाटीकायां जीवतत्त्वं समाप्तम् ॥





ॐ ॥

अथाऽजीवतत्त्वम्



ज्ञानाऽऽवारककर्म्मसंक्षयजनुर्येषामनन्ताऽमलं, ज्ञानं दर्शनरोधकृद्व्ययपचयाऽवस्थेन सद्दर्शनम्
दुर्ज्जय्यं दुरितं च मोहनृपतिं जित्वाऽपि यैरक्षयं, चारित्रञ्च भवान्तकृच्छिववरं सिद्धास्सदा पान्तु वः ॥१॥

पूर्वोक्तगाथासप्तकेन जीवतत्त्वं व्याख्याय "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायेनाऽधुनाऽजीवतत्त्वं व्याचिख्यासुराचार्यपुरन्दरः प्रथमं तावदजीवतत्त्वस्य चतुर्दशभेदप्रतिपादिकामिमां गाथामाह;—

धम्माऽधम्माऽऽगासा, तियतियभेया तहेव अद्धा य। खंधा देस पएसा, परमाणु अजीव चउदसहा ॥६॥

व्याख्या—'धम्म'इत्यादि धारयति गतिपरिणतान् जीवपुद्गलाँस्तत्स्वभावत्वे इति धर्म्मः। अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायः

सङ्घातोऽस्तिकायः, धर्मश्चासावस्तिकायो धर्म्मास्तिकायो, तद्विपरीतोऽधर्म्मास्तिकायः, आकाशाऽस्तिकायः प्रतीतः, एते त्रयोऽपि त्रित्रिभेदाः, यथा धर्म्माऽस्तिकायस्कंधः, धर्मास्तिकायदेशः, धर्माऽस्तिकायप्रदेशः, तत्र सकलदेशप्रदेशानुगतसमानपरिणामवद् द्रव्यं धर्म्माऽस्तिकायस्कंधः, तस्यैव बुद्धिकल्पितो देशो द्व्यादिप्रदेशात्मको भागो धर्मास्तिकायदेशः, तस्यैव प्रदेशो निर्विभागभागो धर्म्मास्तिकायप्रदेशः। अयं देशप्रदेशादिको विभागः कदाचिन्नातीतकालेऽभवत्, न च वर्त्तमानकालेऽपि वर्वर्त्तते, न चाऽऽगामिकाले वर्वर्त्स्यति, केवलं शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थमेव मतिकल्पनापरिकल्पितो देशप्रदेशादिको विभागः समवसेयः। एवमधर्माऽस्तिकायाऽऽकाशाऽस्तिकाययोरपि त्रीणि त्रीणि भेदानि समवगन्तव्यानि। तद्यथा—अधर्म्माऽस्तिकायस्कन्धः, अधर्म्मास्तिकायदेशः, अधर्म्माऽस्तिकायप्रदेशः; आकाशाऽस्तिकायस्कंधः, आकाशाऽस्तिकायदेशः, आकाशाऽस्तिकायप्रदेश इति त्रयाणां नवभेदाः सञ्जाताः। तथैव अद्धा कालः तस्य च अतीताऽनागतयोर्विनष्टाऽनुत्पन्नत्वेनाऽसत्त्वाद् वर्त्तमानसमयलक्षणमेकविधत्वमेव, न सन्ति तस्य प्रभेदाः॥ "पुग्गला चउहे" त्यादि वक्ष्यमाणमत्रापि सम्बध्यते, ततः पुद्गलानां चत्वारो भेदाः स्युः, तद्यथा;—स्कंधो देशः प्रदेशः परमाणुश्च, तत्र द्व्यणुकादयः क्रमेण एकाणुकादिवृद्ध्या अनन्ताणुकाऽवसाना अनन्तसंख्याकाः स्कन्धाः, तेष्वेव स्कन्धेषु कल्पिता द्व्यणुकत्र्यणुकादयः कियन्तो भागा देशा उच्यन्ते, तेष्वेव स्कन्धेषु देशेषु वा कल्पितास्तेषां निर्विभागा भागाः प्रदेशाः कथ्यन्ते, परमाणवस्तु पुनः स्कन्धेषु देशेषु वा असंबद्धाः स्कंधादिकारणरूपा अतिवसूक्ष्मा निर्विभागभागा ज्ञातव्याः। इत्येवं सर्वमिलनेऽजीवस्य चतुर्दशभेदा भवन्तीति गाथाक्षरार्थः॥

व्यासार्थस्त्वयम्;—अस्मिँल्लोके षड्द्रव्याणि वर्त्तन्ते, ये केचन जगति पदार्था दृष्टिपथं समायान्ति केचित्तु चक्षुर्गोच-

रातीतत्त्वान्न चाक्षुषविषया भवन्ति ते सर्वेऽपि षड्द्रव्यान्तर्गताः। तत्र द्रव्यषट्कमध्ये स्थानात् स्थानान्तरं गमनशीला जीवपुद्गलाः, इतरे नियतस्थानशालिनः, तत्र जीवो यावत्कालं संसारे पर्यटति तावत्पर्यन्तं स्वकीयभवे औदारिकवैक्रियादिशरीरालम्बनेन भवाद्भवान्तरं गच्छन् कार्म्मणशरीराऽऽलम्बनेन च गमनक्रियां कुरुते, यदा निर्म्मलध्यानाऽग्निदग्धकर्म्मेन्धनो भवति जीवस्तदा तु स्वस्वभावादेव स्वाऽवगाढाऽऽकाशप्रदेशेभ्यः प्रदेशान्तरमस्पृशन् पूर्वप्रयोगाद–सङ्गत्त्वाद्–बन्धच्छेदा–त्तथागतिपरिणामाच्च सिद्धिस्थानं गच्छति ॥ पुद्गला अपि स्वस्वभावतया जीवस्य प्रेरणया वा गमनक्रियाभाजस्सन्ति, एवमनया नीत्या जीवपुद्गलानां गतिः प्रवर्त्तते, परं तस्यां गमनक्रियायामन्यद्रव्यस्याऽपेक्षाऽऽवश्यकी, यद्द्रव्यसाहाय्येन गतिपरिणामवतां जीवपुद्गलानां गमनक्रिया भवति तद् धर्म्माऽस्तिकायनामकं द्रव्यम्। उड्डयनसामर्थ्यभाग् विहंग उड्डयनशक्तिसद्भावेऽपि वायुना विना न विहायसा गन्तुं शक्नोति, तरणक्रियासामर्थ्यसंपन्नोऽपि मत्स्यो जलं विना न तरणक्रियाकुशलतां भजति, आकर्णदीर्घाऽऽयतलोचनेनाऽपि पुंसा प्रकाशमन्तरेण घटपटादिपदार्था न दृश्यन्ते, एवमेव गमनशक्तिमन्तोऽपि जीवपुद्गला धर्म्माऽस्तिकायं विरहय्य स्थानात्स्थानान्तरं गन्तुं न सामर्थ्यभाजो भवन्ति अस्य धर्म्माऽस्तिकायस्य निर्विभाज्यभागरूपाऽसंख्येयाः प्रदेशाः सर्वे च ते शृङ्खलावयवा इव परस्परं सम्बद्धा वर्त्तन्ते, अनेन धर्म्मास्तिकायसंज्ञकद्रव्येण चतुर्दशरज्जुपरिमितः समस्तलोको व्याप्तः, अतस्तस्य संस्थानमपि लोकसंस्थानवत् कटिन्यस्तहस्तपादप्रसारितपुरुषवद्वा वैशाखसंस्थानं विद्यते ॥ इह लोके एतद्द्रव्यमेकमेवाऽमूर्त्तश्च, भाषोच्छ्वासमनःप्रभृतिप्रायोग्यपुद्गलद्रव्यादानं धर्म्मास्तिकायं विना गमनक्रियाऽसम्भवे न संजाघटीति, तस्माज्जीवस्य गमनाऽऽगमनादिचेष्टासु भाषाप्रभृतियोग्यपुद्गल-

द्रव्यग्रहणात्मकचलनक्रियासु च धर्म्मास्तिकाय उपकारकत्त्वेन व्यवस्थितः, उक्तश्च लोकप्रकाशे;—“ जीवानामेव चेष्टासु गमनागमनादिषु । भाषामनोवचःकाययोगादिष्वेति हेतुताम् ” ॥ १ ॥

जीवपुद्गलानां स्थिरीकरणे यदुपकारिद्रव्यं तदधर्म्माऽस्तिकायसंज्ञं, गतिसाहाय्यकधर्म्माऽस्तिकायगुणापेक्षया विपरीतः स्थितिसाहाय्यकगुणः स अधर्म्मः, तस्य अस्तिकायः प्रदेशसमूहः सोऽधर्म्मास्तिकायः ॥ गतिपरिणामपरिणता जीवपुद्गला यथा धर्म्माऽस्तिकायाऽऽख्योपकारिद्रव्यसाहाय्येन गमनाक्रियाकुशलास्संज्ञायन्ते तद्वत् स्थितिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिरधर्म्मास्तिकायसंज्ञकोपकारिद्रव्यसाचिव्याद्भवतीत्यर्थः । मार्गजन्यपरिश्रमपरिश्रान्तः पथिकः परिश्रमनिवारणार्थं पृथिवीरुहः छायां दृष्ट्वा यथा स्थितिं कुरुते, उड्डीयमानस्य विहङ्गमस्य भूर्वृक्षो गिरिशिखरं च स्थितौ निमित्ततया यथा भवति, एवं स्थितिपरिणामपरिणतानां जीवानां स्थितावधर्म्माऽस्तिकायः कारणत्त्वेन समाख्यातः, यद्यस्मिँल्लोके अधर्म्माऽस्तिकायस्याऽभावस्स्यात् तदा जीवपुद्गलानां गमनमेव प्रवर्त्तेत । उक्तश्च लोकप्रकाशे;—“ अयं निषदनस्थान—शयनाऽऽलम्बनादिषु । प्रयाति हेतुतां चित्तस्थैर्यादिस्थिरतासु च ” ॥ १ ॥ अत्र प्रेरकश्चोदयति;—ननु धर्म्माऽस्तिकायाऽधर्म्माऽस्तिकायाऽऽकाशाऽस्तिकायकालसंज्ञकानि चत्वारि द्रव्याण्यपि स्थिराण्येव, तत्राऽपि स्थित्युपकारिणाऽधर्म्माऽस्तिकायेन भवितव्यम्, ततो जीवपुद्गलानामेवाऽधर्म्माऽस्तिकायः स्थितिहेतुरिति किमर्थमुच्यते ? अत्रोच्यते—धर्म्माऽस्तिकायादि द्रव्यचतुष्कं त्वनादिकालतः स्वस्वभावादेव स्थितिपरिणामेन स्थितं, तस्य धर्म्माऽदिद्रव्यचतुष्कस्य न कदाचनाऽपि गतिपरिणामः संभवति । गतिपरिणामाऽभावे गमननिवृत्तिलक्षणस्थितिपरिणामस्य कुतः कल्पना ? यतोऽधर्म्माऽस्तिकायः स्थितावुपष्टं-

हकस्स्यात् । यानि द्रव्याणि स्वस्वभावतयैवाऽनादिकालतः स्थितिपरिणामपरिणतानि तत्र स्थितावन्यद्रव्यस्यापेक्षा न वर्त्तते । यानि गमनस्थितिरूपोभयपरिणामवन्ति तानि द्रव्याणि गमनस्थितिकर्म्मणि सापेक्षाणीति । एतौ द्वावपि धर्म्माऽस्तिकायाऽधर्म्मास्तिकायौ चतुर्दशरज्जुप्रमाणपरिमितौ समसंस्थानौ समसंख्याकप्रदेशौ गमनसाहाय्यकस्थितिसाहाय्यकलक्षणौ मध्येदुग्धं शर्करावदन्योऽन्यप्रविष्टौ च वर्त्तेते ॥ २ ॥

धर्म्माऽस्तिकायादिद्रव्याणामवगाहप्रदायकमाधारभूतं यद्द्रव्यं तदाकाशाऽस्तिकायसंज्ञकं प्रोच्यते, अस्मिन्नाकाशाऽस्तिकायाऽऽह्वे द्रव्ये निखिलानि द्रव्यान्तराण्यवगाहमादायाऽऽधाराऽऽधेयतया स्थितानि, आकाशाऽस्तिकायाख्यं द्रव्यमाधारत्वेन स्थितं, आकाशद्रव्यव्यतिरिक्तानि पञ्चद्रव्याण्याधेयतया व्यवस्थितानीत्यर्थः । यद्याऽऽकाशाऽस्तिकायस्याऽभावो भवेत्तदा स्थानाऽभावे धर्म्माऽस्तिकायादिद्रव्याणां कुत्र स्थितिः स्यात् ? तस्मात् सर्वत्र सकलद्रव्याणामवगाहदानलक्षण आकाशाऽस्तिकायोऽप्यस्त्येवेति निश्चप्रचम्, अनुभवसिद्धश्चैतत्, अदृश्यमानाऽऽकाशे काष्ठस्तंभे कीलिकानां शतं सहस्रं वा मातीत्यत्र सर्वत्र आकाशस्य सद्भाव एव बीजम् । यथा धर्म्माऽधर्म्मौ असंख्यप्रदेशात्मकौ लोकाकाशं व्याप्य व्यवस्थितौ वैशाखसंस्थानौ तथाऽयमाकाशास्तिकायोऽप्यनन्तप्रदेशात्मकोऽनन्तयोजनप्रमाणाऽपारक्षेत्रं व्याप्य व्यवस्थितो लोहगोलकसंस्थानः अयमाकाशो लोकाऽऽकाशाऽलोकाऽऽकाशाभ्यां द्विधा विभक्तः, तत्र यावत्परिमिते आकाशे धर्म्माऽधर्म्मौ जीवपुद्गलाश्च वर्त्तन्ते तावत्प्रमाणश्चतुर्दशरज्जुमानो लोकाकाशोऽलोकाऽऽकाशाऽपेक्षयाऽनन्तगुणहीनः, अन्यः सर्वोऽप्यलोकाऽऽकाशो धर्म्मादिद्रव्यैर्विप्रमुक्तो लोकाकाशाऽपेक्षयाऽनन्तगुणाधिकः । लोकाकाशस्य संस्थानञ्च धर्म्माऽधर्म्मद्रव्यसंस्थानवद् वैशाख-

संस्थानं विज्ञेयम् ॥ प्राची-प्रतीची-कौबेर्यादयो देशोऽपि आकाशाऽस्तिकायस्य विभागाऽऽत्मिकाः, परं नतु नैयायिका यथा दिङ्नामकं कल्पनाकल्पितं नूतनद्रव्यं मन्यन्ते तद्वद् द्रव्यान्तरम् । आकाशविभागेनैव दैशिकपरत्त्वाऽपरत्त्वादिव्यवहारः सञ्जायते, यतो लक्षयोजनप्रमाणोच्चे मेरुगिरौ अधस्तादाराभ्य सहस्रयोजनोपरि सुमध्यभागे गोस्तनाऽऽकारा उपर्यधोव्यवस्थिताश्चत्त्वारश्चत्त्वारः संश्लिष्टा अष्टौ रुचकप्रदेशाः, तत्रतः प्रत्येकं दिक्षु क्रमशो द्वाभ्यां द्वाभ्यां प्रदेशाभ्यां वृद्धिमती प्रत्येकं दिङ् निर्गच्छति, चतस्रो विदिशोऽपि त्रुटितमुक्ताहारवदेकैकाऽऽकाशप्रदेशाऽऽत्मिकास्तत एव निर्गच्छन्ति । स्थापना;—

वि—दिशा—वि
दि ■ दि
शा ■ शा
वि—दिशा—वि

॥ धर्माऽस्तिकायाऽधर्म्मास्तिकाययोर्यथा प्रज्ञापरिकल्पिताः स्कंधदेशप्रदेशात्मका विभागाः प्रोक्तास्तथाऽऽकाशाऽस्तिकायस्याऽपि त एव विभागाः स्कंधदेशप्रदेशस्वरूपा बोद्धव्याः ॥ ३ ॥

अथ कालाऽर्थवाचको गाथास्थोऽद्धाशब्दो व्याख्यायते । अद्धा—कालः—अनेहाः—समय इति पर्यायाः । कालो निश्चयव्यवहारभेदाभ्यां द्विविधः, तत्र वर्त्तनादिपर्यायस्वरूपो नैश्चयिकः, ज्योतिष्चक्रस्य भ्रमणजन्यो यः समयाऽऽवलिकामुहूर्त्तादिलक्षणः कालः स च व्यावहारिकः । वस्तुतस्त्वयं कालो न परमाणुसमुदायाऽऽत्मकः, किन्तु सर्वद्रव्येषु वर्त्तनादिपर्यायाणां सर्वदा सद्भावादुपचारेण काले द्रव्यत्त्वेनोच्यते, कालस्य द्रव्यत्त्वसम्बन्धिव्याख्यानं ग्रन्थान्तरेषु विस्तरेण प्रपञ्चितं, ग्रन्थगौरवभिया दिङ्मात्रमत्र प्रदर्श्यते । तद्यथा;—वर्त्तना—क्रिया—परिणाम—परत्त्वाऽपरत्त्वलक्षणो नैश्चयिककालः, तत्र सादिसान्तसाद्यनन्ताऽनादिसान्ताऽनाद्यनन्तभेदभिन्नेषु चतुःप्रकारेष्वेकेनाऽपि केनचित्

प्रकारेण द्रव्याणां वर्त्तनं वर्त्तना, इयं वर्त्तना प्रतिसमयं परिवर्त्तनात्मिका, अतो विवक्षितैकवर्त्तना द्विसमयं यावदपि स्थितिं न कुरुते, अतो या वर्त्तनायाः परावृत्तिः सा पर्यायत्वेनाऽभिधीयत इति वर्त्तनापर्यायः, उक्तश्च;—" द्रव्याणां सादिसान्तादिभेदैः स्थित्यां चतुर्भिदि। यत्केनचित्प्रकारेण वर्त्तनं वर्त्तना हि सा ॥ १ ॥ प्रयोगपरिणामविश्रसापरिणामाभ्यां जायमाना नवीनत्व-प्राचीनत्वलक्षणा या परिणतिः स परिणामः कथ्यते। किञ्चिदपि द्रव्यं न सर्वदैव नूतनं जीर्णं वा भवितुमर्हति। वस्तुषु या नूतनत्वजीर्णत्वधर्म्मयोः परावृत्तिः स पर्यायः, अत्र नूतनशब्दान्मलादिरहिते जीर्णशब्दान्मलोपेतः पदार्थो न ग्राह्यः, किन्तु अभिनवपर्यायोपेतं तन्नवं, पुराणपर्यायसहितं तज्जीर्णद्रव्यमुच्यते। काललोकेऽप्युक्तम्;—" द्रव्याणां या परिणतिः प्रयोगविस्रसादिजा। नवत्वजीर्णताद्या च परिणामः स-कीर्त्तितः" ॥ १ ॥ अथवा द्रव्यस्य द्रव्यगुणस्य च यः स्वभावः स परिणामः, तच्चोक्तं तत्त्वार्थभाष्ये;—" धर्म्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः, अयं परिणामः सादिपरिणामाऽनादिपरिणामभेदाभ्यां द्विधा विभक्तः, तत्र धर्म्माऽस्तिकायाऽधर्म्माऽस्तिकायाऽऽकाशास्तिकायजीवाश्चेति चत्वारि द्रव्याण्यमूर्त्तान्यनादिपरिणामभाञ्जि, यतस्तेषां पूर्वोक्तानां चतुर्णां द्रव्याणां गतिसाहाय्यकत्वस्थितिसाहाय्यकत्वाऽवगाहदायकत्वचेतनावत्त्वादिगुणास्तेषु तेषु द्रव्येषु न कदाचिदमुकस्मिन् काले समुत्पन्नाः, किन्त्वनादिकालात् सञ्जाता अनन्तकालं यावच्च स्थास्यन्ति, इत्यतस्तानि द्रव्याणि अनाद्यनन्तपरिणामभाञ्जि कथितानि। पुद्गलद्रव्यं तु सादिपरिणामभाक्, यतः पुद्गलस्य स्पर्शपरिणामा रसपरिणामा वर्णपरिणामादयस्सर्वेऽपि न नैरन्तर्येण तिष्ठन्ति परंतु परावृत्तिं भजन्ते, अतो यदा शुक्लवर्णस्य नीलवर्णतया परावर्त्तनं जातं तदा तस्य नीलवर्णस्यादिः, शुक्लवर्णस्य चान्तः,

इत्येवं सादिसान्तपरिणामवन्ति पुद्गलद्रव्याणि । ननु यथा पुद्गलस्थितानां वर्णादीनां परावृत्तिधर्म्मयुक्तत्वात् पुद्गलद्रव्यं सादि परिणामोपेतं व्याख्यातं, एवं जीवस्य लक्षणत्त्वेन व्याख्यातानामुपयोगानामपि परावृत्तिस्सिद्धान्ते समाख्याता, तर्हि कथं जीवद्रव्यमनादिपरिणामवत् ?, सत्यं, उपयोगानां परावर्तनमस्माभिरप्यवश्यमाद्रियते, उपयोगस्वभावाऽपेक्षया जीवद्रव्यं सादिपरिणामभाग्, न तत्र काऽप्यारेका, पूर्वं यज्जीवद्रव्यमनादिपरिणामोपेतत्वेन व्याख्यातं तत्तु चेतनापेक्षयैव समभिहितं, न चेतनायाः परावृत्तिः केषाञ्चिदपीष्टेति, यच्च चैतन्ये व्यक्ताऽव्यक्तत्वं न्यूनाऽधिकत्त्वञ्च दृश्यते तदपि कर्म्मावरणपरतन्त्रम्, सत्ताऽपेक्षया तु सूक्ष्मनिगोदादारभ्य पञ्चेन्द्रियं यावत् सर्वे जीवा समानाऽनन्तचैतन्यभाज इत्यलमतिचर्चया चर्चाभिलाषुकैस्तु प्रज्ञावद्भिः श्रीमदर्हत्प्रवचनसंग्रहात् तत्त्वार्थाधिगमसूत्रात् तत्तदन्वेषणीयं, अस्माकं प्रयासस्त्वस्मादृशां मन्दमेधाविनामवबोधायेति ॥ अतीतकाले सञ्जाता अनागतकाले भविष्यन्त्यो वर्त्तमानकाले भवन्त्यश्च या या द्रव्याणां चेष्टाः स स क्रियापर्याय इति लोकप्रकाशाऽनुसारेण, तत्त्वार्थाऽनुसारेण तु क्रियाशब्देन गतिर्व्याख्याता सा च गतिस्त्रिविधा, प्रयोगगतिः विश्रसागतिः मिश्रा च, तत्र परप्रयोगजन्या प्रयोगगतिः, स्वस्वभावत्वेन सञ्जाता विश्रसागतिः, उभयाभ्यां समुत्पन्ना च मिश्रागतिः, अत्र गतिशब्देन स्वस्वप्रवृत्तौ गमनमित्यर्थतया पूर्वोक्तार्थेन सहाऽविरोधः ॥

यस्याऽऽश्रयेण द्रव्येषु पूर्वभावित्त्वपश्चाद्भावित्वयोर्व्यपदेशः स परत्वाऽपरत्वपर्यायः, स च त्रिधा–प्रशंसाकृत–क्षेत्रकृत–कालकृतभेदैश्च, तत्र ज्ञानं धर्मश्च परः, अज्ञानमधर्म्मश्चाऽपर इत्यात्मको व्यपदेशः स प्रशंसाकृतः । एकस्यां दिशि स्थितयोः पदार्थयोर्यः पदार्थो दूरवर्त्ती स परः, समीपवर्त्ती सोऽपर इति लक्षणो व्यपदेशः स क्षेत्रकृतः, चतुर्वार्षिकबालाऽपेक्षया पञ्चवार्षिको बालः

परः, पञ्चवार्षिकाऽपेक्षया चतुर्वार्षिकश्चाऽपर इत्यात्मको व्यपदेशः कालकृतः, इति त्रिभिः प्रकारैः परत्त्वाऽपरत्त्वपर्यायै सुवि-
ज्ञेयै ॥ इत्येवं वर्त्तनादिपर्यायाः कालस्योपकारकत्त्वेन समाख्याताः, यदवादिपत प्रौढविज्ञानविभासनभास्कराः श्रीमदुमा-
स्वातिसूरयः " वर्त्तना परिणामः क्रियापरत्त्वाऽपरत्त्वे च कालस्य " (तत्त्वा० अ–५–सू–२२) परत्त्वाऽपरत्त्वपर्यायेषु प्रशं-
साकृत–क्षेत्रकृत–कालकृतलक्षणेषु प्रशंसाकृत–क्षेत्रकृते परत्त्वाऽपरत्त्वे वर्जयित्त्वा कालकृतं परत्त्वाऽपरत्त्वमेवाऽत्र कालस्योपका-
रकं विज्ञेयम् । तथा चाहुः—" तदेवं प्रशंसाकृतक्षेत्रकृते परत्त्वाऽपरत्त्वे वर्जयित्त्वा वर्त्तनादीनि कालकृतानि कालस्योपकारः ",
(तत्त्वा० भा० अ–५–सू–२२) । अथवा ऋजुसूत्रनयाऽपेक्षयाऽतीतस्य विनष्टत्त्वेनाऽनागतस्य चाऽनुत्पन्नत्त्वेन वर्त्तमानैक-
समयाऽऽत्मको नैश्चयिकः कालः, यदुक्तम्;–"वर्त्तमानः पुनर्वर्त्तमानैकसमयात्मकः। असौ नैश्चयिकः सर्व्वोऽप्यन्यस्तु व्यावहा-
रिकः" ॥१॥ इति नैश्चयिककालस्वरूपम् ॥ व्यवहारकालस्तु 'समयावलि मुहुत्ता' इति वक्ष्यमाणगाथया विस्तरेणाग्रे व्याख्यास्यते॥

अथ स्कंधदेशप्रदेशादिशब्दानां व्याख्या वितन्यते;—तत्र स्कन्दन्ते–शुष्यन्ति पुद्गलविचटनेन, धीयन्ते–पुष्यन्ति
पुद्गलचटनेनेति स्कन्धाः, अनया व्याख्यया एव प्राक्तनमहर्षिभिः धर्म्मास्तिकायादिशाश्वतद्रव्येषु स्कन्धदेशप्रदेशादिव्य-
वहारो नोररीकृतः, तेषु पुद्गलविचटनचटनयोरभावत्त्वात् केचन विद्वांसस्तु 'कस्याचिदपि द्रव्यस्याऽनेकपरमाणुसमुदाया-
ऽऽत्मको योऽखण्डो विभागः स स्कन्ध' इति मन्यन्ते, अनेन व्याख्यानेन धर्म्मास्तिकायादिष्वपि स्कंध–देश–प्रभृतिव्यवहार–
प्रवृत्तिर्दरीदृश्यते, यथा चतुर्दशरज्जुप्रमाणो वज्राकारो यो धर्म्मास्तिकायः स धर्म्मास्तिकायस्कन्धः, एवं चतुर्दशरज्जु-
परिमितो वज्राकारको योऽधर्म्मास्तिकायः सोऽधर्म्मास्तिकायस्कन्धः, अनन्तयोजनप्रमाणोऽतो घनगोलकाकारो य आका-

शाऽस्तिकायः स आकाशाऽस्तिकायस्कन्धः, जघन्येनाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाण उत्कृष्टेन चतुर्दशरज्जुप्रमाणोऽसंख्येयप्रदेशात्मको यो जीवः स जीवस्कन्धः (अजीवतत्त्वव्याख्याप्रसङ्गे नास्ति जीवस्कन्धव्याख्यानप्रयोजनं तथापि प्रसङ्गत उक्तम्)। द्विप्रदेशात्मकस्त्रिप्रदेशात्मकस्संख्यप्रदेशात्मकोऽसंख्येयप्रदेशाऽऽत्मको यावदनन्तप्रदेशाऽऽत्मको यः पुद्गलविभागः स पुद्गलाऽस्तिकायस्कन्धः। पुनरेषु पुद्गलस्कन्धेषु विवक्षितैकस्कन्धस्य द्वौ विभागौ यदा विहितौ तदा द्वावपि स्कन्धौ व्यपदिश्येते, यथा कश्चित् काष्ठस्तम्भः द्विधाविभक्तस्तदा द्वयोरपि विभागयोः स्कंधसंज्ञा, पुनस्तयोरेव द्वयोर्विभागयोर्यदि चत्वारो भागा विहिताश्चेत्तदा चतुर्णामपि स्कन्धसंज्ञा सञ्जायते, यतः पुद्गलद्रव्येषु स्कंधदेशयोर्व्यपदेशौ आपेक्षिकौ स्तः, न तथा धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशद्रव्येषु, यतो तेषु देशकल्पना केवलं बुद्धिजन्या, न कदाचिदपि प्रज्ञापरिकल्पितो देशः स्कंधात् पृथग्भूत्वा स्वयं स्कंधसंज्ञां भुनक्तीति ॥

स्कंधाऽपेक्षया तस्यैव स्कंधस्य यो न्यूनो न्यूनतमो वा विभागस्स देशः, देशः खण्डो विभाग इत्येकार्थाः, यथाऽक्षतान्मौक्तिकाद्विभिन्नो यो विभागः सोऽखण्डमुक्ताफलाऽपेक्षया देश उच्यते, पुनर्यदा महत्याश्शिलायाः खण्डः शिलापेक्षया देश उच्यते, एवमेकस्मात् प्रतिविशिष्टात् स्कंधाद् भेदेन सञ्जातः सोऽप्रतिबद्धदेशः, पुनः स्कंधादभिन्नः तस्मिन्नेव स्कन्धे केवलं प्रज्ञापरिकल्पितो यो विभागविशेषः स प्रतिबद्धदेशोऽभिधीयते। अयं विभागात्मको देश एकप्रदेशन्यूनाऽनन्तप्रदेशात्मकाद्

१. सूक्ष्मबादरभेदभिन्नपृथिवीकायिकादेरपेक्षयेदं ज्ञेयम्। २. केवलिसमुद्घाताऽपेक्षयेदम् ॥

ये विभागः स देशः,
विभागादारभ्य द्विप्रदेशात्मकं विभागं यावद्भवति, यथाऽनन्तप्रदेशात्मके स्कन्धे एकप्रदेशोनलक्षणो यावज्जघन्यविभागात्मको द्विप्रदेशलक्षणो देशो
द्विप्रदेशोनोऽपि देशः, त्रिभिः प्रदेशैर्न्यूनः सोऽपि देशः, एवं तावद्वक्तव्यं यावज्जघन्यविभागात्मको द्विप्रदेशलक्षणो देशो
भवति। धर्म्माऽस्तिकायो यद्यप्यखण्डस्कन्धः, तथाऽप्यखण्डाऽऽकाशस्य यथा घटाकाशः पटाकाशो मठाकाश इत्यादि भेदाः
घटाद्युपाधिवशतः सञ्जायन्ते, तद्वद्धर्म्माऽस्तिकायस्याऽपि कल्पनापरिकल्पिता देशप्रदेशप्रभृतयो विभागा उपजायन्ते, एवमध-
र्म्माऽस्तिकायेऽप्यूह्यम् ॥ स्कंधलग्नो परमाणुः स प्रदेशः, प्रकर्षतया देशः प्रदेश इत्यर्थः, नान्यो प्रदेशान्न्यूने विभागः केवलिभि-
रपि दृष्टः, तत्राऽनादिकालतो धर्म्माऽस्तिकायस्याऽसंख्येयाऽणव एकत्र पिण्डिताः सम्भूय तिष्ठन्ति, अतस्तस्याऽणवः प्रदेशा
उच्यन्ते, एवमेवाऽधर्म्माऽऽकाशजीवद्रव्याणामपि प्रदेशा ज्ञातव्याः, तथा द्विप्रदेशिस्कंधादारभ्याऽनन्तप्रदेशिस्कंधं यावत्
सर्वेष्वपि स्कंधेषु येऽणवः सन्ति ते सर्वे प्रदेशनाम्ना उच्यन्ते स्कंधादप्रतिबद्धः पृथग्-भिन्नो योऽणुः स परमाणुः, परम
उत्कृष्टोऽणुः स परमाणुः, विवक्षितस्य यस्य परमाणोरथ पुनर्भागो न भवितुमर्हति। प्रदेशपरमाण्वोर्मध्येऽयमेव विशेषः, प्रदेशः
स्कंधादभिन्नस्तत्रैव स्कंधे प्रतिबद्धः, परमाणुस्तु स्कंधाद् भिन्नः स्कंधेऽप्रतिबद्धः, क्षेत्रं तु द्वयोरपि तुल्यं, यावत्परिमिते क्षेत्रे
प्रदेशेन स्थीयते तावत्परिमिते क्षेत्रे परमाणुरपि तिष्ठति ॥ धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशाऽस्तिकायानां जीवस्य च यथा स्कंध-देश-
प्रदेशात्मका भेदाः प्रज्ञया परिकल्पितास्तथा परमाणुनामको भेदो न परिकल्प्यते, यतः परमाणुस्तु स उच्यते यः स्कंधाद्वि-
भिन्नः, नहि उक्तस्वरूपेभ्यो धर्म्माऽधर्म्मादिभ्योऽणुः पृथग् भवति, अतः परमाण्वाऽऽख्यः प्रभेदो न जायते तेषाम् पुद्गल-
द्रव्यं तु वस्तुतः परमाण्वात्मकमेव, स्कंध-देश-प्रदेशास्तु तस्य परमाणोरेव विकाराः। द्रव्यषट्कमध्ये जीवपुद्गलद्रव्ये विभा-

अजीवतत्त्वे परमाणु-स्वरूपम्

वस्वभाववर्ते, तत्र देवत्व–मनुजत्व–नरकत्वादये जीवस्य विभावाः, स्कन्धदेशादयः पुद्गलस्य च, तस्मात्तत्त्वतः परमाणुस्वरूपमेव पुद्गलद्रव्यम्, स्कंधादयस्तूपचारतः पुद्गलाऽभिधानाः। ननु परमाणुप्रदेशयोर्यदा क्षेत्रं समं तदा द्वयेरेकमेव नाम रक्षितव्यम्? किमर्थं नामाऽन्तरम्? उच्यते–प्रदेशपरमाणू तुल्यक्षेत्रिणौ, परं स्कंधदेशाभ्यां भिन्नः स परमाणुः, ताभ्यामभिन्नः स प्रदेश इति भिन्नाऽभिन्नपेक्षया नामाऽन्तरम् । यथा काचित् पितृगृहे तिष्ठन्ती सती कन्यासंज्ञया व्यपदिश्यते, सैव श्वसुरगृहे सती वधूनाम्ना प्रचख्यते, इत्थंस्वसादृश्येऽपि स्थानभेदात् संज्ञाभेदो दृश्यते एवमत्राऽप्यवसेयम् । अयं परमाणुः तीक्ष्णशस्त्रेण न छिद्यते, जातवेदसा न दह्यते, अम्भसा न क्लिद्यते, केनचित् पुद्गलान्तरेण न प्रतिहन्यते च। यद्यपि पर्वतजलाऽग्निषु परमाणोर्गतेर्विघाताऽभावात् परमाणुरप्रतिहतगतिरुच्यते, तथाऽपि त्रिधा प्रतिघातो भवति, तत्र विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन परमाणोरन्यपरमाणुना सह सम्बन्धाद् बन्धनपरिणामप्रतिघातो भवति, अलोके धर्म्मास्तिकायस्याऽभावत्वेन गमनक्रियायामुपकारकाऽसम्भवात् परमाणुर्लोकान्ते प्रतिहन्यते, स उपकाराऽभावप्रतिघात उच्यते, तथा विस्रसापरिणामपरिणतः कश्चित् परमाणुरत्यन्तशीघ्रगत्या गच्छन् तादृग्वेगवता आगच्छता केनचिदन्यतरपरमाणुना प्रतिस्खल्यते, स वेगप्रतिघातित्वेन प्रोच्यते, एवं विवक्षितैकस्मिन् परमाणौ प्रतिघातित्वाऽप्रतिघातित्वे वर्त्तेते, परं स्थूलदृष्ट्या परमाणुरप्रतिघातित्वेनैवोच्यते ॥ अयं परमाणुरेकाकाशप्रदेशाऽवगाही अस्ति, पूर्वोक्तस्वरूपाः परमाणवः संख्याता असंख्याता अनन्ता वा सूक्ष्मपरिणामपरिणता एकत्र सम्मिलितास्सन्ति तदा चर्मचक्षुषामगोचरा भवन्ति, अचित्तमहास्कन्धादिवत्, यदा ते एव अनन्ताः सन्त एकत्र सम्भूय बादरपरिणामस्कन्धत्वेन संभवन्ति तदा केचन स्कंधा दृष्टिपथं समायान्ति, एष सूक्ष्मपरिणामो बादरपरिणामो

वा न परमाणुषु गुणतयाऽवतिष्ठति, परं यदा परमाणूनां स्कंधो भवति तदा एकतरः परिणामः स्वयमुपजायत इति परमाणु-स्वरूपं लेशतो प्रदर्शितम्, दिङ्मात्रमेतत्, विशेषमधिजिगांसवः प्रौढतमान् ग्रन्थान्तरान् विलोकयन्तु ॥ ८ ॥

अजीवस्य चतुर्दशभेदानुक्त्वा द्रव्यषट्कमध्ये कतिद्रव्याण्यजीवस्वरूपाणि ? प्रत्येकद्रव्यस्य च कः स्वभाव इत्याविर्भावयितुमाह;—

धम्माऽधम्मा पुग्गल, नह कालो पंच हुंति अज्जीवा। चलणसहावो धम्मो, थिरसंठाणो अहम्मो य ९

टीका;—'धम्म' इति, धर्म्मास्तिकायः, अधर्म्मास्तिकायः, पुद्गलाऽस्तिकायः, नभ आकाशः तस्याऽस्तिकायः कालश्चेति पञ्चद्रव्याण्यजीवस्वरूपाणि जीवद्रव्येण सह षड् भवन्ति। पूर्वोक्ताऽजीवपञ्चकमध्ये विना पुद्गलद्रव्यं चत्वारि द्रव्याण्यमूर्त्तानि नैष्क्रियाणि च, पुद्गलद्रव्यं तु रूपि, रूपं 'रूपस्पर्शादिसन्निवेशो मूर्त्तिः' इति वचनात्, तदेषामस्तीति रूपिणः, तेषामेव रूपादिमत्त्वात्, रूपग्रहणं गन्धादीनामुपलक्षणम्, तद्व्यतिरेकेण तस्याऽसम्भवात् अनन्ताऽनन्तपरमाणुप्रचयरूपाः स्तम्भकुम्भादयस्स्कन्धाश्चर्म्मचक्षुर्ग्राह्याः, अचित्तमहास्कन्धादयस्तु चर्म्मचक्षुषा न दृश्यन्ते एकजीवस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः प्रदेशा धर्म्माऽधर्म्मास्तिकाययोः प्रत्येकं वर्त्तन्ते। आकाशोऽनन्ताऽनन्तप्रदेशात्मको लोकाऽलोकव्यापि च, पुद्गला पुनरनन्ता लोकव्यापिन एव, कालस्तु तत्त्वतो वर्त्तमानसमयरूप एव, अतो न देशप्रदेशकल्पना तस्य ॥ गाथापश्चार्धेनाऽथ धर्म्माऽधर्म्मयोर्लक्षणमाह—'चलण सहावो धम्मो' इत्यादि, गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां

गमनक्रियायां साहाय्यको धर्म्मोऽस्तिकायः, एवमेव स्थितिपरिणामभाजां जीवपुद्गलानां स्थितिकर्म्मणि साहाय्यकोऽधर्म्मोऽस्तिकायः । एतौ हि धर्म्माऽधर्म्मौ मनुजादीनां प्रयत्नादप्रयत्नाद्वा गतिस्थितिपरिणामपरिणतानां पदार्थानां लोके गतिस्थितिहेतू, अलोके पुनरनयोरभावात् सिद्धानामिन्द्रादिदेवानामपि गतिस्थिती न स्यातामित्यनयोस्सामान्येनाऽस्तित्वख्यापनम् । अत्र कश्चिदाशङ्कां कुरुते—ननु जीवपुद्गलेषु गतिस्थितिशक्तेरभावः ? यत एवमुच्यते यदेतौ धर्म्माऽधर्म्मावेव जीवपुद्गलानां गतिस्थिती कारयतः ? उच्यते, मैवं मन्येथाः, यतो न धर्म्माऽधर्म्मौ जीवपुद्गलानां हस्ताद्यवयवं धृत्वा प्रसह्य गतिस्थिती निर्वर्त्तयतः, जीवपुद्गलास्स्वयमेव गतिस्थितिसामर्थ्यभाजः, किन्तु पूर्वोक्तरीत्या उड्डयनशक्तिभाजो विहङ्गमस्य वायुः, तरणकुशलानां मत्स्यानामुदकं, आकर्णायतलोचनानामपि पुंसां दर्शनक्रियायां यथा पुष्पदन्तयोः प्रकाश उपकारकस्तथाऽत्राप्यवगन्तव्यम् । कस्मिँश्चिदपि कर्म्मणि कारणचतुष्कमपेक्षितम्, उपादानकारणं १ अपेक्षाकारणं २ निमित्तकारणं ३ असाधारणकारणञ्च ४ । कुंभकारो घटं निर्मिमीते तत्र मृत्तिका उपादानकारणम्, दण्डचक्रादिनिमित्तकारणं, चक्रभ्रमणमसाधारणकारणम्, आकाशाद्यपेक्षाकारणम्, एवमेतावपि धर्म्माऽधर्म्मौ जीवपुद्गलानां गतिस्थितिकर्म्मण्यपेक्षाकारणत्वेन समाख्यातौ । ९ ॥

एवं धर्म्माऽधर्म्मयोः स्वभावं कथयित्वाऽऽकाशाऽस्तिकायस्य स्वभावं पुद्गलस्य भेदचतुष्टयञ्च व्याचिख्यासुराचार्यो गाथान्तरमाह;—

अवगाहो आगासं, पुग्गलजीवाण पुग्गला चउहा खंधादेसपएसा, परमाणु चेव नायव्वा ॥ १० ॥

टीका—अवगाहन्ते गमनाऽऽगमनं कुर्वन्ति जीवपुद्गलादीनि यत्र सोऽवगाह अवकाश आकाश इत्यनर्थान्तरम् । पुद्गलजी-

वानामवगाहदानस्वभाव आकाशः, स च लोकाऽलेकप्रमाणपरिमितः स्कंध-देश-प्रदेशभेदभिन्नः प्राग्व्यावर्णितस्वरूपो धर्म्माऽधर्म्मजीवपुद्गलानामवगाहप्रदायको ज्ञातव्यः ॥ ' पुग्गला चउहा ' इत्यादि, पूरणगलनधर्म्माणः पुद्गलाः, इदं पुद्गलद्रव्यं चतुर्भेदभिन्नं, तद्यथा-स्कन्धः, देशः, प्रदेशः, परमाणुश्च, एतेषां भेदानां व्याख्या ' धम्माऽधम्म ' इति गाथायामनुपदमेवोक्ता तथाऽपि प्रसङ्गतोऽत्रापि लेशतः प्रदर्श्यन्ते, चतुर्दशरज्जुपरिमिते कटिविन्यस्तकरशाखपुरुषाकारे वैशाखसंस्थानीयेऽस्मिँल्लोकेऽञ्जनपेटायामञ्जनमिव सर्वत्र पुद्गला निचिताः, तत्र केचित् पुद्गलाः परमाणुस्वरूपा निर्विभाज्यभागलक्षणाः, केचिद् द्व्यादिपरमाणुमिलनाद् द्विप्रदेशिस्कन्धस्वरूपाः, त्रिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नास्त्रिप्रदेशिस्कन्धाः, एवं चतुःप्रदेशिनः पञ्चप्रदेशिनः शतप्रदेशिनः सहस्रप्रदेशिनः संख्यप्रदेशिनोऽसंख्यप्रदेशिनोऽनन्तप्रदेशिनः स्कन्धाः सुधिया विज्ञेयाः । परमाणूनां परस्परसंयोगाद्यः स्कंधः सञ्जायते तत्र संयोगे मुख्यवृत्त्या परमाणुवर्त्तिनी स्निग्धता रूक्षता च हेतुः, यत उक्तं पूज्यपादारविन्दैः श्रीमद्भिरुमास्वातिसूरिप्रकाण्डैस्तत्त्वार्थसूत्रे पञ्चमाध्याये;-" स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः, " इयं स्निग्धता रूक्षता वा कियत्प्रमाणा स्यात्, समाना अल्पा उताऽधिका, आधिक्यञ्चाऽल्पता कस्या इति विशेषाधिगमस्तत्त्वार्थटीकातोऽवसेयः, मन्दमतीनां बोधायाऽयं प्रयासः, यदि विस्तरस्स्यात्तदा प्रयासवैफल्यं भवेत् ॥ उक्तलक्षणेषु स्कंधेषु कस्यचिद्देशस्य कल्पनाऽथवा विवक्षितस्कंधादमुकविभागस्य ततो भेदः स देशः, तेष्वेव स्कन्धेषु देशेषु वा सम्बद्धो निर्विभाज्यभागलक्षणो यो विभागः स प्रदेश इति पुद्गलस्य चत्वारो भेदाः । नन्वजीवद्रव्याणां लक्षणव्यावर्णनप्रसङ्गे पुद्गलभेदकथनमयुक्तम् ? सत्यं, धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशद्रव्याणां तु भेदाः पूर्वं व्याख्याताः परं पुद्गलस्य भेदाः प्राङ्नोक्ता अत इदानीं कथनं नाऽयुक्तं, पुद्गलस्य

लक्षणं तु 'सद्दंधयारे' ति गाथायां, कालस्य च 'समयावलीमुहुत्ते' त्ति गाथायामग्रे स्फुटतया वक्ष्यमाणं तथाप्यत्राऽतिसंक्षेपेण लिख्यते;—वर्णगन्धरसस्पर्शशब्दान्धकाराऽऽदिलक्षणाः पुद्गलाः, वर्तनाऽऽतपवर्षादिहेतुश्च काल इति ॥ १० ॥

पुद्गलस्य भेदचतुष्कमभिधाय पुद्गललक्षणमाह;—

अङ्गीवतत्त्वे शब्दादि-पुद्गल-स्वरूपम्

सद्दंधयार उज्जोअ, पभाछया तवेहिया । वण्णगंधरसफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ ११ ॥

टीका;—'सद्दंधयारे' त्ति-शब्दान्धकारोद्योतप्रभाछायाऽऽतपवर्णगन्धरसस्पर्शाः पुद्गलानां परिणामाः पुद्गलद्रव्यस्य लक्षणत्वेन व्याख्यायन्ते, एभिश्शब्दादिभिः पुद्गलद्रव्यं लक्ष्यते, तस्मादेते पुद्गलस्य लक्षणभूता इति गाथाक्षरार्थः ॥ अथ शब्दादयः प्रत्येकं संक्षेपतो व्याख्यायन्ते । तत्र शब्दो-नादो-ध्वनिः-स्वर इत्यादयस्समानार्थाः, अयं शब्दः सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा, तत्र जीवेन मुखद्वारोच्चार्यमाणः शब्दः सचित्तः, द्वयोरश्मनोः परस्परं प्रतिस्खलनाद् यो जायते सोऽचित्तः, जीवप्रयत्नेन वाद्यमानस्य मृदङ्गादेर्यः शब्दः स मिश्रः, अथवा शुभाऽशुभभेदाभ्यां व्यक्ताऽव्यक्तभेदाभ्यां वा द्विप्रकारकश्शब्दः, यं शब्दं श्रुत्वा कर्णयोराह्लादस्सञ्जायते स शुभः राजहंसशुकपिकमयूरादीनामिव, यश्च कर्णकटुः खरोष्ट्रादीनामिव सोऽशुभः । द्वीन्द्रियप्रभृतीनां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां यश्शब्दस्तत्र व्यक्ताऽक्षराणामभावादव्यक्तः, मनुष्यादीनां शब्दस्य तु व्यक्ताऽक्षरात्मकत्वाद् व्यक्त इति भेदप्रभेदाः स्वप्रज्ञयाऽवगन्तव्याः । उक्तप्रकारेषु शब्देषु कश्चि-

१ कीरभारण्डादीन् वर्जयित्वेदं ज्ञेयं, यतस्ते स्पष्टाऽक्षरा वाचं ब्रुवते ॥

दपि शब्दोऽष्टस्पर्शैर्बादरपरिणामिपुद्गलस्कंधादुत्पद्यते। शब्दः स्वयं तु चतुःस्पर्शं पुद्गलस्कंधोऽस्ति, अष्टस्पर्शैर्बादरपरिणामिपुद्गलस्कंधेभ्यः तथाप्रकारकजीवप्रयत्नेन अथवा तेष्वष्टस्पर्शिस्कंधेषु तथास्वाभाव्याद्विकारात् तेष्वेव स्कंधेष्ववगाढा भाषावर्गणापुद्गलाः शब्दत्त्वपरिणामं संप्राप्योच्छलन्ति। सा भाषावर्गणा चतुःस्पर्शिपुद्गलस्कन्धलक्षणा, जीव औदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरैश्शब्दमुत्पादयति, न पुनस्तैजसकार्म्मणशरीराभ्यामुत्पादयितुं समर्थः, पुनर्नेजीवाऽश्मभ्योऽपि परस्पराऽऽस्फालनाद्यः शब्दस्सञ्जायते सोऽपि निर्जीवौदारिकदेहजन्य एव विज्ञेयः॥ नैयायिकास्तु शब्दमाकाशगुणत्त्वेन मन्यन्ते तथा च ख्यापयन्ति, पुनराकाशस्याऽमूर्त्तत्त्वादाकाशगुणभूतं शब्दमप्यमूर्त्तत्त्वेन वर्णयन्ति, परं तन्न समीचीनं युक्त्यसंगतत्त्वात् प्रत्यक्षबाधकत्त्वाच्च, तच्चैवम्;—शब्दो नाऽऽकाशगुणो नाऽप्यमूर्त्तः, मूर्त्तता च शब्दस्योच्चैर्मेघनिःस्वनेन सिंहक्ष्वेडितादिना अन्येन केनचिदप्युच्चैःशब्देन जायमानात् कर्णानां बधिरत्त्वात् सुप्रतीता, न चाऽमूर्त्तभूतेन शब्देनाऽऽस्फाल्यमानौ श्रवणौ बधिरत्त्वमापन्नौ पद्येते, उच्चैश्शब्देन कदाचिज्जीर्णभित्तिकगृहाण्यपि विशीर्णतामाप्नुवन्ति कदाचिद् गिरिशिखरणामपि निपतनं शास्त्रे श्रूयते, नाऽमूर्त्तशब्दस्यैतावती शक्तिः कल्प्यन्ते मेधाविभिः, अन्यच्च पाश्चात्यवैज्ञानिकसंशोधनानुसारेण 'वायरलेस–टेलिग्राफ–टेलिफोन–रेडियो–फोनोग्राफ' संज्ञकेषु यंत्रेषु शब्दस्य ग्राह्यत्त्वं प्रत्यक्षमनुबोभूयते, न च मूर्त्तिमतां पुद्गलानामन्तरेणाऽमूर्त्तानामाकाशधर्म्मादीनां ग्रहणं संभाव्यते, तस्मात् शब्दः पुद्गलगुणो मूर्त्तश्च। तत्त्वार्थवृत्तावपि चोक्तं;—शब्दः पुद्गलद्रव्यपरिणामः, तत्परिणामता चाऽस्य मूर्त्तत्त्वात्, मूर्त्तता च द्रव्यान्तरविक्रियाऽऽपादनसामर्थ्यात् पिप्पलाऽऽदिवत्, ताड्यमानपटहस्थकलैचादिप्रकम्पनात्, तथा शङ्खादिशब्दानामतिप्रवृद्धानां श्रवणबधिरीकरणसामर्थ्यम्, नाऽऽकाशादाव-

मूर्तेऽस्ति, तथा प्रतिघातित्वात् पर्वतप्रतिहताश्मवत्, द्वाराऽनुविधायित्वादातपवत्, संहारसामर्थ्यादगुरुधूपवत्, वायुना प्रेर्यमाणत्वात् तृणपर्णादिवत्, सर्वदिग्ग्राह्यत्वात् प्रदीपवत्, अभिभवनीयत्वात् तारासमूहादिवत्, अभिभावुकत्वात् सवितृमण्डलप्रकाशवत्, महता हि शब्देनाऽल्पोऽभिभूयते शब्द इति प्रतीतम्, तस्मात् पुद्गलपरिणामः शब्द " इति । शब्दस्याऽऽकाशगुणत्वाभावे—पुद्गलपरिणामत्वे वा विशेषं जिज्ञासुभिस्तत्त्वार्थसूत्रस्थं वादस्थलं विलोकनीयम् ॥

अंधकारः, तमः, तमसः, तिमिरमिति पर्यायाः, अंधं करोतीत्यन्धकारः, यथाकुड्याद्यावरणेन व्यवहितं वस्तु विशिष्टज्ञमन्तरेण जनेन न दृश्यते तथाऽन्धकाराऽऽवृतमपि पदार्थमाश्रवणदीर्घनेत्रोऽपि द्रष्टुं न पारयति, अतोऽन्धकारः पुद्गलपरिणामः, उक्तञ्चाऽन्यत्र;—" तमस्तावत्पुद्गलपरिणामो दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवदावारकत्वात् पटादिवत् " ॥ ननु च द्रव्यगुणकर्म्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भावाऽभावस्तमः, यदि चेदं द्रव्यं भवेत् तदाऽनित्यत्वाद् घटादिद्रव्यवन्निष्पद्येत, न च द्रव्यवन्निष्पद्यते, अमूर्त्तत्वादस्पर्शत्वात् प्रकाशविरोधादणुभिरकृतत्वाच्च, नाऽपि गुणः, गुणेन चाऽऽधारवत्त्वेनाऽवश्यं भाव्यं, अस्याऽऽधाराऽनुपलब्धेस्तु सुप्रतीता प्रकाशविरोधाच्च, कर्म्माऽपि न भवति, तदाऽऽश्रयाऽनुपलब्धेः संयोगविभागसंस्काराऽहेतुत्वात्, अतस्तेजसो यत्राऽभावस्तत्र तमः, तथा तेजसो द्रव्यान्तराऽऽवरणाच्च तमो भवतीति, अत्रोच्यते;—व्यवधानक्रियासामर्थ्यात् कुड्यावत्तमः पौद्गलम्, अमूर्त्तत्वाऽस्पर्शत्वपरमाण्वकृतत्वान्यसिद्धानि, मूर्त्तत्वादियोगात्तमसः, सत्यपि च मूर्त्तत्वादिमत्त्वे न स्पर्शादयोऽसदादिभिर्लक्ष्यन्ते, तमसस्तथाविधपरिणतिभाक्त्वात्, वातायनदृश्यरेणुस्पर्शादिवत्, यच्चोक्तं प्रकाशविरोधादिति न किल किञ्चित्कार्यद्रव्यं तैजसेन प्रकाशेन विरुध्यते, तमस्तु प्रकाशविरोधि तस्मान्न पृथिव्यादि कार्यं तम इत्येतदयुक्तम्, तेजःप्रका-

शये रेकत्वाऽभ्युपगमाज्जलद्रव्यं च विरोधकमित्यसिद्धार्थत्वैव, स्यादारेका निरन्तरं धारं वर्षति बलाहके प्रदीपेऽलेन्दकादि-व्यवस्थाप्तिः प्रद्योतत एव बर्हिः, यदि च विरोधः न बर्हिः प्रकाशे विभाव्येत जलपातेनाऽपनीतत्त्वादिति, अत्रोच्यते; प्रादीपाः पुद्गलास्ताथात्म्यमपरित्यजन्तो निःसृताः तथाविधताद्दबिन्दुसम्पर्कं द्विजहति, तत्समकालं चाऽपरे प्रदीपशिखया विकीर्णाः कृशाद्पुद्गलास्तमाकाशमश्नुवते, न च ते जलपातेन विध्यापयितुं शक्याः, परिणामवैचित्र्याद्वडवानलाऽवयवा इवेति, स्याद्वादिनां च किञ्चिद्द्रव्यं केनचित्सह विरुध्यते दध्यादि तैलादिना न तु गुडादिना, न च किञ्चिन्न विरुध्यते तैलं दध्यादिना, न च तस्य द्रव्यता हातुं पार्य्यते, अतः परिणतिक्रमविशेषात्तथाविधं परिणाममपहाय पुद्गलाः परिणामान्तरेण वर्त्तन्ते, पृथिव्यादिपरमाणुजातिनियमश्चाऽसिद्धः, सर्वेषां स्पर्शत्वे सति रूपादिमत्त्वात्, गुणक्रिययोश्च द्रव्यपरिणाममात्रत्वात् तदाऽऽधाराऽनुपलब्ध्याद्यप्यसिद्धमिति ॥

चन्द्र–ग्रह–नक्षत्र–तारक–रत्न–खद्योतप्रभृतीनां यः शीतः प्रकाशः स उद्योतः, जातवेदसे य उष्णस्वरूपः प्रकाशः स उद्योतत्त्वेन न भण्यते। अयमुद्योतश्चन्द्रादीनां विमानशरीरप्रभृतिभ्यः प्रतिसमयं निर्गच्छन् पुद्गलप्रवाहाऽऽत्मकोऽस्ति। वर्त्तमानकालेऽपि यथा इलेक्ट्रीकाख्यविद्युत्प्रदीपेभ्यो निर्गच्छन् रश्मिसमूहः प्रत्यक्षं दृष्टिपथमायाति, एवमुद्योतोऽपि पुद्गलप्रवाहाऽऽत्मकः प्रतिसमयं तत्तद्विमानेभ्यो निर्गच्छति, तथा चोक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ;—"उद्योतश्च चन्द्रिकादिराह्लादकत्वाज्जलवत् प्रकाशकत्वादग्निवत्, तथा अनुष्णाऽशीतत्वात् पद्मरागोपलादीनाम्, अतो मूर्त्तद्रव्यविकार उद्योतः" इति ॥ सूर्याचन्द्रमसोस्तथाप्रकारकाऽन्यतेजस्विपुद्गलानाञ्च प्रकाशरश्मिभ्यो निर्गच्छन् योऽन्य उपप्रकाशः सा प्रभेत्युच्यते, यतोऽप्रकाशस्थानवर्त्तिन्यपि-

घटपटादिद्रव्याणि सुखेन दृश्यन्ते, इयं प्रभाऽपि प्रकाशपुद्गलेभ्यो विरलतया निर्झरन्ती पुद्गलसमूहाऽऽत्मिका, प्रकाशपुद्गलेभ्यो यदि विरलतया प्रभापुद्गला न निर्गच्छेयुस्तदा प्रकाशस्थितानि द्रव्याणि विलोकयितुं शक्यन्ते, परं प्रकाशस्थानादन्यत्रवर्त्तीनि द्रव्याणि न विलोक्यन्ते, पुनः प्रभायाः पुद्गलस्वरूपत्वं न स्यात्तदा यत्र सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहनक्षत्रादीनामंशवो न प्रविशन्ति तत्र गृहादिस्थानेषु निरन्तरं गाढतिमिरया निशयैव भाव्यम्, न चैवं भवति, तस्मात्तेषां प्रकाशपुद्गलानां ये रश्मिलक्षणः प्रकाशस्तस्मात् प्रकाशाद् ये निशाऽभावस्वरूपोऽन्धकाराऽभावस्वरूपो वा य उपप्रकाशः सा प्रभेत्युच्यते ।

पुष्पदन्तयोः प्रकाशे आतपोद्योतलक्षणे आदर्शे जलाद्यच्छद्रव्येषु च दृश्यमानं यत् पुद्गलप्रतिबिम्बं तच्छायास्वरूपम् । सवितृमण्डलाद्यथा पुद्गलपरिणामात्मको रश्मिप्रवाहो निसृजति तथा बादरपरिणामिपुद्गलस्कंधेभ्योऽपि प्रतिसमयं 'फुवारा' ऽऽख्यजलनिर्झर इव तदाऽऽकारकसूक्ष्मस्कंधसमुदायो निर्गच्छति, प्रतिसमयं पुद्गलस्कंधेभ्यो निर्गच्छन् स सूक्ष्मस्कंधसमुदायो दिवाकरप्रभृतीनां प्रकाशे कृष्णवर्णतया पिण्डितो भवति, यत्समुदायो लोके 'छाया' इति नाम्नोच्यते । स एव बादरपरिणामिपुद्गलस्कंधेभ्य उत्पन्नः सूक्ष्मस्कंधसमुदाय आदर्शजलादिनिर्म्मलवस्तूनामाश्रयं संप्राप्य यादृग्बादरपरिणामिपुद्गलस्कंधस्वरूपं साक्षात्तादृगेव तेषु तेष्वत्यच्छद्रव्येषु दरीदृश्यते यल्लोके प्रतिबिम्बनाम्ना संकीर्त्यते, अतश्छायाऽपि पुद्गलपरिणामरूपा एव । वर्त्तमानसमयेऽपि आङ्गलदेशीयैर्या फोटोग्राफसंज्ञिका प्रतिकृतिर्निर्मितिर्निस्सारिता साऽपि छायायाः पुद्गलत्वं प्रत्यक्षीकरोति । छायायाश्च पुद्गलत्वे श्रीमद्धर्म्मलयगिरिसूरिपुरंदरैः प्रज्ञापनोपाङ्गटीकायामुल्लेखो व्यधायि स चैवम्;— " अथ किमात्मकं प्रतिबिम्बं ? उच्यते;—छायापुद्गलाऽऽत्मकं, तथाहि—सर्वमैन्द्रियकं वस्तु स्थूलं चयाऽपचयधर्म्मं रश्मिवच्च,

रश्मय इति छायापुद्गला व्यवह्रियन्ते ते च छायापुद्गलाः प्रत्यक्षत एव सिद्धाः, सर्वस्याऽपि स्थूलवस्तुनः छाया अध्यक्षतः
प्रतिप्राणि प्रतीतेः, अन्यच्च यदि स्थूलवस्तु व्यवहिततया दूरस्थिततया वा नाऽऽदर्शाऽऽदिष्ववगाढरश्मिर्भवति, ततो न तत्र
दृश्यते, तस्मादवसीयते सन्ति छायापुद्गला इति । ते च छायापुद्गलास्तत्तत्सामग्रीवशाद् वैचित्र्यपरिणमनस्वभावास्तथा हि;—
ते छाया पुद्गला दिवा वस्तुन्यभास्वरे प्रतिगताः सन्तः स्वसम्बन्धिद्रव्याकारमाबिभ्राणाः श्यामरूपतया परिणमन्ते
निशि तु कृष्णाऽऽभाः, एतच्च प्रसरति दिवसे सूर्यकरनिकरे निशि तु चन्द्रोद्योते प्रत्यक्षत एव सिद्धम्, त एव छायापरमाणव
आदर्शादिभास्वरद्रव्यप्रतिगताः सन्तः स्वसम्बन्धिद्रव्याकारमादधाना यादृग्वर्णः स्वसम्बन्धिनि द्रव्ये कृष्णो नीलः सितः
पीतो वा तदाभाः परिणमन्ते, एतदप्यादर्शाऽऽदिष्वध्यक्षतस्सिद्धम्" इति ॥ तत्त्वार्थवृत्तावप्युक्तम्;—"कथं पुनर्दर्पण-
तलादिषु प्रतिबिम्बं मुखादीनां सम्मुखमेव छायाऽऽकारेण परिणमते, न पराङ्मुखं, कथं वा कठिनमादर्शमण्डलं प्रतिभिद्य
मुखतो विनिर्गताः पुद्गलाः प्रतिबिम्बमाजिहत इति, यत्तावदुच्यते सम्मुखमेव प्रतिबिम्बमुदेति नान्यतो मुखमिति तत्र परि-
णामः स तादृशः पुद्गलानाम्, न हि तद्विषयः पर्यनुयोगः कर्तुं शक्यः, को हि नामाऽभिदध्यात् प्रेक्षापूर्वकारी पयः किमिति
दध्यादित्वेन परिणमते तृणगोभक्ष्यादयो वा क्षीरादित्वेनेति, किमत्र युक्त्या, तथा हि तं पश्यामो न च दृष्टेः किञ्चिदनुपप-
न्नम्, उपहास्यश्चैवमाचक्षाणो भवति, केन हेतुना वा चक्षू रूपं गृह्णाति, तस्मान्न परिणामः पर्यनुयोगाऽर्हः, येषामपि न
परिणामस्तेषामपि मुखाद्याश्रित्याऽनेकं कारणं प्रतिबिम्बोत्पादः सप्रतिघस्तेनाऽऽकारेण भवति नाऽन्येनेति तुल्यः पर्यनुयोगो
विधेयः, प्रतिभेदः पुनः कठिनशिलातलपरिश्रुतजलेनाऽयस्पिण्डेऽग्निपुद्गलप्रवेशेन शरीरात् प्रस्वेदवारिलेशनिर्गमनेन व्याख्येयः

प्रतिबिम्बोदयः शुचौ दर्प्पणेऽन्यत्र वा, अतश्छायादयः पुद्गलपरिणतिविशेषाः ” इति

दिवाकरविमानादुत्पद्यमानो य उष्णप्रकाशः स आतपः, सूर्यस्य विमानं स्वतः शीतं, तथाऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपस्याऽऽतपनामकर्म्मण उदयेन विमानस्थानां पृथिवीकायिकजीवानां प्रकाश उष्ण स्वरूपो भवति य आतप आतापो वा उच्यते। अयमातपः सूर्येन्द्रस्य न विद्यते किन्तु आतपनामकर्म्मोदयभाजां बादरपृथिवीकायिकजीवानां पिण्डात्मकस्य सूर्यविमानस्य। उष्णप्रकाशाऽऽत्मकोऽयमातपः सूर्यविमानस्थपृथिवीकायिकजीवानां पुद्गलस्वरूपेभ्य औदारिकशरीरेभ्यः पुद्गलप्रवाहस्वरूपतया निर्गच्छति, तस्माद्यत आतप उत्पद्यते स पुद्गलः आतपोऽपि पुद्गललक्षणः, यादृक्कार्यं यत्स्वरूपं च कारणं कार्यमपि तादृक् तत्स्वरूपमेव, ततस्सिध्यति आतपस्य पुद्गलत्वम् ॥ यदुक्तं “ आतपोऽपि तापकत्त्वात् स्वेदहेतुत्त्वादुष्णत्त्वादग्निवत् पुद्गलपरिणामजः ” ॥

वर्णोऽपि पुद्गलस्य लक्षणम्। पुद्गलद्रव्यं विरहय्य न वर्णादयोऽवतिष्ठन्ते, वर्णश्च कृष्ण–नील–रक्त–पीत–श्वेतभेदभिन्नः, पञ्चवर्णव्यतिरिक्ताऽन्ये वर्णाः पूर्वोक्तपञ्चवर्णाऽन्यतरयोर्द्व्यादिकयोर्वर्णयोर्मिलनेन सञ्जायन्ते, अतस्ते वर्णास्सान्निपातिका उच्यन्ते। आधुनिकवैज्ञानिकास्तु रक्त–पीत–नीलाऽऽख्यान् त्रीन् वर्णानेव मुख्यतयाऽन्यांश्च वर्णान् सान्निपातिकतया व्याचक्षन्ते, परं तत् सर्वज्ञाऽऽगमविरोधि, तस्मादुपेक्षितव्यम् ॥ एते वर्णादयो न द्रव्यस्वरूपाः किन्तु पुद्गलद्रव्यवर्त्तिगुणलक्षणाः, वर्णरसादीनां मूर्त्तद्रव्याऽऽधारत्त्वात् मूर्त्तत्त्वं स्फुटं यतो धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशप्रभृतिद्रव्यपट्के एकं पुद्गलद्रव्यं मूर्त्ति-

१ जीवद्रव्यस्याऽमूर्त्तत्त्वं तु तस्य शुद्धस्वरूपाऽपेक्षया ज्ञेयम् ॥

मदन्यानि सर्वाण्यप्यमूर्त्तानि, वर्णादयश्चेन्द्रियादिकरणैस्तेषु तेषु पुद्गलद्रव्येषु प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, अतः कारणात्तान् वर्णादीन् पुद्गलस्य लक्षणत्वेन बुधा जगदुः। पुद्गलद्रव्यस्थितः कृष्णवर्णाद्यात्मको गुण एकगुणाऽधिको द्विगुणाऽधिकस्त्रिगुणाऽधिक-स्संख्यगुणाऽधिकोऽसंख्यगुणाऽधिकोऽनन्तगुणाऽधिक इत्याद्यनन्तभेदभिन्नः, अल्पाऽधिकतारतम्येनाऽनन्तभेदयुक्त इत्यर्थः ? तथाहि;—लोकवर्त्तिनिखिलपरमाणुषु परमाणुसमूहजन्यद्विप्रदेशिस्कंधप्रभृत्यनन्तप्रदेशिस्कन्धपर्यन्तेषु च वर्णास्तिष्ठन्ति, तत्र जगति ये केचित्परमाणवस्तेषु प्रतिपरमाणु वर्णपञ्चकमध्यादेकतमो वर्णोऽवश्यं भवति, यस्मिन् परमाणौ विवक्षितसमये यो वर्णो दृष्टः स वर्णो नैरन्तर्येण न भवति, कालाऽन्तरेण वर्णाऽन्तरत्वं नियमेनोपजायते, जघन्यतः समयाऽन्तरे उत्कृष्टस्त्वसंख्यसमयाऽनन्तरं वर्णस्य परिवर्त्तनं सञ्जायते, अनेनेदमपि विज्ञायते यत् प्रतिपरमाणु प्रकटतयैकेन वर्णेन भूयते, परं सत्ताऽपेक्षया तु पञ्चभिरपि वर्णैस्तत्र स्थीयते; स्कन्धेषु तु निश्चयनयेन पञ्चवर्णास्सम्भवन्ति, व्यवहारेण यस्य वर्णस्य बाहुल्यं तद्वर्णवान् स स्कन्धः प्रोच्यत इति ॥

घ्राणेन्द्रियगोचरो यो गन्धः सोऽपि पुद्गलस्य लक्षणतया व्याख्यातः, यतो न हि धर्म्माऽधर्म्मादिष्वमूर्त्तद्रव्येषु तस्य सम्भवः, पुद्गलं विहाय नाऽन्यत्र गन्धस्य सद्भावः, एतादृक् पुद्गलद्रव्यमपि न विद्यते यत्र गन्धस्याऽभावत्त्वं स्यात्, ततो गन्धः पुद्गलस्य लक्षणम्। अयं गन्धो द्विधा—जनानामानन्दप्रदः सुगन्धः, विप्रियश्च दुर्गन्धः, प्रतिपरमाणु प्रकटतया द्वयोर्गन्धयोर्मध्ये एकतरो भवति, सत्ताऽपेक्षया तु द्वावपि, कालाऽन्तरे तयोः परावर्त्तनं जायते, यदा सुगन्धस्याऽऽविर्भावस्तदा दुर्गन्धस्य तिरोभावः, यदा दुर्गन्धस्याऽऽविर्भावस्तदा सुगन्धस्य तिरोभावित्त्वमवसेयं, स्कंधेषु समकालं द्वावपि स्तः, यस्य

वाहुल्यं तद्गन्धवान् स्कन्धो निगद्यते, एवं वर्णस्वरूपमेव निःशेषं विज्ञेयम् ॥

रसनेन्द्रियगोचरस्तिक्त–कट्वाऽऽम्ल–कषाय–मधुरादिभिन्नो यो रसः सोऽपि पुद्गलस्य लक्षणत्त्वेनाऽङ्गीक्रियते लब्धवर्णैः, पुद्गलद्रव्यं विरहय्याऽन्यत्र द्रव्येष्वस्य रसस्याऽसम्भव एव । परमाणौ स्पष्टतयैको रसः सत्ताऽपेक्षया तु रसपञ्चकमपि, स्कंधेषु तु पञ्चानामपि निश्चयेन सम्भवः, यस्याऽऽधिक्यं तस्य प्राधान्यं बोध्यम् । द्विगुणाधिकत्त्व–संख्येयगुणाधिकत्त्वा–ऽसंख्येयगुणाऽधिकत्त्वाऽनन्तगुणाधिकत्त्वहीनत्त्वादितारतम्यं तु सर्वेष्वपि स्कन्धेषु वर्णरसगन्धस्पर्शाऽपेक्षयेत्थं स्वधिया ॥

स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यो यो विषयः स स्पर्शाऽभिधानः, स च शीतोष्ण–स्निग्धरूक्ष–गुरुलघु–मृदुकर्कशभेदैरष्टप्रकारः, अमी शीताऽऽदयस्स्पर्शा धर्माऽस्तिकायाऽऽदिषु द्रव्येषु न भवन्ति, अमूर्तत्त्वात्तेषां, स्पर्शाश्च गुणाः, गुणत्त्वेन साऽऽधारेणैव भवितव्यं तैः, ततः पुद्गलद्रव्यमेव तेषामधिकरणं, ते च स्पर्शादयस्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य लक्षणभूताः, यतो नहि पुद्गलद्रव्यं विरहय्याऽन्यत्र तेषां स्थितिः । प्रतिपरमाणु समकालं शीतोष्ण–स्निग्धरूक्षस्पर्शेभ्यः परस्पराविरोधिनौ द्वौ स्पर्शौ भवतः । यथा शीतस्निग्धौ, शीतरूक्षौ, उष्णस्निग्धौ, उष्णरूक्षौ वा, भिन्नभिन्नकालाऽपेक्षया सत्ताऽपेक्षया वा शीतोष्णस्निग्धरूक्षाख्याश्चत्वारोऽपि स्पर्शाः सम्भवन्ति । तथा चोक्तं श्रीतत्त्वार्थटीकायां;—" अष्टविधः स्पर्शो भगवद्भिरुक्तः स्कन्धेषु यथासम्भवं, परमाणुषु पुनश्चतुर्विधः स्पर्शो नाऽन्यः, स च शीतोष्णस्निग्धरूक्षाख्यः, तत्राऽप्येकपरमाणौ परस्पराऽविरोधिद्वयं समस्ति " इति । बृहच्छतके तु लघुमृदुस्पर्शावपि परमाणौ अपरावृत्तिभावेनाऽवस्थितौ इत्युक्तं, अतस्तेषां मते परमाणुषु युगपच्चतुर्णामपि स्पर्शानां संभवः सञ्जातः, सत्ताऽपेक्षया योग्यतया वा षट् स्पर्शा अपि । तथा औदारिकवर्गणाऽर्वाग् व्द्यणुकादिस्कंधेषु समकालं चत्त्वारः स्पर्शाः,

तत औदारिकवैक्रियाऽऽहारकवर्गणायोग्यपुद्गलस्कंधेष्वष्टस्पर्शाः सम्भवन्ति, ततोऽप्यग्रवर्त्तिन्यस्तैजस–भाषा–ऽऽनप्राण–मनः–कार्मणवर्गणाश्चतुःस्पर्शाऽऽत्मिकाः सूक्ष्मपरिणामपरिणताश्चेति ॥ इत्येवं लेशतो व्याख्याताश्शब्दाऽन्धकारोद्योतप्रभाछायाऽऽतपाः पुद्गलविकाराऽऽत्मका वर्णरसगन्धस्पर्शाश्च पुद्गलस्थितगुणस्वरूपा भावनीयाः ॥ ११ ॥

एवं पुद्गलस्य विकाराऽऽत्मकं गुणाऽऽत्मकञ्च लक्षणं प्रतिपाद्याऽथ कालस्य भेदाऽऽत्मकं लक्षणं द्वाभ्यां गाथाभ्यां प्रदर्श्यते;—

एगाकोडिसतसट्ठि, लक्खा हुत्तरी सहस्सा य। दो य सया सोलहिया, आवलिया इग मुहुत्तम्मि १२

टीका;—'एगे' त्ति—एकाकोटि सप्तषष्टिर्लक्षाः सप्तसप्ततिसहस्रा द्वे शते षोडशाऽधिके संख्याका आवलय एकस्मिन् मुहूर्त्ते सञ्जायन्ते ॥ १२ ॥

समयाऽऽवलीमुहुत्ता, दीहा पक्खा य मास वरिसा य
भणिओ पलिया सागर, उसप्पिणि सप्पिणि कालो १३

टीका;—'समये' त्ति—समयः परमनिकृष्टकालः, पुद्गलेषु यथा परमाणुर्निर्विभाज्यविभागस्वरूपस्तथा कालद्रव्ये समयोऽपि निर्विभाज्यभागाऽऽत्मकः, समयान्नास्ति सूक्ष्मः कालः, असंख्यैः समयैरेकाऽऽवलिका, षट्पञ्चाशदधिकद्विशताऽऽवलिकाभिरेकः क्षुल्लकभवः, षट्त्रिंशदधिकपञ्चशतपञ्चषष्टिसहस्रक्षुल्लकभवैरेकं मुहूर्त्तं घटिकाद्वयप्रमाणं, त्रिंशद्भिर्मुहूर्त्तैर्दिवसः, पञ्चदशभिर्दिनैरेकः पक्षः, द्वाभ्यां पक्षाभ्यां मासः, द्वादशभिर्मासैर्वर्षः, असंख्यवर्षात्मकं पल्योपमं, दशकोटाकोटिपल्योपमैरेकं सागरो-

पमम्, दशकोटाकोटिसागरोपमपरिमिता एका उत्सर्पिणी, उत्सर्पिणीतुल्यास्त्ववसर्पिणी, एषः सर्वोऽपि कालः सूर्यगतिक्रियापरिच्छिन्नो ज्ञातव्य इति संक्षेपार्थः॥ व्यासाऽर्थस्त्वयम्;—कालो निश्चयव्यवहारभेदाभ्यां द्विविधस्तत्र वर्त्तनादिपर्यायलक्षणो वर्त्तमानसमयमात्रप्रमाणो वा नैश्चयिकः कालः प्राग्व्यावर्णितस्वरूपः, समयाऽऽवलिकामुहूर्त्तादिभेदभिन्नो व्यवहारकालः पुष्पदन्तयोर्नियतया गत्या परिमीयते, यतो दिवस–तिथि–मास–वर्षादिनामुत्पत्तिर्ज्योतिष्चक्रस्य परिभ्रमणेनैव सञ्जायते, तत्र यस्य कालस्याऽथ विभागो न भवेदेतादृगत्यन्तसूक्ष्मकालः स समयः, यथा कश्चिद्वीर्यवान् युवा निशितभल्लस्य तीक्ष्णधारया कमलानां शतं युगपदेव छिनत्ति, तत्र छेदनसमये पत्रात् पत्रान्तरं गच्छतो भल्लस्याऽसंख्यातसमयाः संजायन्त इति ज्ञानिना दृष्टम्। वीर्योदग्रो जीवस्त्वेवं मनसि हर्षायते यन्मया क्षणमात्रेणैतत् कमलानां शतं छिन्नं, परं तत्राऽपि पूर्वोक्तरीत्याऽसंख्यातसमयाऽऽत्मकः कालो भवति। यद्वा कस्यचिज्जीर्णतमस्य वाससो विदारणे तन्तोस्तन्त्वान्तरस्य यद् विदारणं तत्राऽप्यसंख्यातसमया भवन्ति, निर्विभाज्यभागलक्षणः परमनिकृष्टः कालः स समयनाम्ना सर्वज्ञसमये निगद्यत इति तत्त्वम्। पूर्वोक्तस्वरूपैरसंख्यातसमयैरेका आवलिका निष्पद्यते, एकस्यामावलिकायामसंख्यातसमयास्संभवन्तीत्यर्थः, केषाञ्चित्सूक्ष्मनिगोदजीवानामायुः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाऽऽवलिकाप्रमाणं, तस्मात् स क्षुल्लकभव इति प्रोच्यते, लोकवर्त्तिजीवानामायुः क्षुल्लकभवान्न्यूनं न विद्यते। ४४४६ २४५८/३७७३ आवलिकानामेकःप्राणोऽथवा श्वासोच्छ्वासो निष्पद्यते, अत्र निरामयस्य यूनः पुरुषस्य यः श्वासोच्छ्वासः स प्राणत्त्वेन विज्ञेयः, सामयस्य तु नियतत्त्वाऽभावान्न गण्यते, तथा चोक्तं;—"हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो एगे ऊसासनीसासे एस पाणु त्ति वुच्चइ" ॥१॥ सप्तभिः प्राणैरेकस्स्तोकः, सप्तभिस्स्तोकैरेको लवः, लवानां सप्तसप्तत्या एको मुहूर्त्तः,

एकस्मिन् श्वासोच्छ्वासरूपे प्राणे साधिकसप्तदशक्षुल्लकभवानां निष्पत्तिः, एकस्मिन् मुहूर्त्ते तु षट्त्रिंशदधिकपञ्चशतातिरिक्तप- पञ्चषष्टिसहस्रसंख्याकाः (६५५३६) क्षुल्लकभवा भवन्ति, तथा च प्रत्यपादि बृहत्संग्रहण्यां;—" पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा । आवलियाणं दोसय छपन्ना इग खुड्डभवे " ॥ १ ॥ पुनर्नवसमयादारभ्य समयन्यूनमुहूर्त्तं यावत् सर्वोऽपि कालोऽन्तर्मुहूर्त्ताऽभिधानः, अतोऽन्तर्मुहूर्त्तमप्यसंख्यप्रकारं, नवसमयपरिमितं जघन्यं, दशसमयादारभ्य द्विसमयेनमुहूर्त्तं यावन् मध्यमं, समयोनमुहूर्त्तप्रमाणमुत्कृष्टम् ॥ पुनरिदं मुहूर्त्तं चन्द्रमुहूर्त्त-सूर्यमुहूर्त्तभेदाभ्यां द्विधा, लोके तु त्रिंशन्मुहूर्त्तात्मके देवस इति यद्व्यवह्रियते तत्र चान्द्रमुहूर्त्तैरेव व्यवहारः, किञ्चिन्न्यूनसार्धत्रयोदश (१३$\frac{२}{८}$) चान्द्रमुहूर्त्तैरेकं सूर्यमुहूर्त्तं निष्पद्यते, अनेन सूर्यमुहूर्त्तेण लोके व्यवहारो न प्रचलति । त्रिंशद्भिश्चान्द्रमुहूर्त्तैरेको देवसः सञ्जायते, सोऽपि चान्द्रदेवस-सौरदेवसभेदाभ्यां द्विविधः, तत्र त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणः षष्टिघटिकापरिमितो वा देवसः स सूर्यदेवसाऽऽख्यः, किञ्चिदधिक-सार्धैकेन त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणा चन्द्रकलानां हानिवृद्धिभ्यामुत्पद्यमाना या तिथिः स चान्द्रदेवसः, लोके सूर्यदिवसोऽहोरात्र-नाम्ना चान्द्रदेवसश्च तिथित्वेन भण्यते । एकस्मिन् पक्षे पञ्चदशदिनानि पञ्चदशनिशाश्च भवन्ति, पूर्वव्यावर्णितस्वरूपैः पञ्चदशदिनैरेकः सूर्यपक्षः, पञ्चदशतिथिभिश्चैकश्चान्द्रपक्षः, लोकैस्तु चान्द्रपक्षेनैव व्यवहारो विधीयते । द्वाभ्यां पक्षाभ्यामेको मासः, सोऽपि पञ्चविधस्तद्यथा;—त्रिंशद्भिरहोरात्रैरेक ऋतुमासोऽथवाऽपरनाम्ना कर्म्ममासः, २९$\frac{३२}{६२}$ अहोरात्राणामेकश्चान्द्रमासः, २७$\frac{२१}{६७}$ अहोरात्राणामेको नक्षत्रमासः, ३१$\frac{२१}{१२४}$ अहोरात्राणामेकोऽभिवर्धितमासः, सार्धत्रिंशदहोरात्राणामेकः सूर्यमासः, लोकैस्तु २९$\frac{३२}{६२}$ अहोरात्राणां संपूर्णत्रिंशत्तिथिस्वरूपे यश्चान्द्रमासस्तेनैव व्यवह्रियते, तथा षड्भिर्मासैरेकं सूर्या-

ऽयणं, तदपि त्र्यशीत्यधिकशताऽहोरात्रप्रमाणं, सूर्यायणं दक्षिणायनोत्तरायणात्मकभेदाभ्यां द्विधा विभक्तम्। चान्द्रायणं तु १२ ४४/६७ अहोरात्राणां भवति, परं लोकव्यवहारे चान्द्रायणस्य न विद्यते प्रयोजनम्, सूर्यायणमेव व्यावहारिकम्। तथा द्वादशभिर्मासैरेकः संवत्सरः, सोऽपि मासभेदवत् पञ्चधा, तद्यथा;—३६० अहोरात्राणामेकः ऋतुसंवत्सरः कर्म्मसंवत्सरो वा, ३६६ अहोरात्राणामेकः सौरसंवत्सरः, ३५४ १२/६२ अहोरात्राणामेकश्चान्द्रसंवत्सरः, ३२७ ५१/६७ अहोरात्राणामेको नक्षत्रसंवत्सरः, ३८४ ४४/६२ अहोरात्राणामेकोऽभिवर्धितमाससंवत्सरः। तथा पञ्चभिः सौरवर्षैरेकं युगं, चतुरशीतिलक्षसंवत्सरैरेकं पूर्वाङ्गं, चतुरशीतिलक्षपूर्वाङ्गैः (७०५६०००००००००० सौरसंवत्सरैः) एकं पूर्वं, चतुरशीतिलक्षपूर्वैरेकं त्रुटिताङ्गम्, एतत्प्रमाणमायुरासीत् श्रीयुगादिजिनेशस्य। चतुरशीतिलक्षत्रुटिताङ्गैरेकं त्रुटितं, इत्येवमडडाङ्गाऽ–डडाऽ–ववाङ्गाऽ–वव–हुहुकाङ्ग–हुहुक–उत्पलाङ्ग–उत्पल–पद्माङ्ग–पद्म–नलिताङ्ग–नलिन–अर्थनिपुराङ्ग–अर्थनिपुर–अयुताङ्ग–अयुत–नयुताङ्ग–नयुत–प्रयुताङ्ग–प्रयुत–चूलिकाङ्ग–चूलिका–शीर्षप्रहेलिकाङ्ग–शीर्षप्रहेलिका इति सर्वसंख्याः पूर्वपूर्वसंख्याऽपेक्षया चतुरशीतिलक्षगुणिता ज्ञेयाः, सिद्धान्तैस्तत्पर्यन्ता संख्यामर्यादा प्रदर्शिता, इतोऽग्रवर्त्तिन्यः संख्याः पल्योपमसागरोपमाद्यभिधाः, ताश्च पल्यस्योपमानेन प्रदर्श्यन्ते, तच्चैवम्;—धान्यपल्यवत्पल्यस्तेनोपमा यस्य कालप्रमाणस्य तत् पल्योपमम्, तत्त्रिधा—उद्धारपल्योपमम्, अद्धापल्योपमम्, क्षेत्रपल्योपमञ्च, तत्र वालाऽग्राणां तत्खण्डानां वा प्रतिसमयमुद्धरणमुद्धारस्तद्विषयं तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमं १। अद्धा कालः स च प्रस्तावाद्वालाऽग्राणां तत्खण्डानां वोद्धरणे प्रत्येकं वर्षशतलक्षणस्तत्प्रधानमद्धापल्योपमम् २। क्षेत्रमाकाशप्रदेशरूपं तत्प्रधानं क्षेत्रपल्योपमम् ३। पुनरेकैकं द्विधा, बादरं सूक्ष्मं, तत्राऽऽयामविस्तराभ्यामवगाहेन चोत्सेधा-

ऽङ्गुलनिष्पन्नैकयोजनप्रमाणो वृत्तत्वाच्च परिधिना किञ्चिन्न्यूनषड्भागाऽधिकयोजनत्रयमानः पल्यो मुण्डिते शिरसि एकाऽह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कर्षतस्सप्तभिरहोरात्रैः प्ररूढानि यानि वालाऽग्राणि तैः प्रचयविशेषान्निबिडतरमाकीर्णं तथा भ्रियते यथा तानि वालाऽग्राणि वह्निर्न दहति, वायुर्नापहरति, जलं न कोथयति, ततः समये समये एकैकवालाऽग्राऽपहारेण यावता कालेन स पल्यः सकलोऽपि सर्वाऽऽत्मना निर्लेपो भवति, तावान् कालः संख्येयसमयमानो बादरमुद्धारपल्योपमम्, एतेषां च दशकोटिकोट्यो बादरमुद्धारसागरोपमम्, महत्त्वात् सागरेण समुद्रेणोपमा यस्येति कृत्वा, बादरे च प्ररूपिते सूक्ष्मं सुखाऽवसेयं स्यादिति बादरोद्धारपल्योपमसागरोपमयोर्निरूपणं, न पुनरनयोर्निरूपणेऽन्यद्विशिष्टफलमस्ति, एवं बादरेष्वद्धा-क्षेत्र-पल्योपमसागरोपमेष्वपि वक्तव्यम्। तथा एकैकस्य वालाऽग्रस्याऽसंख्येयानि खण्डानि कृत्वा पूर्ववत्पल्यो भ्रियते, तानि च खण्डानि द्रव्यतः प्रत्येकमत्यन्ताच्छलोचनछद्मस्थो यदतीव सूक्ष्मं पुद्गलद्रव्यं चक्षुषा पश्यति तदसंख्येयभागमात्राणि, क्षेत्रतस्तु सूक्ष्मपनकशरीरं यावति क्षेत्रेऽवगाहते ततोऽसंख्येयगुणानि, बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकशरीरतुल्यानीति वृद्धाः, ततः प्रतिसमयमेकैकखण्डाऽपहारेण सकलो निर्लेपनाकालः संख्येयवर्षकोटिप्रमाणः सूक्ष्ममुद्धारपल्योपमं, तद्दशकोटिकोट्यः सूक्ष्ममुद्धारसागरोपमम्, आभ्यां सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां द्वीपाः समुद्राश्च मीयन्ते तथा वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते पूर्वोक्तपल्यादेकैकवालाग्राऽपहारेण निर्लेपकालः संख्येयवर्षकोटिमानो बादरमद्धापल्योपमं, तद्दशकोटिकोट्यो बादरमद्धासागरोपमम्। तथैव वर्षशतेन वर्षशतेन एकैकवालाऽग्राऽसंख्येयतमखण्डाऽपहारेण निर्लेपनाकालोऽसंख्यातवर्षकोटिमानः सूक्ष्ममद्धापल्योपमं, तद्दशकोटिकोट्यस्सूक्ष्ममद्धासागरोपमम्, तद्दशकोटिकोट्योऽवसर्पिणी, एतावत्प्रमाणा उत्सर्पिण्यपि, उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वये रेकं

S U A A L A N A V A T A T V A

कालचक्रं, अनन्तानि कालचक्राण्येकः पुद्गलपरावर्त्तः, अनन्ताः पुद्गलपरावर्त्ता अतीताद्धा, तथैवाऽनागताऽद्धाऽपि। आभ्यां च सूक्ष्माद्धापल्योपमसागरोपमाभ्यां सुरनारकनरतिरश्चां कर्म्मस्थितिर्भवस्थितिः कायस्थितिश्च मीयते। तथा प्राग्वत् पल्याद्वालाग्रस्पृष्टनभःप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकाऽपहारेण(स्पृष्टनभःप्रदेश)निर्लेपनाकालोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानो बादरं क्षेत्रपल्योपमं, तद्दशकोटीकोट्यो बादरं क्षेत्रसागरोपमं, तथैवाऽसंख्यातखण्डीकृतवालाग्रैः स्पृष्टानामस्पृष्टानां च नभःप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकाऽपहारेण निर्लेपनाकालो बादरासंख्येयगुणकालप्रमाणं सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमम्, प्राग्वत् तद्दशकोटीकोट्यः सूक्ष्मक्षेत्रसागरोपमश्च, एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमसागरोपमाभ्यां प्रायो दृष्टिवादे प्रमाणचिन्तायां प्रयोजनं सकृदेव नाऽन्यत्रेति ॥ इति पल्योपमसागरोपमस्वरूपम् ॥ उक्तस्वरूपैर्दशकोटाकोटिसूक्ष्माद्धासागरोपमैरेका उत्सर्पिणी, तावत्प्रमाणा चैकाऽवसर्पिणी, एकैकस्यामुत्सर्पिण्यामवसर्पिण्याश्च षडारकाः सन्ति, तत्रादावसर्पिण्यां तावत् प्रथमः सुषमसुषमनामक आरकश्चतुःकोटाकोटिसागरोपमप्रमाणः, सुषमाख्यो द्वितीयाऽऽरकः त्रिकोटाकोटिसागरप्रमाणः, सुषमदुःषमाहस्तृतीयाऽऽरको द्विकोटाकोटिसागरोपममानः, दुःषमसुषमसंज्ञश्चतुर्थाऽऽरको द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रन्यूनैककोटाकोटिसागरोपममानः, दुःषमनामा पञ्चमाऽऽरक एकविंशतिवर्षसहस्रपरिमितः, षष्ठो दुःषमदुःषमनामाऽन्यो तावद्वर्षप्रमाणः, एवमुत्सर्पिण्यामपि आरकषट्कं विज्ञेयं, नवरं तत्र व्युत्क्रमेण आरका भवन्ति, यथा प्रथमो दुःषमदुःषमः, द्वितीयो दुःषम इत्यादि। उत्सर्पिणीकालः शुभमेधाऽऽयुर्बलादिभिः क्रमेण वर्धमानः, अवसर्पिणीकालश्च तैरेव लक्ष्मीमेधाऽऽयुर्बलादिभिः क्रमेण हीयमानः । उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमुदायाऽऽत्मको विंशतिकोटाकोटिसागरोपमप्रमाणः कालः कालचक्राऽभिधानः सिद्धान्ते प्रोच्यते। गाथाऽन्तर्वर्त्ति यः

कालशब्दस्तेन 'कालचक्रम्' इत्यर्थो गृह्यते, समयपर्यायः कालोऽपि गृह्यते च । ऽऽचार्यपुरंदरैर्हेमचन्द्रपादैः—
"कालो द्विविधोऽवसर्पिण्युत्सर्पिणीविभेदतः । सागरकोटिकोटीनां विंशत्या स समाप्यते ॥ १ ॥ अवसर्पिण्यां षडरा, उत्सर्पिण्यां त एव विपरीताः । एवं द्वादशभिररैर्विवर्त्तते कालचक्रमिदम् ॥ २ ॥ तत्रैकान्तसुषमारश्चतस्रः कोटिकोटयः । सागराणां सुषमा तु तिस्रस्तत्कोटिकोटयः ॥ ३ । सुषमदुःषमा ते द्वे, दुःषमसुषमा पुनः । सैका सहस्रैर्वर्षाणां द्विचत्वारिंशतोनिता ॥ ४ ॥ अथ दुःषमैकविंशतिरब्दसहस्राणि तावती तु स्यात् । एकान्तदुःषमाऽपि ह्येतत्संख्याः परेऽपि विपरीताः । ५ । प्रथमेऽरत्रये मर्त्यास्त्रिद्व्येकपल्यजीविताः । त्रिद्व्येकगव्यूत्युच्छ्राया स्त्रिद्व्येकदिनभोजनाः । ६ ॥ कल्पद्रुफलसंतुष्टाश्चतुर्थे त्वरके नराः । पूर्वकोट्यायुषः पञ्चधनुःशतसमुच्छ्रयाः ॥ ७ ॥ पञ्चमे तु वर्षशतायुषः सप्तकरोच्छ्रयाः । पुनः षोडशाब्दायुषो हस्तसमुच्छ्रयाः ॥८॥ एकान्तदुःखप्रचिता उत्सर्पिण्यामपीदृशाः । पश्चानुपूर्व्या विज्ञेया अरेषु किल षट्स्वपि ॥९ ।" इति । अथवाऽतीताऽनागतवर्त्तमानभेदैस्त्रिविधोऽपि कालः, तत्राऽतीताऽनागतावनन्तसमयाऽऽत्मकौ, वर्त्तमानस्त्वेकसमयाऽऽत्मकः, अतीतकालाऽपेक्षयाऽनागतकालेऽनन्तगुणः, अथवा द्वावप्यनागताऽतीतौ तुल्याविति मतद्वयमपि भिन्नभिन्नयुक्त्या सम्यग् भाति, तत्त्वं तु केवलिगम्यम् ॥

उक्तस्वरूपोऽयं व्यावहारिककालोऽमूर्त्तः सार्धद्वयद्वीपाऽन्तवर्त्ती एव, यतो न सार्धद्वयद्वीपबहिर्भूतं ज्योतिष्चक्रं भ्रमणात्मिकां गतिक्रियां कुरुते, कालस्य समयाऽन्तर्मुहूर्त्तादिपरिवर्त्तनं तु ज्योतिष्चक्रभ्रमणपरिच्छिन्नम्, तस्मात् सार्धद्वयद्वीपबहिर्वर्त्तिषु द्वीपसमुद्रेषु मास–संवत्सरा–ऽयन–युगादिव्यवहारो न प्रचलति, यत्र कुत्रचिद्दिवसस्तत्र नैरन्तर्येण दिवसः, यत्र

रात्रिस्तत्र रात्रेरेव, ततः सर्वार्द्धसिद्धेषु देवलोकेषु सप्तनरकपृथ्वीषु इत्यादिस्थानेषु आयुःप्रभृतेर्यः सर्वव्यवहारो भवति स सार्धद्वयद्वीपान्तर्वर्तिपुष्पदन्तयोः परिभ्रमणस्वरूपया गत्या एव प्रचलति, उक्तञ्च;–" लोगाऽणुभजणीयं जोइसचक्कं भणंति अरिहंता । सव्वे कालविसेसा जस्स गइविसेसनिप्फन्ना " ॥ १ ॥ ॥ १३ ॥

त्रयोदशगाथाभिर्जीवद्रव्यस्य पश्चाऽजीवद्रव्याणाञ्च पृथक् पृथक् स्वरूपं व्याख्यायेदानीं मध्येद्रव्यषट्कं किं द्रव्यं परिणामित्वादिभिः कतिभिः पर्यायैर्युक्तमिति प्रश्नावकाशं मनसि निर्धार्य तस्य समाध्यर्थमिमां वक्ष्यमाणां गाथामाचार्य आह;—

परिणामि–जीव-मुत्तं, सपएसा-एग खित्त–किरिया य निच्चं-कारण-कत्ता, सव्वगय-इयर अप्पवेसे १४

टीका;—' परिणामि, ' त्यादि; द्रव्यषट्कमध्ये निखिलानि द्रव्याणि परस्परं समानधर्मीणि उताऽन्यथा ? इति विवेचयितुं परिणामीत्यादीनि सप्रतिपक्षानि द्वादश द्वाराणि प्रोच्यन्ते, तद्यथा;–षट्सु द्रव्येषु कति द्रव्याणि परिणामीनि, कति चाऽपरिणामीनि ? (१) कति जीवाऽऽत्मकानि कति चाऽजीवलक्षणानि ? (२) कानि मूर्त्तानि कान्यमूर्तानि ? (३) कानि द्रव्याणि सप्रदेशानि कानि च प्रदेशवर्जितान्यखण्डस्कंधाऽऽत्मकानि ? (४) कति द्रव्याणि एकत्वसंख्याभाञ्जि कति चाऽनेकत्वसंख्योपेतानि ? (५) षट्सु द्रव्येषु कति द्रव्याणि क्षेत्रस्वरूपाणि (आधारस्वरूपाणि) कति च क्षेत्रलक्षणानि (आधेयाऽऽत्मकानि) ? (६) कति सक्रियाणि कति चाऽक्रियाणि ? (७) कति नित्यानि कति चाऽनित्यानि ? (८) कति द्रव्याणि द्रव्यान्तराणां क्रियाऽन्तराणां कारणस्वरूपाणि, कति च कारणस्वरहितानि ? (९) कति द्रव्याणि कर्त्तृलक्षणानि कति च कर्त्तृस्व-

वियुतानि ? (१०) द्रव्यषट्के कति द्रव्याणि सर्वव्यापीनि कति च देशव्यापीनि ? (११) कति च सप्रदेशित्वोपेतानि कति चाऽप्रदेशित्वधर्मयुक्तानि ? (१२) इति द्रव्याणां परस्परेण साधर्म्यमवगन्तुमियं गाथा प्रकटिता ॥ अथैतेषां द्रव्यक्रमेण परिणामित्वाऽपरिणामित्वप्रभृतीनामनुयोगद्वाराणां विवरणं लिख्यते, पूर्वं तावत्परिणामशब्दो विव्रियते;—परिणमनं परिणामः, तत्र द्रव्याऽस्तिकनयमतेन परिणमनं नाम यत्कथञ्चित् सदेवोत्तरपर्यायरूपमवस्थाविशेषादवस्थाऽन्तरगमनं धर्मान्तरमधिगच्छति, न च पूर्वपर्यायस्य सर्वथाऽवस्थानं नाप्येकान्तेन विनाशः, उक्तं प्रज्ञापनाटीकायाम्—"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः" ॥ १ । पर्यायाऽस्तिकनयमतेन पुनः परिणमनं पूर्वसत्पर्यायाऽपेक्षया विनाश उत्तरेण चाऽसता पर्यायेण प्रादुर्भावः, तथाचाऽमुमेव नयमधिकृत्याऽन्यत्रोक्तम्;—"सत्पर्यायेण विनाशः प्रादुर्भावोऽसद्भावपर्ययतः । द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तःखलु पर्ययनयस्य" । १ ॥ स च जीवपरिणामाऽजीवपरिणामाभ्यां द्विविधः, द्रव्येषु षट्सु जीवात्मकं जीवद्रव्यं, अन्यान्यजीवस्वरूपाणि, अजीवाऽऽत्मकेषु द्रव्येषु केवलं पुद्गलद्रव्यमेव परिणामि, इतराण्यशेषाण्यपि अजीवरूपाणि धर्म्माऽधर्म्मादीनि परिणामवियुतानि अवस्थाऽन्तरगमनाऽभावात्,

१ एतेषां धर्म्माऽधर्म्मादीनां यदपरिणामित्वं प्रत्यपादि तन्निश्चयनयापेक्षया, अन्यथाऽऽपेक्षिकं तु तेषामपि परिणामित्वं, यथा कश्चिन्नरा कस्मिंश्चिद्विवक्षितस्थाने स्थितः तदा तत्रस्थानि धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशद्रव्याणि तत्पुरुषविशिष्टानि, 'तत्पुरुषविशिष्टत्वं' स एव परिणामो धर्म्मादीनाम् । यदा स नरस्तत उत्थाय अन्यत्रोपविष्टस्तदा विवक्षितधर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशदेशस्तत्पुरुषविशिष्टपरिणामरहित्यात् तत्पुरुषविशिष्टत्वपर्यायवियुतः, यत्र च तेन पुरुषेणोपविष्टं स धर्म्मादीनां देशस्तत्पुरुषविशिष्टः स एव परिणामः, परिणा-

अजीवतत्त्वे दशविधो जीवपरिणामः

एवञ्च द्रव्यषट्कमध्ये जीवपुद्गलद्रव्ये परिणामिनी, तत्र जीवपरिणामो दशविधः, पुद्गलपरिणामोऽपि दशविधश्च, तत्राऽऽदौ जीवपरिणामो व्याख्यायते,—स चैवम्;—गतिपरिणामः १ इन्द्रियपरिणामः २ कषायपरिणामः ३ लेश्यापरिणामः ४ योगपरिणामः ५ उपयोगपरिणामः ६ ज्ञानपरिणामः ७ दर्शनपरिणामः ८ चारित्रपरिणामः ९ वेदपरिणामः १० । तत्र गम्यते प्राप्यते नैरयिकादिगतिनामकर्म्मोदयेनेति गतिः, नैरयिकत्व–तिर्यक्त्व-मनुजत्त्व-देवत्त्वपर्यायपरिणतिः, गतिरेव परिणामो गतिपरिणामः, जीवस्तं गत्यात्मकं परिणामं धर्म्मान्तरं भजते, यथा कश्चिन्मनुजो वर्तमानाऽवस्थायां मनुजगतिपर्यायपरिणतः, समाप्ते तु निजायुषि यदा देवत्त्वेनोत्पन्नस्तदा मनुजपर्यायस्य विनाशः, देवपर्यायस्य चोत्पादः, आत्मद्रव्यस्य च ध्रौव्यमिति स गतिपरिणामो जीवस्योच्यते । तथा इन्दति आवारककर्म्मणां क्षयेणाऽनन्तज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यस्वरूपं परमैश्वर्यं प्राप्नोतीति इन्द्र आत्मा, तस्येदमिन्द्रियं प्राग्व्यावर्णितस्वरूपं, पञ्चविधमिन्द्रियं जीवेनाऽवाप्यते अत इन्द्रियपरिणामोऽपि जीवपरिणामः, यथैकेन्द्रियत्त्वपरिणामभाक् कश्चिदेकेन्द्रियो निजाऽऽयुष्यसमाप्तौ द्वीन्द्रियत्वेनोऽत्पन्नस्तदा एकेन्द्रियसंज्ञपरिणामस्य विनाशः, द्वीन्द्रियाख्यपर्यायस्योत्पत्तिरात्मनश्च ध्रुवता, एवमग्रेऽपि स्वमनीषिकयोह्यम् ॥ कषन्ति हिंसन्ति परस्परं प्राणिनोऽस्मिन्निति कषः संसारस्तमयन्ते गमयन्ते प्रापयन्तीति कषाया वक्ष्यमाणस्वरूपाः, कषाय एव परिणामः कषायपरिणामः, तत्तत्कषायमोहनीयोदयवर्त्तिना जीवेन तत्तत्कषायोऽनुभूयत इति कषायोऽपि जीवपरिणामः, यथा क्रोधकषायोदयवर्त्ती

मश्च अवस्थान्तरगमनपरिच्छिन्नः, तथाऽत्र प्रत्यक्षमनुवोभूयते, अतस्तेषामपि धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशद्रव्याणामापेक्षिकं परिणामित्त्वं निर्बाधमिति । अनया रीत्या ' घटाकाशः ' ' मठाकाशः ' इत्यादावपि विज्ञेयम् ॥

नेवृत्तेर्मानकषायपरिणामस्य चोत्पत्तिः
उज्जीवोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं मानकषायोदयवान् सञ्जातस्तदा क्रोधकषायाऽऽत्मकपरिणामस्य निवृत्तेर्मानकषायपरिणामस्य चोत्पत्तिः
आत्मनश्च द्रुवत्त्वम् । लिष्यते श्लिष्यते आत्मा कर्म्मणा सहानयेति लेश्या, योगाऽन्तर्गतकृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः
परिणामविशेषो लेश्या, उक्तञ्च–'कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मनः स्फटिकस्येव तत्राऽयं लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते' १॥
ननु कानि कृष्णादीनि द्रव्याणि? उच्यते, इह योगे सति लेश्या भवति, योगाऽभावे च न भवति, ततो योगेन सहाऽन्वयव्य-
तिरेकदर्शनात् योगनिमित्ता लेश्येति निश्चीयते, सर्वत्राऽपि तन्निमितत्त्वनिश्चयस्याऽन्वयव्यतिरेकदर्शनमूलत्त्वात्, योगनिमित्त-
तायामपि विकल्पद्वयमवतरति–किं योगाऽन्तर्गतद्रव्यरूपा, योगनिमित्तकर्म्मद्रव्यरूपा वा? तत्र न तावद्योगनिमित्तकर्म्मद्रव्य-
रूपा, विकल्पद्वयाऽनतिक्रमात्, तथाहि;–योगनिमित्तकर्म्मद्रव्यरूपा सती घातिकर्म्मद्रव्यरूपा अघातिकर्म्मद्रव्यरूपा वा? न
तावद्घातिकर्म्मद्रव्यरूपा, तेषामभावेऽपि सयोगिकेवलिनि लेश्यायाः सद्भावात्, नाप्यघातिकर्म्मरूपा, तत्सद्भावेऽपि अयोगि-
केवलिनि लेश्याया अभावात्, अतः पारिशेष्याद् योगाऽन्तर्गतद्रव्यरूपा प्रत्येया, तानि च योगान्तर्गतानि द्रव्याणि यावत्क-
षायास्तावत्तेषामप्युदयोपबृंहकाणि भवन्ति, दृष्टं योगाऽन्तर्गतानां द्रव्याणां कषायोदयोपबृंहणसामर्थ्यम्, यथा पित्तद्रव्यस्य,
तथाहि–पित्तप्रकोपविशेषादुपलक्ष्यते महान् प्रवर्धमानः कोपः, अन्यच्च बाह्यान्यपि द्रव्याणि कर्म्मणामुदयक्षयोपशमाऽऽदिहेतव
उपलभ्यन्ते, यथा ब्राह्मयौषधिर्ज्ञानावरणक्षयोपशमस्य, सुरापानं ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्ताऽयुक्तविवेकविकलोपजा-
यते, दधिभोजनं निद्रारूपदर्शनावरणोदयस्य, तत्किं योगद्रव्याणि न भवन्ति? अपि तु भवन्त्येव योगाऽन्तर्गतद्रव्याणि ।
तेन यः स्थितिपाकविशेषो लेश्यावशादुपगीयते शास्त्रान्तरे स सम्यगुपपन्नः, यतः स्थितिपाको नामाऽनुभाग उच्यते, तस्य

नैमित्तं कषायोदयाऽन्तर्गतकृष्णादिलेश्यापरिणामाः, ते च परमार्थतः कषायस्वरूपा एव, तदन्तर्गतत्वात्, केवलं योगाऽन्तर्गतद्रव्यसहकारिकारणभेदवैचित्र्याभ्यं ते कृष्णादिभेदैर्भिन्नास्तारतम्यभेदेन वैचित्र्याश्चोपजायन्ते, तेन यद् भगवता कर्म्मप्रकृतिकृता शिवशर्म्माऽऽचार्येण शतकाऽऽख्ये ग्रन्थेऽभिहितं " ठेइ अणुभागं कसायओ कुणइ " इति तदपि समीचीनमेव, कृष्णादिलेश्यापरिणामानामपि कषायोदयाऽन्तर्गतानां कषायरूपत्त्वात्, तेन यदुच्यते कैश्चित्— योगपरिणामत्त्वे लेश्यानां " जोगापयडिपएसं ठेइ अणुभागं कसायओ कुणइ " इति वचनात् प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुत्त्वमेव स्यान्न कर्म्मस्थितिहेतुत्त्वमिति, तदपि न समीचीनं, यथोक्तभावार्थापरिज्ञानात्, अपि च न लेश्याः स्थितिहेतवः, किंतु कषायाः, लेश्यास्तु कषायोदयाऽन्तर्गता अनुभागहेतवः, अत एव च " स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण " इत्यत्राऽनुभागप्रतिपत्त्यर्थं पाकग्रहणं, एतच्च सुनिश्चितं कर्म्मप्रकृतिटीकादिषु, ततः सिद्धान्तपरिज्ञानमपि न सम्यक्तेषामस्ति, यदप्युक्तं—कर्म्मनिष्यन्दो लेश्या, निष्यन्दरूपत्त्वे हि यावत्कषायोदयस्तावन्निष्यन्दस्याऽपि सद्भावात् कर्म्मस्थितिहेतुत्त्वमपि

१ कषायोदयसहचारिणः कृष्णादिलेश्यापरिणामा अनुभागबन्धहेतव इत्यर्थः ॥

१ कर्म्मप्रकृतौ बन्धनकरणे ' एक्केकम्मि कसायोदयम्मि ' इतिगाथाटीकायाम्:—एकैकस्मिन् कषायोदये स्थितिस्थाननिबन्धनभूते नानाजीवाऽपेक्षयाऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि कृष्णादिलेश्यापरिणामविशेषरूपाणि " सकषायोदया हि कृष्णादिलेश्यापरिणामविशेषा अनुभाग बन्धहेतव " इतिवचनात् असंख्येया लोका भवन्ति असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्तीत्यर्थः । कर्म्मप्रकृति—मलयगिरीयवृत्तिर्मुद्रिता—गाथा—५२—पत्र ४० ।

दृज्यते एवेत्यादि तदप्ययुक्तं, लेश्यानामनुभागबन्धहेतुतया स्थितिबन्धहेतुत्वाऽयोगात्, अन्यच्च—कर्म्मनिष्यन्दः किं कर्मकल्क
कर्म्मसारः ? न तावत्कर्म्मकल्कः, तस्यासारतया उत्कृष्टाऽनुभागबन्धहेतुत्वानुपपत्तिप्रसक्तेः, कल्को हि असारो भवति,
असारश्च कथमुत्कृष्टाऽनुभागबन्धहेतुः ? अत्र च उत्कृष्टाऽनुभागबन्धहेतवोऽपि भवन्ति अथ कर्म्मसार इति पक्षस्तर्हि कस्य
कर्म्मणः सार इति वाच्यं ? यथायोगमष्टानामपीति चेदष्टानामपि कर्म्मणां शास्त्रे विपाका वर्ण्यन्ते, न च कस्यापि कर्म्मणो
लेश्याऽऽत्मको विपाक उपदर्शितः, ततः कथं कर्म्मसारपक्षो जाघटीति ? तस्मात् पूर्वोक्त एव पक्षः श्रेयान् इत्यङ्गीकर्त्तव्यः,
पूज्यश्च हरिभद्रसूरिभिरपि तत्र तत्र तथैवाङ्गीकृतत्वादिति ॥ यथा सप्तधातुव्यतिरिक्ता वातपित्तकफात्मिकाऽऽहारपरिणतिरुपजायते
तद्वन्मनोवाक्काययोगपरिणामव्यतिरिक्ता लेश्यालक्षणा योगद्रव्यपरिणतिरपि सञ्जायते, ननु सिद्धान्ते योगद्रव्याणां योगत्रय-
परिणामवल्लेश्यापरिणामः कथं नोक्त इति चेद् वातपित्तकफलक्षणाऽऽहारपरिणतेरवश्यंभावेऽपि गृहीताऽऽहारस्य सप्त-
धातुत्वेन परिणाम एव केवलं शास्त्रे यथा श्रूयते तथाऽत्रापि लेश्यालक्षणयोगपरिणामसद्भावेऽपि गृहीतमनोवाक्काययोग-
द्रव्याणां मनोवाक्काययोगत्वेन एव परिणामः सिद्धान्ते गीयते, नचाऽत्र काचिदनुपपत्तिः, एवं योगान्तर्गतद्रव्यत्वमपि लेश्यानां
सम्यगुपपद्यत इति मे मतिः, तत्त्वं केवलिगम्यमिति ॥ कृष्णादिभेदभिन्नायामस्यां कस्याश्चिल्लेश्यायां वर्तमाने जीवे
विवक्षितलेश्यातो लेश्यान्तरं गच्छति तदा विवक्षितलेश्यापरिणामस्य विनाशः, अन्यतरलेश्यापरिणामस्य चोत्पादः, जीवस्य
च ध्रुवत्वमिति । योगस्तत्त्वत औदारिकादिशरीरसंयोगसमुत्थ आत्मपरिणामविशेषव्यापारः, तद्यथा;—औदारिकादिशरीर-
युक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्या-

पारो वाग्योगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोगः, स च योगस्त्रिविधः, मनोवाक्कायलक्षणभेदात्, जीवमृते न किञ्चिदपि द्रव्यं मनोवाक्काययोगवत्, अतोऽयमपि योगपरिणामो जीवपरिणामः । संज्ञिपञ्चेन्द्रियादिषु केषुचिज्जीवस्थानेषु त्रयाणामपि योगानां सत्ताऽपेक्षया सद्भावेऽपि विवक्षिताऽनेहसि त्रयाणां योगानां समकालं व्यापाराऽपेक्षयाऽभावात् एक एवाऽन्यतमः कश्चिद् योगो वरीवर्त्तते, यदाऽन्तर्मुहूर्त्ताद्यनन्तरं योगपरावृत्तिस्सञ्जायते तदा पूर्वरीत्या योगपरिणामस्य विनाशोत्पादौ आत्मनश्च ध्रौव्यं स्वयमेव परिभावनीयम् ॥ उपयुज्यते सामान्यतया विशेषतया वा वस्तुतत्त्वपरिज्ञानाऽर्थमित्युपयोगः, स च द्वादशप्रकारकः प्राग्व्याख्यातस्वरूपः, उपयोगपरिणामोऽपि जीवं विहाय न केनचिद्द्रव्येणोररीक्रियते ततः सोऽपि जीवपरिणामः, परिणामित्वं चास्य मतिज्ञानोपयोगिनो श्रुतज्ञानोपयोगं गतस्याऽऽत्मनो मतिज्ञानोपयोगश्रुतज्ञानोपयोगाऽऽत्मनां यथासंख्यं विनाशोत्पादध्रुवत्वाऽपेक्षया विज्ञेयम् । ज्ञायते वस्तुतत्त्वं परिच्छिद्यतेऽनेन तज्ज्ञानं मत्यादिभेदभिन्नं पञ्चप्रकारकमष्टप्रकारकं वा[१], ज्ञानमेवपरिणामो ज्ञानपरिणामः, सोऽपि जीवं विनाऽनन्याऽऽधारत्वात् जीवपरिणामः, ज्ञानोपयोगयोर्भेदत्त्वं प्राग् व्यावर्णितमतो नाऽत्र स्पष्टीकुर्मो वयम्, परिणामित्वं च मतिज्ञानश्रुतज्ञानवतः सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य मिथ्यात्वयोगात् मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं जायते तदा अथवा घातिकर्मक्षपणाऽनन्तरं केवलज्ञानस्योत्पादे 'नट्ठम्मि छाउमत्थिए नाणे' इति वचनात् मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्विनाशे च जाते विनाशोत्पादध्रुवत्व-

१ मत्यज्ञान–श्रुताऽज्ञान–विभङ्गज्ञानात्मकाऽज्ञानत्रिकप्रक्षेपादष्टकं ज्ञानस्य ।

सुज्ञेयम् । दृश्यते सामान्यतया वस्तुतत्त्वाऽवबोधो जायते येन तद्दर्शनं, चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनकेवलदर्शनभेदैश्च-तुर्विधम्, ज्ञानपरिणामवदयं दर्शनपरिणामोऽपि जीवपरिणामः, जीवेष्वेव दृश्यमानत्वात्तस्य, परिणामित्वमुत्पादविनाशध्रुवत्वानि च पूर्ववद् बोध्यानि, । चर्यते गम्यते सर्वकर्मक्षयं विधाय महानन्दस्थानस्वरूपं मोक्षं प्रति येन तच्चारित्रम्, तच्च सामायिकादिभेदैः पञ्चविधं वक्ष्यमाणस्वरूपं, अस्य चारित्रस्याऽऽत्मनो गुणत्वात् जीवपरिणामत्वं सुख्यातम् । सामायिकचारित्रः छेदोपस्थापनीयचारित्रो वा परिहारविशुद्धिसंज्ञकं चारित्रं सूक्ष्मसंपरायं यथाख्यातं वाऽवाप्नोति, अथवा औपशमिकः सूक्ष्मसंपरायाद् यथाख्याताद् वा पतित्वा छेदोपस्थापनीयं सामायिकं संयमं वा याति तदा तेषां चारित्राणामुत्पादविनाशापेक्षया आत्मनश्च ध्रुवतया परिणामित्त्वं चिन्त्यम् । वेद्यतेऽनुभूयते कामाऽऽसक्तित्वं येन स वेदः पुंवेद-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदात्मकभेदैस्त्रिप्रकारकः, अमुं वेदं जीवा एवाऽनुभवन्ति, नाऽजीवा अतस्सोऽपि जीवपरिणामः, विवक्षितवेदोदयात् वेदोदयाऽन्तरमुपजायते तदा परिणामित्त्वमुत्पत्तिविनाशध्रौव्यापेक्षिकमिति ॥ दशविधोऽप्ययं परिणामः कर्म्मोपाधिजन्यस्वरूपः प्रायोगिको न तु जीवस्य स्वस्वभावजः, अत एव पूर्वोक्तदशविधजीवपरिणामाऽपेक्षया सिद्धानामपगतकर्म्मप्रपञ्चानामपरिणामित्त्वं सुतरां प्रतीयते । ननु सिद्धानामपि प्रतिसमयं ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगयोः परावृत्तिस्सञ्जायते, यतो यस्मिन् समये विवक्षितसिद्धः केवलज्ञानोपयोगपरिणतः तत्समयाऽनन्तरं तस्य विवक्षितसिद्धस्य केवलदर्शनोपयोगपरिणतत्त्वात् अवस्थाऽन्तरं जातं,

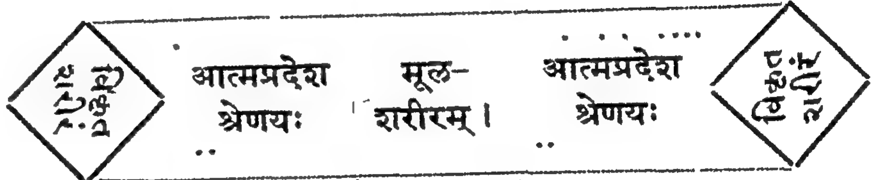
१ परिणामित्त्वविषये यया रीत्या परिणामित्वं उदलेखि तयैव रीत्या तद् भवतीत्येवं न विज्ञेयं, प्रकाराऽन्तरैरपि परिणामित्त्वं भावयितुं शक्यते, ग्रन्थगौरवभयान्निखिलप्रकाराणां नाऽत्र प्रदर्शनं कृतं, शेमुषीवद्भिस्स्वधिया परिभावनीयम् ॥

परिणामश्च अवस्थाऽन्तरप्राप्तिलक्षणः, अत्राऽपि केवलज्ञानोपयोगाऽऽत्मकस्य पूर्वपरिणामस्य विनाशः, केवलदर्शनोपयोगपरिणामस्य चोत्पादः, आत्मनश्च ध्रुवत्वमिति सिद्धस्याऽपि परिणामित्वं संघटते, परिणामित्वं च भवद्भिः कर्मोपाधिजन्यं व्याख्यायते, काऽत्र समाधत्तिः ? उच्यते—सिद्धानामुपयोगाऽपेक्षया या परावृत्तिर्जायते सा न कर्मोपाधिजन्या, जीवस्याऽनन्तज्ञानाऽनन्तदर्शने गुणभूते, एतयोरुपयोगप्रवर्त्तनं प्रतिसमयमिति जीवस्य स्वभावो न तु परभावः, यदाऽयं जीवः कर्मप्रपञ्चपरिकलित आसीत्तदा न प्रतिसमयमुपयोगपरावृत्तिरभूत् नाप्यनन्तज्ञानदर्शने चाविरभूताम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मकरत्नत्रय्याराधनपूर्वकः कर्म्मक्षयो यदा सञ्जातस्तदा प्रादुर्भूतावेतावनन्तज्ञानदर्शनलक्षणावात्मगुणौ, ततोऽत्र परावृत्तिस्स्वभावजा न तु कर्म्मजन्या । अपि चाऽस्मिन् प्रकरणे यत् परिणामित्वं तच्च दशविधं, यदि सिद्धानां ज्ञानदर्शनोपयोगपरावृत्त्यपेक्षया परिणामित्वं गण्यते तदा उपयोगलक्षणमेकविधमेव परिणामित्वम्, ततोऽपि पूर्वव्याख्यातं दशविधं परिणामित्वं अत्र न घटत इति ॥ उक्तो जीवपरिणामः ॥ अथाऽजीवपरिणामः—स च दशविधः पुद्गलपरिणामाऽऽत्मकः, तद्यथा;—बंधनपरिणामः १ गतिपरिणामः २ संस्थानपरिणामः ३ भेदपरिणामः ४, वर्णपरिणामः ५ गन्धपरिणामः ६ रसपरिणामः ७ स्पर्शपरिणामः ८ अगुरुलघुपरिणामः ९ शब्दपरिणामः १० । तत्र तावदादौ बन्धनपरिणामो व्याख्यायते, स चैवम्;—समगुणस्निग्धस्य परमाण्वादेः समगुणस्निग्धेन परमाण्वादिना सह सम्बन्धो न भवति, तथा समगुणरूक्षस्याऽपि परमाण्वादेः समगुणरूक्षेण परमाण्वादिना सह सम्बन्धो न भवति, किन्तु यदि स्निग्धः स्निग्धेन रूक्षः रूक्षेण सह विषमगुणो भवति तदा विषममात्रत्वात्तेषां परस्परं सम्बन्धः। अयं बन्धनपरिणामोऽजीवपरिणामः यतो न जीवप्रदेशानामसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानां बन्धनपरिणाम उप-

जायते कदाचिदपि तेषां पृथक्त्वाऽऽभावात् । ननु यदा वैक्रियलब्धिना आहारकलब्धिना वा वैक्रियशरीराणि अनेकसंख्यात्मकानि आहारकशरीरं वा विकुर्व्यते तदा एकजीवस्याऽपि विभिन्नानि शरीराणि प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, शरीराणां विभिन्नत्वे च आत्मप्रदेशानां सुतरां विभिन्नत्वं, कथमुच्यते आत्मप्रदेशानां पृथक्त्वाऽभावत्वमिति, नैवम्, यतो वैक्रियादिलब्धिविरचितशरीराणां पृथक्त्वेऽपि नात्मप्रदेशानां पृथक्त्वम्, यत्र मूल(भवधारणीय)शरीरं ततो निर्गत्य मूलशरीराऽवगाहप्रमाणा तस्यैव जीवस्य आत्मप्रदेशश्रेणयो विकुर्वितशरीराणि यावदनुगच्छन्ति, आत्मप्रदेशानां संकोचविकासात्मकत्वान्नैतदनुपपन्नं, तस्मान्नाऽऽत्मप्रदेशानां पृथक्त्वमपि त्वपृथक्त्वमेवेति ॥ गतिपरिणामो द्विविधः, स्पृशद्गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामश्च, तत्र द्रव्यान्तरं स्पृशतो यो गतिपरिणामः स स्पृशद्गतिपरि-

॥ स्थापना—चित्रम् ॥







णामः, यथा ठिक्करिका जले तथाप्रयत्नेन प्रक्षिप्ता सती जलस्याऽपान्तराले जलं स्पृशन्ती गच्छति, बालजनप्रसिद्धमेतत् । तथाऽस्पृशतो गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामः, यद्द्रव्यं न केनाऽपि सहाऽपान्तराले संस्पर्शनमनुभवति तद्द्रव्यस्याऽस्पृशद्गतिपरिणामः ॥ पुद्गलद्रव्याणां पारिमण्डल्यादिसंस्थानपञ्चकमध्ये केनाऽपि संस्थानेन विरचनं स संस्थानपरिणामः । स्कंधाऽवस्थानेनाऽवस्थितानां पुद्गलद्रव्याणां यो भेदः स भेदपरिणामः । पुद्गलद्रव्येषु पञ्चप्रकारकवर्णानामुत्पत्तिः स वर्णपरिणामः । पुद्गलेषु गन्धस्योत्पत्तिः स गन्धपरिणामः । तेष्वेव पुद्गलेषु पञ्चप्रकाराणां रसानामुत्पत्तिः स रसपरिणामः । पुद्गलेष्वष्टप्रकारकस्य स्पर्शस्योत्पादः स स्पर्शपरिणामः । पुद्गलपरमाणुषु गुरुत्व–लघुत्व–गुरुलघुत्व–अगुरुलघुत्वानामुत्पत्तिः सोऽगुरुलघुपरिणामः । पुद्गलेषु तेन तेन प्रकारेण शब्दानामुत्पत्तिः स शब्दपरिणामः । इत्युक्तप्रकारेण पुद्गलद्रव्यं दशविधैः परिणामैर्युक्तत्वात् परिणामि, अन्यानि चत्वार्यप्यजीवद्रव्याणि परिणामवर्जितानि । अतः षट्सु द्रव्येषु द्रव्ययुग्मं जीवपुद्गलाऽऽत्मकं परिणामि, शेषं धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशकाललक्षणं द्रव्यचतुष्कमपरिणामि ॥

षट्सु द्रव्येषु एकं जीवद्रव्यं जीवस्वरूपं, शेषाणि पञ्चाप्यजीवस्वरूपाणि ॥ मूर्त्तत्वपरीक्षायां पुद्गलद्रव्यमेकं मूर्त्तिमत्, शेषाणि पञ्चाऽप्यमूर्त्तानि, वर्ण–गन्ध–रस–स्पर्शा यस्मिन् विद्यन्ते तन्मूर्त्तं, तेषां वर्णगन्धादीनां यस्मिन्नभावस्तदमूर्त्तम् । सप्रदेशि–अप्रदेशिनोः परिप्रश्ने धर्म्माऽस्तिकायाऽधर्म्माऽस्तिकायाऽऽकाशाऽस्तिकायजीवाऽस्तिकायपुद्गलाऽस्तिकायाऽऽत्मकानि पञ्चद्रव्याणि प्रदेशसमूहोपेतानि, अवशिष्टं कालद्रव्यं प्रदेशवर्जितं, अस्तिकायत्वाऽभावात् । षट्सु द्रव्येषु एकत्वाऽनेकत्व-

१ जीवस्तु स्वस्वरूपाऽपेक्षयाऽमूर्त्त इत्यत्र स्वस्वरूपं चिन्तितमस्मिन् मूर्त्ताऽमूर्त्तविषये ।

योरनुयोगे धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशाऽस्तिकायानां प्रत्येकमेकैकत्त्वम्, पुद्गलानामानन्त्यं सुविख्यातमतो पुद्गलद्रव्यमानन्त्यभाक्, लोके काष्ठपुस्तादीन्यनन्तानि पुद्गलद्रव्याणि, जीवद्रव्याण्यप्यनन्तानि, पृथिवीकायिकादीनामसंख्यातत्त्वेऽपि नैगोदवर्त्ते-जीवानामानन्त्यात्। कालस्तु अनन्तत्त्वोपेतः, (अतीताऽनागतकालाऽपेक्षया) अनन्तसमयाऽऽत्मकत्त्वात्तस्य। द्रव्यषट्के कति द्रव्याणि क्षेत्रमिवाऽऽधारभूतानि? कति च बीजमिवाऽऽधेयतया स्थितानि? इति चिन्तायां केवलमाकाशाऽस्तिकायाख्यं द्रव्यं क्षेत्रमिवाऽऽधारभूतं, अन्यानि पञ्चाऽपि आधेयतया स्थितानि। अयमत्राऽऽशयः;—आकाशं विरहय्य शेषाणि पञ्चाऽपि द्रव्याणि अवगाहदानस्वभावे आकाशे आधेयतया स्थितानि, तत आकाशः क्षेत्रं, शेषाणि क्षेत्रीणि॥ द्रव्येषु सक्रियाऽक्रियद्रव्यचिन्तायां यद् द्रव्यं गत्यादिक्रियोपेतं तत् सक्रियं, अन्यदक्रियं, द्रव्येषु षट्सु जीवपुद्गलाऽऽख्ये द्रव्ये सक्रिये, गत्यादिक्रियाकर्त्तृलक्षणत्त्वात्तयोः, शेषाणि निष्क्रियाणि धर्म्माऽधर्म्माऽऽदीनि चत्त्वारि। नित्याऽनित्ययोः परिप्रश्ने यद् द्रव्यं नैरन्तर्येण एकस्यामवस्थायामेव वर्त्तते तन्नित्यं अन्यदनित्यं, षट्सु द्रव्येषु व्यवहारनयमङ्गीकृत्य जीवपुद्गले अनित्ये, यतो जीवः स्वकर्म्माऽनुसारतो गत्या गत्यन्तरं परिभ्राम्यति, देवपर्यायं विहाय मनुजपर्यायं बिभर्त्ति, मनुजत्त्वं च त्यक्त्वा तिर्यक्त्वं दधाति, इत्थं पर्यायनयापेक्षयेदमनित्यत्त्वं, द्रव्यास्तिकनयापेक्षं तु जीवोऽपि नित्य एव। एवं पुद्गलद्रव्यमपि परमाणुत्त्वं वर्जयित्वा स्कन्धत्त्वमादत्ते, नीलवर्णाऽऽत्मकं पर्यायमुज्झित्त्वा शुक्लवर्णपर्यायमङ्गीकुरुते, अत एतदपि पुद्गलद्रव्यं पर्यायनयाऽपेक्षयाऽनित्यम्। निश्चयनयेन तु षड् द्रव्याण्यपि नित्यानि अनित्यानि च, तद्यथा;—धर्म्माऽस्तिकायद्रव्यं अमूर्त्तत्त्वाऽ—चेतनत्त्वाऽक्रियत्त्व-गतिसहायकत्त्वादिगुणैर्नित्यं, देश—प्रदेशा—ऽगुरुलघुपर्यायैरनित्यं। अधर्म्माऽस्तिकायद्रव्यममूर्त्तत्त्वा—ऽक्रियत्त्वा—

ऽचेतनत्व-स्थितिसहायकत्वादिभिर्नित्यं, देश-प्रदेशाऽगुरुलघुपर्यायैरनित्यम् । एवमाकाशद्रव्येऽपि योज्यम् । नवरं गतिस्थिति-सहायकत्वस्थानेऽवगाहदायकत्वं ज्ञेयम् । तथा कालद्रव्यं अमूर्त्तत्वा-ऽचेतनत्वाऽक्रियत्वैर्वर्त्तनादिलक्षणैश्च नित्यं, अतीताऽनागत-वर्त्तमानाऽपेक्षयाऽनित्यम् । तथा जीवद्रव्यं ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादिगुणैरमूर्त्तत्वादिभिः पर्यायैश्च नित्यं, देवत्व-मनुजत्वादिभिरनित्यं। पुद्गलद्रव्यमपि मूर्त्तत्वाऽचेतनत्वादिभिर्नित्यं, परमाणुत्व-स्कंधत्वाऽऽदिभिः पर्यायैरनित्यम् ॥ ननु सिद्धावस्थां समापन्ना जीवा सिद्धत्वमाश्रित्य नित्या आहोश्विदनित्याः? उच्यते—अनित्या इति, यतो यन्नित्यं तन्नियमादनाद्यनन्तं स्यात्, सिद्धत्वं तु नैवम्, अत्रैदम्पर्यं;—सिद्धजीवानां जीवत्वं तु पूर्वोक्तरीत्या नित्यं सिद्धत्वं तु न तथाप्रकारं, यतो विवक्षितकाले सिद्धत्वस्योत्पादः, सिद्धिशिला तु शाश्वती ॥ ननु जिनविम्ब-जिनचैत्य-सुमेरुप्रभृतीनि यानि यानि लोके शाश्वतानि वस्तूनि तानि नित्यानि उताऽनित्यानि ? अत्राऽऽह—जगत्यां ये ये शाश्वताः पदार्थास्ते आकारमात्रेण प्रमाणमात्रेण वा नित्यानि, यतस्तेषामाकारे प्रमाणे वा कालाऽन्तरेऽपि न तारतम्यं स्यात्, परं पुद्गलद्रव्यमाश्रित्याऽनित्यानि, यतः कारणात् प्रतिसमयं तेभ्यः शाश्वतद्रव्येभ्योऽनन्ताः पुद्गलपरमाणवः पृथक् भवन्ति, अनन्ताश्च तत्र गत्वा सम्मिलन्ति, अत आकारे न भिन्नता, परं पुद्गलद्रव्याणां नैरन्तर्येणाऽवस्थानस्याऽभावः, आकारः शाश्वतः पुद्गलद्रव्यं तत्रस्थमशाश्वतमेवेत्यर्थः ।

द्रव्येषु षट्सु कतमद् द्रव्यं कारणात्मकं, कतमच्च कारणतावर्जितमित्यनुयोगे इदं ज्ञेयम्—यद् द्रव्यं द्रव्यान्तराणां कार्येषूपयुज्यते तत् कारणस्वभावाऽऽत्मकं, यच्च द्रव्याऽन्तरक्रियासु कारणत्वेन नोपयुज्यते तत् कारणताऽपेतम् । विना जीवद्रव्यं धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशादिद्रव्यपञ्चकं कारणत्वोपेतं, जीवद्रव्यं त्वकारणाऽऽत्मकं, यतो धर्म्माऽस्तिकायो जीवपुद्गलानां गति-

परिणामपरिणतानां गमनक्रियायामुपकारकः, अधर्म्मास्तिकायः स्थितिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थित्युपकारकः, आकाशाऽस्तिकायो जीवपुद्गलानामवगाहदायकत्त्वेनोपकारकः, पुद्गलास्तिकायो जीवस्य शरीर–वाङ्–मनः–प्राणापान–सुख–दुःख–जीवित–मरणादिषूपकारकः, कालद्रव्यं तु जीवस्य वर्त्तनादिपर्यायेषूपयुज्यते, उक्तश्च विविधज्ञानवितरणकल्पशाखिकल्पैः श्रीमद्भिरुमास्वातिसूरिप्रकाण्डैस्तत्त्वार्थसूत्रे;—"गतिस्थित्युपग्रहो धर्म्माऽधर्म्मयोरुपकारः (त० ५–१७)" "आकाशस्याऽवगाहः (त० ५–१८)" "शरीरवाङ्मनःप्राणाऽपानाः पुद्गलानां (त० ५–१९)" "सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च (त० ५–२०)" "वर्त्तना परिणामः क्रियापरत्त्वाऽपरत्त्वे च कालस्य (त० ५–२२)" इत्यादि ॥ एवमुक्तप्रकारेण जीवद्रव्यं प्रति पश्चाऽपि धर्म्मादीनि द्रव्याणि उपकारकत्त्वेन कारणद्रव्याणि, जीवद्रव्यं तु द्रव्यान्तरं प्रति उपकारत्त्वाऽभाववद् अतोऽकारणद्रव्यम् । ननु जीवद्रव्यं प्रति यथाऽन्यानि द्रव्याण्युपकारकाणि एवं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यप्युकारकाणि दृश्यन्ते, अतो जीवद्रव्यमिव पुद्गलद्रव्यमपि कारणतावर्जितं भवेदिति ? कथं जीवद्रव्यमेकमेव तादृक् प्रतिपाद्यते ? सत्यं, पुद्गलद्रव्यं प्रति जीवद्रव्यमिव द्रव्याऽन्तराण्युपयुज्यन्ते परं पुद्गलद्रव्यं स्वयमपि जीवद्रव्यमुपकुरुते, अकारणद्रव्यं तु तत्प्रोच्यते यत् स्वयं द्रव्याऽन्तरं प्रत्यनुपकारकं सत् स्वं प्रति द्रव्याऽन्तराणि उपकारकाणि भवेयुः, जीवद्रव्यं त्वेतत्स्वरूपं, न तु पुद्गलद्रव्यं, यतः पुद्गलाऽस्तिकायं प्रति अन्यानि द्रव्याण्युपकारकाणि सन्त्यपि जीवद्रव्यं प्रति स्वस्योपग्राहकत्त्वेन तस्याऽकारणद्रव्यत्त्वं परिभावनीयम् । ननु धर्म्माऽधर्म्मादीनि द्रव्याणि द्रव्याऽन्तरं प्रति यथोपकारकाणि, एवं जीवद्रव्यं किञ्चिद्द्रव्यं प्रति उपग्रहकारकमस्ति न वा ? उच्यते—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" इति तत्त्वार्थसूत्रोक्त्यनुसारेण जीवद्रव्यं जीवद्रव्यं

प्रति अस्त्युपकारकं परस्पराऽपेक्षया, परं कारणादिद्वाराणां परप्रत्ययिकत्वान्नास्त्यत्र विरोधः ॥ अथ षट्सु द्रव्येषु कतिसंख्यानि द्रव्याणि कर्तृलक्षणानि कति चाऽकर्तृणीति चिन्तायाम्—यद् द्रव्यं द्रव्यान्तरस्य क्रियां प्रति अधिकारवत् तत् कर्तृत्वोपेतं, यच्च द्रव्यान्तरस्य क्रियां प्रत्यनधिकारि तत् कर्तृत्ववियुतम् । "क्रियां करोतीति कर्त्ता" इति सामान्यशब्दव्युत्पत्त्यनुसारेण तु यद्यपि षण्णामपि द्रव्याणां कर्तृत्वं, तथाऽप्यस्मिन् प्रकरणे सर्वेषां द्रव्यान्तराणां स्वामित्वेनोपभोक्तृ तत् कर्तृलक्षणम् । षट्सु द्रव्येषु धर्म्माऽधर्म्मादिद्रव्याणां गतिसाहाय्यकादिगुणानामुपभोक्ता जीवः, ततो जीवद्रव्यं कर्तृत्वोपेतम्, द्रव्यान्तराणि कर्तृत्ववर्जितानीत्यर्थः ॥ द्रव्येषु सर्वव्यापित्वदेशव्यापित्वविचारणायां यद् द्रव्यं सर्वाऽवगाहं व्याप्नोति तत् सर्वव्यापि, यच्चाऽवगाहस्यैकदेशं व्याप्य तिष्ठति तद् देशव्यापि, आकाशाऽस्तिकायं विरहय्य चत्वारोऽप्यस्तिकायाश्चतुर्दशरज्जुपरिमितलोकाऽऽकाशं व्याप्य स्थिता अतस्तानि चत्वार्येते द्रव्याणि देशव्यापीनि, कालोऽपि सार्धद्वयद्वीपान्तर्वर्त्तित्वाद् देशव्यापी, आकाशद्रव्यं सर्वव्यापित्वात् सर्वव्यापि, इत्थं द्रव्यषट्कमध्ये आकाशद्रव्यमृते शेषाणि पञ्चाऽपि देशव्यापीनि, आकाशस्तु सर्वव्यापि ॥ सप्रवेशित्वाऽप्रवेशित्वयोरनुयोगे—विवक्षितद्रव्यस्य द्रव्यान्तरतया यत् परिणमनं स प्रवेशः, सोऽस्यास्तीति तत् सप्रवेशिद्रव्यं, यच्च कदाचिदपि द्रव्यान्तरत्वेन न परिणमते परं स्वरूपतयैव तिष्ठति तदप्रवेशिद्रव्यं, धर्म्माऽधर्म्मादिषु षट्सु द्रव्येषु सर्वाण्यपि अप्रवेशिद्रव्याणि यतो न विवक्षितद्रव्यं स्वरूपं त्यक्त्वा द्रव्यान्तरतया परिणमते । इत्येवं संक्षेपतः 'परिणामि' त्ति गाथायामुक्तानि द्वाराणि विवृतानि, विशेषस्तु प्रज्ञापनादिमहाशास्त्रसमूहाद्विलोकनीयः ॥

परिणामी, जीव गाथायन्त्रकम्;

	द्रव्यनामानि	परिणामी	जीवः	मूर्त्तः	सप्रदेशी	एकः	क्षेत्रम्	सक्रियः	नित्यः	कारणम्	कर्त्ता	सर्वगतः	अप्रवेशी
१	धर्माऽस्तिकायः	०	०	०	१	१	०	०	१	१	०	०	१
२	अधर्माऽस्तिकायः	०	०	०	१	१	०	०	१	१	०	०	१
३	आकाशाऽस्तिकायः	०	०	०	१	१	१	०	१	१	०	१	१
४	जीवाऽस्तिकायः	१	१	०	१	०	०	१	०	०	१	०	१
५	पुद्गलाऽस्तिकायः	१	०	१	१	०	०	१	०	१	०	०	१
६	कालः	०	०	०	०	०	०	०	१	१	०	०	१

इदानीं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-गुणा-ऽऽकारलक्षणैर्द्वारैः केश्चिद्विशिष्टतया षड् द्रव्याणि विव्रियन्ते, तद्यथा;-धर्म्माऽस्तिकायो द्रव्यत एकः, क्षेत्रतोलोकाऽऽकाश(चतुर्दशरज्जु)प्रमाणः, कालतोऽनाद्यनन्तः, भावतो वर्णगन्धरससपर्शरहितः,

गुणतो गतिसाहाय्यकः, संस्थानतो वज्रसंस्थानीयः ॥ १ ॥ अधर्म्मास्तिकायो द्रव्यत एकः, क्षेत्रतो लोकाऽऽकाशप्रमाणः, कालतोऽनाद्यनन्तः, भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शवियुतः, गुणतस्स्थितिसाहाय्यकः, संस्थानतो वज्रसंस्थानीयः ॥ २ ॥ आकाशाऽस्तिकायो द्रव्यत एकः, क्षेत्रतो लोकाऽलोकमानः, कालतोऽनाद्यनन्तः, भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शवर्जितः, गुणतोऽवगाहदायकः, संस्थानतो गोलाकारकः ॥ ३ ॥ जीवाऽस्तिकायो द्रव्यतोऽनन्तस्वरूपः, क्षेत्रत एकं जीवमाश्रित्य जघन्यतयाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागः, उत्कृष्टस्त्वनेकान् जीवान् एकं वा जीवमाश्रित्य लोकाऽऽकाशप्रमाणः, कालतोऽनाद्यनन्तः, भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शरहितः, गुणतो ज्ञानदर्शनादिगुणोपेतः, आकृत्या देहाकारकः, समुद्घाताऽपेक्षया लोकाऽऽकारको वा ॥४॥ पुद्गलाऽस्तिकायो द्रव्यतोऽनन्तसंख्याऽऽत्मकः, क्षेत्रतो लोकाऽऽकाशपरिमितो निखिलपुद्गलद्रव्यजाताऽपेक्षया, परमाण्वपेक्षया सूक्ष्मपरिणामपरिणताऽनन्तप्रदेशिस्कंधाऽपेक्षया वा एकाऽऽकाशप्रदेशावगाहः, कालतोऽनाद्यनन्तः, भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शाद्युपेतः, गुणतः पूरणगलनस्वभावः, संस्थानत्वेन-दीर्घ-चतुरस्र-त्र्यस्र-वर्त्तुल-परिमण्डलादिसंस्थानीयः ॥ ५ ॥ कालो द्रव्यत एकः क्षेत्रतः सार्धद्वयद्वीपप्रमाणः, कालतोऽनाद्यनन्तः, भावतो वर्णादिवियुक्तः, आकृत्या अवक्तव्यः॥ ६ ।इत्येवं व्याख्याता अजीवतत्त्वस्य चतुर्दशभेदाः। प्रकाराऽन्तरेणाऽजीवस्य मूर्त्ताऽमूर्त्तविभागेन, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-गुणभेदैर्वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानभेदैश्च पञ्चाधिकपञ्चशतप्रभेदा भवन्ति, तेषां वर्णनं ग्रन्थविस्तरभयादत्र न लिख्यते, ग्रन्थान्तरेषु सुप्रतीतं, जिज्ञासुभिश्च तत्रतो विलोकनीयम् ॥ १५ ॥

व्याख्यायाऽजीवतत्त्वं, भेदप्रभेदैर्यन्मयोपात्तम् । तेनाऽस्तुश्रमणसङ्घो, जीवाऽजीवत्त्वविज्ञानयुतः ॥ १ ॥

इत्याराध्यपादाचार्यवर्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरविनेयावतंसोपाध्यायप्रवरश्रीप्रतापविजयजीगणिचरणाब्जचञ्चरीक—प्रवर्त्तकश्रीधर्मविजयविरचितायां श्रीनवतत्त्वप्रकरणसुमङ्गलाटीकायां द्वितीयमजीवतत्त्वं समाप्तम् ॥



। ॐ

अथ पुन्यतत्त्वम्

प ऽऽचारपरायणः समुदिते भव्याऽब्जबोधाऽर्यमा, दुर्ज्जय्योऽपि जिते जितेशहरिधात्राद्यन्तरारिः स्मरः।
येन प्रास्तमशेषवाद्यहिकुलं स्याद्वादसौपर्णिना, सोऽयं सार्वजनीनशं प्रकुरुतां सूरीशसङ्घस्सदा ॥ १ ॥

एवं जीवाऽजीवतत्त्वयोस्सम्यग् विवरणं विधायाऽथ तृतीयं क्रमायातं पुन्यतत्त्वं व्याचिख्यासुराचार्यस्तावादादौ द्विचत्वारिंशत्संख्याकपुन्यभेदमध्ये सप्तदशभेदाननया गाथया विवृणोति;—

साउच्चगोय मणुदुग—सुरदुगपंचिंदिजाइ पणदेहा अइतितणुणुवंग, अइमसंघयण संठाण १६

टीका;—सातवेदनीयं कर्म्म, उच्चैर्गोत्रं मनुजद्विकं मनुजगतिमनुजानुपूर्वीलक्षणं सुरद्विकं देवगतिदेवाऽनुपूर्वीस्वरूपं,

पञ्चेन्द्रियजातिः, पञ्चशरीराणि औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्म्मणरूपाणि, आदिभूतानां त्रयाणां शरीराणामौदारिक-वैक्रियाऽऽहारकाऽऽत्मनामङ्गोपाङ्गानि, वक्ष्यमाणसंहननषट्कमध्ये प्रथमसंहननं वज्रर्षभनाराचनामकं, एवं वक्ष्यमाणसंस्थान-षट्कमध्ये समचतुरस्राऽऽख्यं प्रथमसंस्थानं, इत्येतासां सप्तदशप्रकृतीनां शुभविपाकवत्त्वात् पुन्यप्रकृतयः प्रकीर्त्त्यन्त इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ व्यासार्थस्त्वयम् ;—इहलोके मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादकषाययोगाऽऽत्मकैः कर्म्मबन्धहेतुभिरुपात्तकर्म्माणो जीवाः प्रदेशोदयद्वारा विपाकोदयेन वोपात्तं कर्म्म यदानुभवन्ति तदाऽनुभूयमानशुभाऽशुभकर्मणामनुसारेण जीवा अपि तथाविधशुभाऽशुभाऽध्यवसायवन्तस्सन्तः पुनः स्वाऽवगाढाऽऽकाशप्रदेशवर्त्तिकार्म्मणवर्गणापुद्गलान् सर्वाऽऽत्मप्रदेशैर्गृहीत्वा-कर्म्मतया तान् परिणमय्य शुभाऽशुभपरिणामाऽनुसारेण स्थितिरसे तेषु कर्म्मपुद्गलेषु ग्रहणसमयेनैवोत्पाद्य क्षीरनीरवद् वह्न्य-यःपिण्डवद्वाऽऽत्मप्रदेशानामभेदाऽऽत्मकं सम्बन्धं कुर्व्वन्ति । तत् कर्म्म घाति–अघातिभेदाभ्यां द्विविधं, यत् कर्म्म अनन्त-ज्ञानाऽनन्तचारित्राऽनन्तवीर्याऽऽत्मकमात्मगुणं सर्वथा देशेन वा हन्ति तत् घाति, यच्चैवं न तदघाति । वक्ष्यमाणकर्म्माऽ-ष्टकमध्ये ज्ञानाऽऽवारकदर्शनाऽऽवरणीयमोहनीयाऽन्तरायलक्षणानि चत्त्वारि कर्म्माणि ज्ञानादिगुणानां घातकत्त्वाद् घातीनि, अज्ञानाद्यशुभविपाकजनकत्त्वादशुभानि । वेदनीय–आयु–नाम–गोत्राऽऽख्यानि चत्त्वारि अघातीनि कर्म्माणि सुखदुःख-प्रभृतिशुभाऽशुभविपाकजनकत्त्वात् शुभाऽशुभस्वरूपाणि । एवं घाति–अघातिनोर्मध्ये यान्यशुभानि कर्म्माणि ताः पापप्र-कृतयः, यानि च शुभानि कर्म्माणि ताश्च पुन्यप्रकृतयः। पुन्यं नाम पुनाति आत्मानं पवित्रीकरोतीति पुन्यम् ॥ अशुभकर्म्म-पांशुपांशुल आत्मा यैः कर्म्मभिः क्रमशः शुभं कर्म्म अर्जयित्त्वा पवित्रीभवति, क्रमेण च सत्तागतकर्म्मप्रदेशान् आत्मप्रदेशेभ्यः

परिशाटयन् शिवसुखभाक् च भवति तानि कर्माणि पुन्यसंज्ञकानि, तैः पुन्यसंज्ञककर्म्मभिर्जीवो यत् शुभं कर्म्म बध्नाति तत्कर्म्माऽपि पुन्यनाम्ना उच्यते, एवं पुन्यं कारणकार्यभेदाभ्यां क्रियाफलभेदाभ्यां वा द्विविधं, तत्र यैः सुपात्रदानादिभिः कारणैः क्रियाभिर्वा शुभविपाकजनकं पुन्यं कर्म्म उपार्जयति तत् पुन्यस्य कारणं क्रिया वा प्रोच्यते, यच्च सातोदयादिस्वरूपेणोपभुज्यते जीवैस्तत् पुन्यस्य कार्यं फलं वोच्यते। केषाञ्चिन्मतेन पापमेवैकं कर्म्म न तु पुन्यकर्म्म विद्यते, ते च दार्शनिका एवमाहुः— " पापमेवैकमस्ति न पुण्यं, तदेव पापं उत्तमामवस्थामनुप्राप्तं नारकभवाप्त्याऽलं अपचीयमाणं तु तिर्यङ्नराऽमरभवायेति, तदत्यन्तक्षयाच्च मोक्ष इति, यथाऽत्यन्ताऽपथ्याऽऽहारसेवनात्परममनारोग्यं, तस्यैव किञ्चित्किञ्चिदपकर्षादारोग्यसुखम्, अशेषाऽऽहारपरित्यागान्मृतिकल्पो मोक्ष इति " एतत्सर्वमप्ययुक्तं स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यतो न तावत्पापमेवाऽपचीयमानं सुखकारणं तस्य दुःखहेतुत्त्वेनेष्टत्त्वात्, विषस्याणुरपि किं कदाचित् पीयूषाय भवति ? एवं स्वल्पस्याऽपि पापस्य स्वल्पदुःखनिर्वर्त्तकत्त्वमनिवार्यम्, तथा चाण्वयसो लोहपिण्डादणुरपि लोहमय एव घटो भवति न तु सौवर्ण्णः, तस्मादस्ति सुखजनकं पुन्याख्यं कर्म्म इति ॥

अथ पुन्यबन्धस्य हेतवो व्याख्यायन्ते, तत्र मुख्यवृत्त्या तु मनोवाक्कायानां यो शुभव्यापारः स पुन्यबन्धस्य हेतुः, तथाऽप्यत्र किञ्चिद् विविच्य प्रदर्श्यते—सुपात्रेभ्यः तीर्थंकरगणधराऽऽचार्यस्थविरमुनिभ्योऽन्नप्रदानं १ सुपात्रेभ्यो निरवद्यवसतेर्वितरणम् २ सुपात्रेभ्यो वाससां प्रदानम् ३ सुपात्रेभ्यो निर्दुष्टप्राशुकजलप्रदानम् ४ सुपात्रेभ्यः संस्तारकस्य प्रदानम् ५ मनसः शुभसंकल्पः ६ वाचः शुभव्यापारः ७ कायस्य शुभव्यापारः ८ जिनेश्वरयतिप्रभृतीनां नमनवंदनपूजनादीनि ९ इत्येतानि

नव पुन्यबन्धस्य हेतुत्त्वेनोदाहृतानि, तथा चोक्तं श्रीमत्स्थानाङ्गसूत्रे–“णव विधे–पुण्णे–अन्नपुन्ने १ पाणपुन्ने २ वत्थपुन्ने ३ लेणपुन्ने ४ सयणपुन्ने ५ मणपुन्ने ६ वतिपुन्ने ७ कायपुन्ने ८ नमोकार पुन्ने” ९ ॥ अन्यैरपि प्रत्यपादि—अन्नं पानं च वस्त्रं च, आलयः शयनासनम् । शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः पुन्यं नवविधं स्मृतम् ॥ १ ॥ अथ पात्राऽपात्र विचारणा विधीयते—तीर्थंकरगणधरा मोक्षमार्गानुयायिनो मुनयश्च सुपात्रत्त्वेनोक्ताः, देशविरतिवन्तो गृहस्थाः सम्यग्दृष्टयश्च पात्रतया समाख्याताः, दीनमनस्काः करुणायोग्या अङ्गोपाङ्गविहीनाऽपि पात्रत्त्वेनोदाह्रियन्ते, शेषाः सर्वे अपात्रत्वेनोच्यन्ते । तत्राऽपि सुपात्राय धर्म्मबुद्ध्या प्राशुकमशनादिकं प्रददतो भावुकस्याऽशुभकर्म्मणो महती निर्जरा महान् पुन्यबन्धश्च । देशविरतसम्यग्दृष्टिश्रावकेभ्योऽन्नादिकं वितरतो मुनिदानाऽपेक्षया अल्पपुन्यबन्धनिर्जरे च भवतः । अङ्गादिहीनेभ्योऽथवा तथाप्रकारेभ्यो दीनाद्यवस्थां प्राप्तेभ्योऽनुकम्पाबुद्ध्या दानं ददातुर्गृहस्थदानाऽपेक्षयाऽपि अल्पतरपुन्यबन्धो भवति । यद्वा यः कश्चिदपि मम गृहाङ्गणे समायायात् तस्मै यद्यहं न किञ्चिदपि प्रदास्यामि तदा ममाऽर्हतधर्म्मस्य लघुता भाविनीत्येयं मनसि निर्धार्य दानं ददाति तदपि अल्पतरपुन्यबन्धहेतुत्त्वेन जायते । श्वानकपोतप्रभृतिपशुपक्षिणामभयदानेऽन्नादिदाने वा तेषां पात्रत्त्वाऽभावेऽपि करुणायास्सद्भावादवश्यं पुन्यबन्धः । तथा गेहं प्रति समागतानां सत्यस्याद्वादमतपराङ्मुखानां ब्राह्मणकापालिकतापसानां ‘ इमे अपि धर्म्मभाजः ’ यद्वा ‘ एभ्यो वयं दानं वितरिष्यामस्तदा पुन्यबन्धो भावि ’ इति धिया दानं न प्रदेयं, परं जिनमतप्रोक्ताऽवितथधर्म्मभाजां श्राद्धानां द्वाराण्यभङ्गानि, मम द्वारि समागतो न कश्चिदपि निराशो भूत्वा प्रतिगच्छेत्, यदि सोऽन्नादिकमगृहीत्वैव प्रतिव्रजिष्यति तदा ममाऽवितथजैनेन्द्रधर्म्मस्य जुगुप्सा भविष्यति, अथवा मम दाक्षिण्यगुणेऽपि न्यूनत्वं स्यादित्यात्मिकां बुद्धिं विधाय तेभ्यो

पुन्यतत्त्वे पुन्यबन्धस्य हेतवः।

जिनधर्म्मविमुखेभ्योऽपि यथाशक्ति अशनादिकं प्रदातव्यं, एवं स्वकीयदानगुणस्योपबृंहणा धर्म्मस्य प्रभावना च संजायेत । पारगतविशुद्धधर्म्मस्य महिमानं दृष्ट्वा केचित्तं धर्म्ममपि प्रपद्येरन् । तथा च भगवन्तस्तीर्थकरा अपि त्रिभुवनैकनाथा अचित्र-जिपवः सांवत्सरिकमनुकम्पया प्रयच्छन्त्येव दानम्, उक्तञ्च—"सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं । सत्ताणुकंप-ण दाणं न कहिंचि पडिसिद्धम्" ॥ १ ॥ इति ॥ केचिच्च वापीवप्रकूपतटाकादिविधाने सुपात्रदानादिवत् पुन्यबन्धं मन्यन्ते यतस्तेषु तेषु स्थानेषु बहवः प्राणिनस्तृषाकुलास्सन्तस्समागत्य कणेहत्य पयःपानेन गतपिपासास्संजायन्ते सुखञ्चानुभवन्ति, तथा केचन क्षेत्रादिषु तेषु तेषु प्रदेशेष्वधिकप्ररोहाऽऽशया दावानलं प्रज्वालयन्ति गवाद्यर्थं च तानि क्षेत्राणि रक्षयन्ति, कैश्चित्तु सत्राऽऽगारमसंयतपोषकं पुन्यबन्धस्याऽऽशंसया निर्मीयते । एतत्सर्वमपि विचाराऽऽस्पदम्, वस्तुतस्त्वेषः पात्राऽपात्रविचारः धर्म्ममार्ग्गमनाबाध्य तर्क्य इति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पुन्यबन्धस्य हेतून् प्रदर्श्य अधुना यैर्द्विचत्त्वारिंशत्प्रकारैस्तत् पुन्य कर्म्म जीवैरनुभूयते ते प्रकाराः क्रमशो लिख्यन्ते—तत्र यदुदयादारोग्यविषयोपभोगादिजनितमाह्लादलक्षणं सातं वेद्यते तत् सातवेदनीयम् ॥ १ ॥ यदुदयादुत्तमजातिकुलबलतपोरूपैश्वर्यश्रुतसत्काराऽभ्युत्थानाऽऽसनप्रदानाऽञ्जलिप्रग्रहादिसंभवस्तदुच्चैर्गोत्रम् ॥ २ ॥ गम्यते तथाविधकर्म्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः, नारकत्त्वादिपर्यायपरिणतिः, ततो यया गतिनामकर्म्मप्रकृत्या मनुजगतित्त्वं लभते तन्मनुष्यगतिनामकर्म्म ॥ ३ । विग्रहगत्या भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्याऽनुश्रेणि नियता गमनपरिपाटी आनुपूर्वी,ययाऽऽनुपूर्वीनामकर्म्मप्रकृत्या मनुजगतिबद्धायुर्जीवोऽन्यत्र गच्छन् मनुष्यगतावानीयते सा मनुजाऽऽनुपूर्वी । तयोर्मनुजगतिमनुजाऽऽनुपूर्व्योर्द्विकं मनुजद्विकम् ॥ ४ ॥ एवं सुरद्विकं सुरगतिसुराऽऽनुपूर्वीलक्षणं ज्ञेयं; तद्यथा;—येन

गतिनामकर्म्मणा तथाप्रकारककर्म्मसचिवेर्जीवैर्देवगतित्वं लभ्यते सा देवगतिः ॥ ५ ॥ येन चाऽऽनुपूर्वीनामकर्म्मणा सुरगतिबद्धायुर्जीवोऽन्यत्र गच्छन् सुरगतावानीयते सा सुराऽऽनुपूर्वी ॥ ६ ॥ एकेन्द्रिय–द्वीन्द्रियादीनां एकेन्द्रियद्वीन्द्रियशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथाविधसमानपरिणतिलक्षणं सामान्यं जातिः, तद्विपाकोदयवेद्या कर्म्मप्रकृतिरपि जातिः, अयमत्र पूर्वाचार्याणामाशयः— द्रव्यरूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गनामकर्म्मणा इन्द्रियपर्याप्तिजनकपर्याप्तनामकर्म्मणा च सिद्धम्, भावरूपं (भावेन्द्रियं) तु स्पर्शनादीन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमसामर्थ्यात् सिद्धम् "क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" इति वचनात्, यत्पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं सामान्यं तदन्याऽसाध्यत्वाज्जातिनामनिबन्धनमिति । ततो यया जातिनामकर्म्मप्रकृत्या जीवस्य पञ्चेन्द्रियत्वं स्यात् सा पञ्चेन्द्रियजातिः ॥ ७ ॥ अथाऽष्टममौदारिकशरीरनामकर्म्म, तत्र शीर्यते इति शरीरम्, तीर्थकरत्वादिलाभाऽपेक्षया उदारैः पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकं, औदारिकञ्च तच्छरीरमौदारिकशरीरम्, यदुदयादौदारिकशरीरयोग्यान् पुद्गलानादायौदारिकशरीरतया परिणमयति परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति तदौदारिकशरीरनाम ॥ ८ ॥ विक्रियया निष्पन्नं वैक्रियं, वैक्रियञ्च तच्छरीरं वैक्रियशरीरं, यदुदयाद्वैक्रियशरीरयोग्यान् वैक्रियवर्गणागतपुद्गलानादाय वैक्रियशरीरत्वेन परिणमयति, परिणमय्य चाऽऽत्मप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुगमस्वरूपेण सम्बन्धयति तद्वैक्रियशरीरनामकर्म्म ॥ ९ ॥ यदुदयादाहारकशरीरयोग्यान् आहारकवर्गणागतपुद्गलानादाय आहारकशरीरतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति तदाहारकशरीरनामकर्म्म ॥ १० ॥ यदुदयात्तैजसशरीरयोग्यान् तैजसवर्गणागतपुद्गलानादाय तैजसशरीरतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहाऽन्योऽनुगमात्मकमभेदं सम्बन्धं करोति तत्तैजसशरीरनामकर्म ॥ ११ । यदुदयात्कार्म्मणशरीरयोग्यान्

॥ ५०

कार्म्मणवर्गणान्तःपातिपुद्गलस्कंधानादाय कार्म्मणशरीरतया परिणमयति परिणमय्य चाऽऽत्मप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्याऽनुगमात्मक-
मभिन्नं सम्बन्धं वेदधाति तत् कार्म्मणशरीरनाम ॥ १२ ॥ एतानि प्राङ् निर्दिष्टानि पञ्च शरीरनामकर्म्माणि पुन्यसंज्ञकानि, कि
तत्तच्छरीरनामकर्म्मजन्यं औदयिकभावफलस्वरूपं औदारिकादिशरीरमपि पुन्यसंज्ञकं भवति, पुन्यसंज्ञककर्म्मणः कार्यत्त्वात् ॥
ननु औदारिकादिनामकर्म्मचतुष्कस्य भवतु पुन्यसंज्ञा शुभविपाकजनकत्त्वात्तेषां, परं कार्म्मणशरीरनाम कर्म्माऽपि पुन्यसञ्ज्ञकं
कथं प्रतिपाद्यते, यत एतत्तु भवभ्रमणस्य प्रधानं निमित्तं ? उच्यते—सत्यं : सर्वाणि पौद्गलिकसुखानि दुःखानि वा कार्म्मणश-
रीरनामकर्म्मप्रभवाणि, एवं सत्यपि यदत्र कार्मणशरीरनामकर्म्म पुन्यसंज्ञकत्त्वेन प्रोचुः प्रावचनिकास्तत्र पौद्गलिकसुखेषु
कार्म्मणशरीरस्य प्राधान्यं विवक्षितं, नास्त्यन्या काऽप्युपपत्तिः ॥ अङ्गान्यष्टौ शिरःप्रभृतीनि, उक्तश्च;—" सीसमुरोयरपिट्ठि दो
बाहू ऊरुया य अट्ठंगा " । तदवयवभूतान्यङ्गुलादीनि चोपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलिपर्वरेखादीनि अङ्गो-
पाङ्गानि । ततोऽङ्गानि चोपाङ्गानि चाङ्गोपाङ्गानि, अङ्गोपाङ्गानि चाऽङ्गोपाङ्गानि चाङ्गोपाङ्गानि, (सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ
१-२-६४-पा०) इत्येकशेषः । तन्निमित्तं कर्म्माऽङ्गोपाङ्गं, तत्रिधा-औदारिकाङ्गोपाङ्गं, वैक्रियाङ्गोपाङ्गं, आहारकाङ्गोपाङ्गं,
तत्र यदुदयादौदारिकशरीरत्त्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तदौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम । यदुदयाद्वै-
क्रियशरीरत्त्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणाम उपजायते तदौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम । यदुदयादाहारकशरीरत्त्वेन
निष्पन्नानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणाम उपजायत इति आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तैजसकार्म्मणवपुषोस्तु आत्मप्रदेशतुल्य-
संस्थानत्त्वात्तयोर्नास्त्यङ्गोपाङ्गसम्भवः । अत्र तनुपञ्चकमध्ये यानि औदारिकवैक्रियाऽऽहारकाणि त्रीणि वपूंषि तान्यङ्गोपाङ्गो-

पुन्यतत्त्वे पुन्यभेद-प्रतिपादनम्

पेतान्येवाऽन्यत्र एकेन्द्रियशरीराणि, ननु एकेन्द्रियाऽन्तर्गत वनस्पतिकायिकतरुप्रभृतिषु शाखा-प्रशाखा-पुष्प-फल-पत्र-किसलयादीनामवयवत्त्वेन सुविख्यातानां सद्भावात् कथमुच्यते अन्यत्रैकेन्द्रियशरीराण्यङ्गोपाङ्गानि? सत्यम्, यद्यपि लोके ते शाखाप्रशाखादयोऽवयवत्त्वेन व्यवह्रियन्ते, परं तन्न समीचीनम्। यतस्तेषु तेषु शाखाप्रशाखासुमनोदलेषु प्रतिशाखं प्रतिप्रशाखं प्रतिपुष्पं प्रतिपत्रं च भिन्नो जीवः, न तु ते विवक्षितवृक्षजीवस्याऽवयवीभूताः, अत एकेन्द्रियेष्वौदारिकनामकर्म्मसद्भावे सत्यपि अङ्गोपाङ्गनामकर्म्मणोऽभावाद् अवयवीभूतानामङ्गोपाङ्गानामसम्भवः सुसाध्यः। एकेन्द्रियव्यतिरिक्तेषु शेषेषु भवस्थ-जीवेषु औदारिकवैक्रियनामकर्म्मप्रभृतिकर्म्मसद्भावेऽपि यद्यङ्गोपाङ्गनामकर्म्म न भवेत्तदा तु तेषामपि संसरणशीलानां संसारिजीवानामेकेन्द्रियजीववदङ्गोपाङ्गाऽभावः स्यादिति, प्रत्यक्षाश्चाऽवयवा मनुष्यप्रभृतिषु दरीदृश्यन्त इत्यलमतिचर्चया॥ अथ षोडशं वज्रर्षभनाराचाऽऽख्यं शुभं कर्म्म विविच्यते, तत्र संहननं नामाऽस्थिरचनाविशेषः, तच्च-वज्रर्षभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्त्तभेदैः षोढा, मध्येसंहननषट्कं प्रथममेव शुभं शेषाण्यशुभानि, पुन्यतत्त्वव्याख्या-प्रसङ्गात् प्रथमं वज्रर्षभनाराचमेवात्र व्यावर्ण्यते;—अस्मिन् 'वज्रर्षभनाराच' इति पदे त्रयः शब्दाः, वज्रं ऋषभो नाराचश्च, तत्र वज्रं कीलिका, ऋषभः परिवेष्टनपट्टः, नाराचमुभयतो मर्कटबन्धः। एतानि कीलिकापरिवेष्टनपट्टनाराचाऽऽख्यानि त्रीण्यपि रचनाविशेषाणि यस्मिन्नस्थ्नि समुदितानि सन्ति, साऽस्थिरचना वज्रर्षभनाराचाऽऽख्या कथ्यते, ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनाऽस्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदिकीलिकारूपवज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रर्षभनाराचसंज्ञमाद्यं संहननम् ॥ १६ ॥ अथ सप्तदशं समचतुरस्रसंस्थानं, तत्र संस्थानमाकारविशेषः संगृहीत-

संघाततवद्धेष्वौदारिकादिपुद्गलेषु यदुदयाद् भवति तत्संस्थाननाम, तच्च षोढा, समचतुरस्रं, न्यग्रोधपरिमण्डलं, सादि, वामनं कुब्जं हुण्डं चेति, तत्र समचतुरस्रमेकमेव भविपाकजनकत्वाच्छुभं, अन्येषां त्वशुभविपाकजनकत्वादशुभत्वमिति । समाः सामुद्रिकशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणाऽविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयश्चतुर्दिग्भागोपलक्षिताः शरीराऽवयवा यस्य तत् समचतुरस्रम् । येन नामकर्म्मणा एतादृक् समचतुरस्रसंस्थानं सञ्जायते तत् समचतुरस्रसंस्थाननामकर्म्म अथवा ये जीवा–आत्माङ्गुलगणनयाऽष्टोत्तरशताऽङ्गुलप्रमितास्तेऽपि समचतुरस्रसंस्थानीयाः। सुरनरपतिनताङ्घ्रयस्तीर्थप्रवर्त्तकतीर्थंकराः समे देवाश्चैतत्संस्थानभाजस्स्युः, शेषजीवाऽपेक्षयैतत्संस्थानं भाज्यम् ॥ १७ ॥ १५ ॥

वन्नचउ गुरुलहु–परघा उस्सास अयवुज्जोयं ।
भखगइ निमिण तसदस, सुरनरतिरिआउतित्थयरं १६

टीका;—प्राक्तनगाथायां पुन्यतत्त्वस्य सप्तदशप्रकृतीः संख्यायाऽथाऽनया गाथयाऽवशिष्टाः काश्चिद् व्याख्यायन्ते । तत्रादौ वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शाऽऽत्मकं ब्रूते, यद्यपि वर्णचतुष्कं नामकर्म्मण उत्तरप्रकृतिभूतं शुभाऽशुभलक्षणं चतुर्द्विपष्टभेदात्मकं क्रमशः कर्म्मग्रन्थादौ व्याख्यातं, तथाऽप्यस्मिन्प्रकरणे पुन्यपापतत्त्वयोरुभयत्रापि अविवक्षितोत्तरभेदं तदेव वर्णचतुष्कमुक्तं तत्र ग्रन्थकर्तुर्वैवक्षैव–कारणम्। नन्वेकस्य वर्णचतुष्कस्य पुन्यपापयोरुभयत्र कथं विन्यास इति चेत्शुभाऽशुभत्वाऽपेक्षया विज्ञेयमिति। वर्णनामकर्म्माऽपि पञ्चधा, तत्र श्वेतरक्तपीतलक्षणास्त्रयो वर्णाः शुभाः, नीलकृष्णौ द्वौ चाऽशुभौ । ‘वस्त गन्ध अर्दने ’

गन्ध्यते आघ्रायत इति गन्धः, स द्विधा, सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च, तन्निबन्धनं गन्धनामकर्म्माऽपि द्विविधं, तत्र सुरभिगन्धः शुभ इतरश्चाऽशुभः । ('रस' आस्वादनस्नेहनयोः) रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, स च पञ्चविधः तिक्तकटुकषायाऽऽम्लमधुरभेदात्, तन्निबन्धनं रसनामाऽपि पञ्चधा, तत्र कषायाऽऽम्लमधुररसाश्च शुभाः, अन्यौ तिक्तकटू त्वशुभौ । "छुप स्पृश संस्पर्शे" स्पृश्यत इति स्पर्शः, स च कर्कशमृदुगुरुलघुरूक्षस्निग्धशीतोष्णभेदादष्टधा, तन्निबन्धनं स्पर्शनामाऽप्यष्टधा, तत्र मृदुलघुस्निग्धोष्णाऽऽत्मकाश्चत्वारो भेदाः शुभाः, अन्ये परिपन्थिनश्चत्वारोऽशुभाश्च। इत्येवं शुभाऽशुभवर्णविंशतिमध्ये शुक्लाद्या एकादश वर्णगन्धरसस्पर्शाः शुभकर्म्मान्तःपातिनः, अन्ये नीलवर्णाद्याः सप्ताऽशुभवर्णचतुष्काऽन्तर्गता इति । तत्र यदुदयाज्जीवानां शरीरेषु शुक्लादयो वर्णा मरालबलाकादीनामिव प्रादुर्भवन्ति तद् वर्णनामकर्म्म, पुन्यप्रकृतित्वादाह्लादजनकत्वाच्च शुभम् ॥ १८ ॥ एवमग्रेऽपि भावनीयम्, यदुदयाज्जन्तूनां शरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते कमलानामिव तद् गन्धनामकर्म्म ॥ १९ ॥ यदुदयात्सत्त्वानां शरीरेषु मधुरादयो रसा संजायन्ते सहकारफलादीनामिव तद् रसनामकर्म्म ॥ २० ॥ यदुदयात् प्राणिनां वपुष्षु स्निग्धमृद्वादयस्स्पर्शा उपजायन्ते कुवलयकेसराणामिव तत् स्पर्शनामकर्म्म ॥ २१ ॥ यदुदयाद् जीवानां शरीराणि न गुरूणि नाऽपि च लघूनि नापि गुरुलघूनि किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तदगुरुलघुनामकर्म्म ॥ २२ ॥ यदुदयादोजस्वी भवति दर्शनमात्रेण वाक् सौष्ठवेन वा महासभागतः सन् सभ्यानामपि त्रासमुत्पादयति, प्रतिवादिनश्च प्रतिभां प्रतिहन्ति तत्पराघातनाम ॥ २३ ॥ यदुदयादुच्छ्वासनिश्वासलब्धिस्संजायते तदुच्छ्वासनाम ॥२४॥ यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणाऽनुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं विकुर्वन्ति तदातपनाम, तदातपनामविपाकश्च भानुमण्डलगतभूकायिकेष्वेव न वह्नौ, प्रवचने प्रति-

न्धात्, तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शोदयात् प्रकाशत्वमुत्कटलोहितनामोदयाच्चेष्यते । २५ ॥ यदुदयाज्जन्तुगात्राणि अनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्ति यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियचन्द्रग्रहनक्षत्रतारा विमानरत्नौषधयस्तदुद्योतनाम ॥ २६ ॥ 'सुभखगइ' त्ति गमनं गतिः, खे विहायसा गतिः खगतिः, शुभा चासौ शुभखगतिः, नारकादिगत्युदासाय खेति विशेषणम्, खरोष्ट्रवर्त्ति अशुभगतित्वं वारणाय शुभेति पदं, यदुदयाद् हंसगजवृषभादीनामिव प्रशस्ता गतिर्भवति तत् शुभखगतिनामकर्म्म, तच्च शुभं सुविपाकरूपत्वात् । २७॥ 'निमिण' त्ति, यदुदयाज्जन्तुशरीरेष्वङ्गप्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवर्त्तिता भवति तन्निर्म्माणनाम सूत्रधारकल्पं, तदभावे हि तद्भृतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्त्तितानामपि शिरउरादीनां स्थानप्रवृत्तेरनियमस्स्यात् ॥ २८ ॥ "तसदस" त्ति, गाथायां त्वग्रे वक्ष्यमाणमपि त्रसदशकं प्रसङ्गादत्रैव विव्रियते, तच्चैवम्;—"तस बायरपज्जत्तं पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च । सुस्सर आइज्जजसं तसाइदसगं इमं होइ" ॥ १ ॥ तत्र त्रसन्ति उष्णाद्यभितप्ताः स्थानात् स्थानाऽन्तरं गच्छन्तीति त्रसाः, परिस्पष्टसुखदुःखेच्छाप्रद्वेषादिलिङ्गास्त्रसनामकर्म्मोदयात्त्रसाः, तद्विपाकवेद्या कर्म्मप्रकृतिरपि त्रसनाम ॥ २९ ॥ यदुदयाज्जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं बादरत्वं भवति तद्बादरनाम, बादरपृथिव्यादेरेकैकशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाऽभावेऽपि बादरत्वपरिणामविशेषाद् बहूनां समुदाये चक्षुषा ग्रहणं भवति ॥ ३० ॥ यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्थो भवति तत्पर्याप्तनाम । ३१ ॥ यदुदयात्प्रतिजीवं भिन्नशरीरमुपजायते तत् प्रत्येकनाम, ननु कपित्थाऽश्वत्थपीलुप्रभृतीनां मूलस्कन्धत्वक्शाखादयः प्रत्येकमसंख्येयजीवात्मकाः प्रवचने प्रोच्यन्ते, मूलादयश्च देवदत्तशरीरवद् अखण्डैकशरीरा उपलभ्यन्त इति तत्कथं तेषां प्रत्येकशरीरत्वम्? प्रति जीवं शरीरभेदाऽभावादिति चेन्मैवं मंस्थाः, तन्मूलादिष्वसंख्येयानामपि जीवानां पृथक् पृथक् शरीराऽभ्युपगमात्, केवलं श्लेषद्रव्य-

मे श्रितसकलसर्षपवर्त्तिकावत् प्रबलरागद्वेषोपचित विचित्रप्रत्येकनामकर्म्मपुद्गलोदयात्तेषां परस्परं विमिश्रशरीरसंभवः ॥ ३२ ॥ यदुदयाच्छिरोऽस्थिदन्तादीनां शरीरावयवानां स्थिरता स्यात् तत्स्थिरनाम ॥ ३३ ॥ यदुदयान्नाभेरुपरितना अवयवाः शोभना जायन्ते तच्छुभनाम ॥ ३४ ॥ यदुदयादनुपकृदपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत् सौभाग्यनाम ॥ ३५ ॥ यदुदयाज्जीवस्वरः श्रोतृप्रीतिहेतुर्भवति तत्सुस्वरनाम ॥ ३६ ॥ यदुदयाल्लोको यत्तदपि वचनं प्रमाणीकरोति, दर्शनसमनन्तरमेव चाऽभ्युत्थानाद्याचरति तदादेयनाम ॥ ३७ ॥ तपःशौर्यत्यागादिना समुपार्जितेन यशसा कीर्त्तनं यशःकीर्तिः, यद्वा यशः सामान्येन ख्यातिः, कीर्तिर्गुणोत्कीर्त्तनरूपा प्रशंसा, अथवा " एकदिग्गामिनी कीर्त्तिः सर्वदिग्गामुकं यशः, दानपुन्यभवाकीर्त्तिः पराक्रमकृतं यशः " ॥ १ ॥ ते यशःकीर्त्ती यदुदयाद् भवतस्तद्यशःकीर्त्तिर्नाम ॥ ३८ ॥ इति त्रसदशकम् ॥

यदुदयादेवभवनिवासहेतुकमायुः प्राप्यते तद्देवायुः ॥ ३९ ॥ यदुदयान्मनुजभवनिवासहेतुकमायुरवाप्यते तन्मनुष्यायुः ॥ ४० ॥ यदुदयात्तिर्यक्त्वपर्यायकारणमायुर्लभ्यते तत्तिर्यश्चायुः ॥ ४१ ॥ एतानि त्रीण्यप्यायूंषि शुभानि शुभविपाकप्रदायकत्वात्तेषां, ननु युक्तमुक्तं देवमनुजायुषी पुन्यसंज्ञके शुभाह्लादजनकत्वात् पौद्गलिकसुखप्रधानत्वात् पुन्यकारणत्वाद्वा तयोः, परं तिर्यगायुः कथं शुभं ? तत्तु क्षुत्पिपासासहनताडनतर्जनछेदनभेदनप्रभृतिदुःखबहुलत्वादशुभं प्रत्यक्षमेव पश्यामो वयम् अन्यत्र क्वचित् कदाचित् कथञ्चित् पार्थिवपरायत्तानां हस्त्यश्वराजहंसशुकपिकादीनाम्, उच्यते—यद्यपि तिर्यञ्चस्तिर्यगायुर्भाजोऽनेकविधदुःखानि पराधीनास्सन्तो नितरां सहन्ते जन्मान्तरेऽविचारितकर्म्मविपाकास्सहसाकृतकर्म्माणस्तथाऽपि न तेषामायुरशुभमुच्यते, यतो दुःखमनुभवन्तोऽपि ते स्वायुपस्समाप्तिपर्यन्तं जिजीविषवो न कदाचनाऽपि मृत्युं समीहन्ते नारकवद्, प्रत्यक्षमेतद्

यतः प्रगृह्यमाणा मत्कुणादयो प्रधावन्ति, नारकास्तु प्रतिक्षणमेतदेवेहन्ते कदा वयं (क्षेत्रजनित-परस्परोदीरित-संक्लिष्टासुरोदीरित-त्रिविध) दुःखतापान् मोक्ष्यामहे, कदाऽस्माकं मरणं समायायात् येन गत्यन्तरं गत्वा सुखभाजो भवामः । ननु यथा देवमनुजायुर्भ्यां सह देवमनुजगती देवमनुजानुपूर्व्यौ च पुन्यप्रकृतावन्तर्गण्येते, तथा तिर्यगायुषा सह तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी च पुन्यप्रकृतिमध्ये कथं न पठ्यते ? उच्यते—यानि कर्म्माणि विशुद्धाऽध्यवसायैर्बध्यन्ते शुभविपाकत्वेनाऽनुभूयन्ते च तान्येव पुन्यकर्म्माणि, यानि च संक्लिष्टाऽध्यवसायैरातमसात्क्रियन्तेऽनुभूयन्ते चाऽशुभविपाकत्वेन तान्यशुभानीति प्रवदन्ति प्रवचनेप-निषद्वेदिनः । यदुक्तं शतके-" बायालंपि पसत्था विसोहिगुणमुक्कडस्स जीवस्स बासीइमप्पसत्था इत्थुक्कडसंकिलिट्ठस्स ॥ ४१ ॥ यदुदयादष्टमहाप्रातिहार्याद्यतिशयाः प्रादुर्भवन्ति तत्तीर्थकरनाम ४२ ॥ १६ ॥

तसबायरपज्जत्तं पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च । सुस्सर अइज्जजसं, तसइदसगं इमं होइ १७

टीका;—व्याख्यातार्था ॥ १७ ॥ इत्येवं समासतः पुन्यतत्त्वस्य द्विचत्त्वारिंशद् भेदाः समाख्याताः, तेषां मध्ये नारकादिपु चतसृपु गतिषु कस्यां गतौ के भेदास्सन्ति तान् पृथक्कृत्याह;—नरकगतौ तावत् सातवेदनीयं-पञ्चेन्द्रियजातिः-वैक्रियद्विकं-तैजसनाम-कार्म्मणनाम-वर्णादिचतुष्कं[3] अगुरुलघुनाम-पराघातनाम-उच्छ्वासनाम-निर्म्माणनाम-त्रसनाम-बादरनाम-पर्याप्त-

---

१—अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च । भामण्डलं दुंदुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥ १ ॥

२—जिनेश्वराणां जन्मदीक्षाकल्याणकादौ नरकगत्यामपि क्षणं सातवेदनीयस्यानुभवः सञ्जायते ॥

३—यद्यपि नारकाणां प्रायोऽशुभवर्णचतुष्कं उदयवद्दृश्यते स्थूलदृष्ट्या, सूक्ष्मदृष्ट्या त्वल्पांशेन शुभवर्णादिचतुष्कस्याऽपि सद्भावोऽस्ति ॥

नाम–प्रत्येकनाम–स्थिरनाम–शुभनाम–चेत्येतानि शुभकर्म्माणि उदयापेक्षया वर्त्तन्त इति सर्वविदां सिद्धान्ते प्रोक्तम् । तिर्यग्गतौ तु मनुष्यत्रिक–देवत्रिका–ऽऽहारद्विक–जिननामसंज्ञकानि नवसंख्याकानि वर्जयित्वा शेषाणि त्रयस्त्रिंशत् तत्र विद्यन्ते ॥ देवत्रिकतिर्यगायुरातपाऽऽख्यानि पञ्च वर्जयित्वा सप्तत्रिंशन्मनुजगत्यामुदयेन विद्यन्ते । मनुजत्रिकतिर्यगायुरौदारिकद्विकाऽऽतपाऽऽहारकद्विकजिननामविकलानि द्वात्रिंशत्शुभकर्म्माणि देवैरनुभूयन्ते देवगतौ ॥ इन्द्रियमार्गणायां पुनरेकेन्द्रियजातौ सातवेदनीयौदारिकाङ्ग–तैजस–कार्म्मण–वैक्रियाङ्ग–वर्णादिचतुष्काऽगुरुलघु–पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योत–निर्म्माण–बादर–प्रत्येक–स्थिर–शुभ–यशःकीर्त्तितिर्यगायुस्स्वरूपाणि द्वाविंशतिसंख्याकानि पुन्यकर्माणि वर्त्तन्ते । सातवेदनीयौदारिकद्विक–तैजस–कार्म्मण–वर्णादिचतुष्काऽगुरुलघु–पराघातोच्छ्वासोद्योत–निर्म्माण–तिर्यगायुस्त्रस–बादर–पर्याप्त–प्रत्येक–स्थिर–शुभ–यशःकीर्त्तिरूपा द्वाविंशतिशुभप्रकृतयो द्वीन्द्रियजातौ जीवैरनुभूयन्ते । त्रीन्द्रिय–चतुरन्द्रियजातावप्येवमेव ज्ञातव्यम् । आतपं विहायैकचत्वारिंशत् पञ्चेन्द्रियजातौ ज्ञेयम् । एवं काययोगादिमार्गणास्वपि स्वयमेवोह्यम् ॥ इति पुन्यतत्त्वम् ॥

पुन्याख्यतत्त्वव्याख्यानादधिगतञ्च यन्मया पुन्यम् ॥ पुन्यानुबन्धिपुन्यार्जनपरायणो भवतु भव्यौघः ॥ १ ॥

इत्याराध्यपादाऽऽचार्यवर्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरविनेयावतंसोपाध्यायपदालङ्कृतश्रीमत्प्रतापविजयगणिचरणाब्जचञ्चरीकप्रवर्त्तक-श्रीधर्मविजयविरचितायां श्रीनवतत्त्वप्रकरणस्य सुमङ्गलाटीकायां तृतीयं पुन्यतत्त्वं समाप्तम् ॥

१–आहारकद्विकस्योदयस्तु चतुर्दशपूर्वविदां सयतमनुजानामेव नान्येषाम् ॥ २–आतपस्योदयस्तु बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकेष्वेव नान्यत्रेति ॥



अथ चतुर्थं पापतत्त्वम्

अङ्गोपाङ्गमयं जिनागमवरं येऽध्यापयन्तो दा, सिद्धान्तोदधिपारगाश्च समुपास्यन्ते विनेयैस्सदा । मोक्षावाप्तिसुलक्षणोक्तिपटवो विज्ञानसत्संपदा- धारा वेजयन्तु पाठकवरा भव्यौघनन्दप्रदाः ॥ १ ॥

द्विचत्वारिंशद्भेदाऽऽत्मकं पुन्यतत्त्वं व्याख्याय क्रमाऽऽयातं द्व्यशीतिभेदाऽऽत्मकं पापतत्त्वं व्याचिख्यासुः सूत्रकारो गाथाऽऽत्मकं सूत्रं सूत्रयति;—

नाणंतरायदसगं, नवबीए नीअसायमिच्छत्तं थावरदसनरयतिगं, कसायपणवीस तिरियदुगं १८

व्याख्या—'नाणंतरायं' इत्यादि ज्ञानावरणप ', अंतरायपञ्चकं चेभयमिलने दश, द्वितीयस्य दर्शनावरणीयस्य निद्रादिभेदयुता नवप्रकाराः, नीचैर्गोत्रम्, अशातावेदनीयं, मिथ्यात्त्वं, नामकर्म्मान्तर्वर्त्तिस्थावरदशकं, नरकगति–नरकायु–नरकानुपूर्वीरूपं नरकत्रिकं, अनन्तानुबन्धि–अप्रत्याख्यान–प्रत्याख्यान–सञ्ज्वलनभेदात्मका हास्यषट्क–वेदत्रिकोपेता कषायस्य प -

वैंशतिप्रकारा मोहनीयकर्म्मगताः, तिर्य्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपं तिर्यग्द्विकं चेत्येते द्विपष्टिभेदाः विशेपतोऽग्रे व्याख्यास्यमानाः दुःक्खानुभवहेतुत्त्वात् पापप्रकृतित्वेन गण्यन्त इति गाथाक्षरार्थः ॥

भावाऽर्थस्त्वयम्;—पाशयति गुण्डयत्यात्मानं पातयति चात्मन आनन्दरसं शोपयति क्षपयतीति वा पापम्। अस्मिन् संसारे संसारोदरवर्त्तिनां जन्तूनां समयप्रमाणोऽपि कालो एतादृङ्नास्ति यस्मिन् समयेऽयं जीवः कर्म्मबन्धं न विदध्यात्। "जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ निप्फंदइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छविहबंधए वा एगविहबंधए वा नो णं अबंधए" इत्यागमः। ततः प्रतिसमयं पारम्पर्येण मोक्षमार्गकारणैश्शुभाध्यवसायैर्जीवेन पुन्यं वध्यते, संसारवृद्धिनिमित्तकैस्संक्लेशजनितैरशुभाऽध्यवसायैश्च प्राणिनः पापं संचिन्वन्ति। विगतरागद्वेपसर्वज्ञपुरुपप्रणीतप्रवचनानुसारिण्या दृष्ट्या सामान्यतः शुभमनोवाक्काययोगभाजो जन्तवो यद्यपि आह्लादप्रदं शुभं कर्म्म अर्जयन्ति, तथापि पुन्यतत्त्वविवरणप्रसङ्गे पात्रदानादयो हेतवः सविशेपतो यथा प्रतिपादितास्तद्वद् दुष्टमनोवाक्काययोगेपु अशुभकर्म्मबन्धननिबन्धनभूतेपु सत्स्वपि विशेपपापबन्धहेतवो नामग्राहं प्रदर्श्यन्ते;—प्राणातिपातः १, मृपावादः २, अदत्तादानं ३, मैथुनं ४, परिग्रहः ५, अप्रशस्तक्रोधः ६, अप्रशस्तमानं ७, अप्रशस्ता माया ८, अप्रशस्तलोभः ९, अप्रशस्तरागः १०, अप्रशस्तद्वेपः ११, अप्रशस्तक्लेशः १२, अभ्याख्यानम् १३, पैशुन्यम् १४, रत्यरती १५, परपरिवादः १६, मायामृपावादः १७, मिथ्यात्वशल्यम् १८ इति॥ तथा चोक्तं श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तौ;—कहन्नं भंते! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति? गोयमा! पाणाइवाएणं, मुसावाएणं, जाव मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति। कहन्नं भंते? जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति? गोयमा! पाणाइवायवेर-

मणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं, एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ॥ इत्येवमप्रशस्ताशयेन सेव्यमानाः पापस्थानका ज्ञानाऽऽवरणादिपापप्रकृतीनां बन्धहेतव उक्ताः, कतिपयेषु रागादिषु पापस्थानकेषु सेव्यमानेषु प्रशस्ताशयेन पुन्यबन्धोऽपि भवति, यथा देवगुरुधर्म्मेषु यो रागः स प्रशस्तः, कञ्चनकामिन्यादिषु योऽभिष्वङ्गः सोऽप्रशस्तः, प्रशस्ताऽप्रशस्तयोर्द्वयोरप्यभावः स मोक्षो मोक्षहेतुर्वा । क्रोधादिकपायाणां प्रशस्तताऽप्रशस्तता च श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तावप्येवमभिहिता, सा चैवम्—क्रोधोऽप्रशस्तः कलहादौ, यतः—" दूमेइ जणं तावेइ निअतणुं नेइ दुग्गइं थिद्धि । कोवो जलणोव्व जए कमणत्थं जं न पावेइ " ॥ १ ॥ प्रशस्तश्च दुर्विनीतपरिजनशिक्षायां यथा श्रीकालकसूरेः प्रमत्तशिष्याणां सुप्तानां त्यागरूपः, तेतलिसुतमन्त्रिप्रबोधार्थं पोट्टिलादेवदर्शितनृपक्रोधवद्वा, यतः ' लालिज्जंते दोसा ताडिज्जंते गुणा बहु हुंति । गयवसभतुरंगाण व तो होज्ज सुसिक्खपरिवारो ' ॥ १ ॥ अप्रशस्तो मानो नमनार्हेष्वपि गुर्वादिष्वनम्रता सर्वाऽनिष्टहेतुः, यतः ' नासेइ सुयं विणयं च दूसइ हणइ धम्मकामत्थे । गव्वगिरिसिंगलग्गो नरो न रोएइ पिउणो वि ' ॥ १ ॥ प्रशस्तस्तु सर्वकृतसत्यप्रतिज्ञाया आजन्म निर्वाहो मन्त्र्युदयननिर्यापनार्थं कारितयतिवेशवण्ठादिवत्, यतः—लज्जा गुणौघजननीं जननीमिवार्या—मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः । तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति, सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ' ॥ १ ॥ आपत्स्वदीनवृत्तिता च हरिश्चन्द्रादेरिव, यतः—' विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां, प्रिया न्याय्यावृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् । असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः, सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ' ॥ १ ॥ अप्रशस्ता माया यद्द्रव्यादिकाङ्क्षया परवञ्चना वणिजामिन्द्रजालिकादीनां वा, प्रशस्ता तु व्याधानां मृगापलपने व्याधिमतां कटुकौषधादिपाने दीक्षोपस्थि-

तस्य विघ्नकरपित्रादीनां पुरः कुस्वप्नो मया दृष्टोऽल्पाऽऽयुष्कसूचक इत्यादिका स्वपरहितहेतुः स्वपितुः सम्यग् यत्याचारग्रहणार्थं श्रीआर्यरक्षितप्रयुक्तमायेव, यतः—' अमाय्येव हि भावेन माय्येव तु भवेत् क्वचित् । पश्येत् स्वपरयोर्यत्र सानुबन्धं हितोदयम् ' ॥ १ ॥ अप्रशस्तो लोभो धनधान्यादौ मूर्च्छा यतः—' वंचइ मित्तकलत्तं, ना विक्खइ पेअरमाइसयणे अ । मारेइ बंधवेवि हु पुरिसो जो होइ धणलुद्धो ॥ १ ॥ प्रशस्तश्च ज्ञानदर्शनचारित्रविनयवैयावृत्यशिष्यसंग्रहादौ नानाश्रुतार्थसंग्राहकोमास्वातिवाचकवत्, एवं योगेष्वपि अप्रशस्तं मन आर्त्तरौद्रध्यानयोः, प्रशस्तं तु धर्म्मशुक्लध्यानयोः, वागप्रशस्ता चौरोऽयम्, जारोऽयमित्यादि पापमयी, प्रशस्ता तु धर्म्ममयी देवगुरुवर्णनादौ, कायोऽप्रशस्तो विषयद्युताद्यासेवाहेवाकः, प्रशस्तस्तु धर्मकृत्योद्युक्तः " । इत्येवं कषाययोगादीनां शस्ताऽशस्तत्वे जिनागमानुसारेण सम्यग्विचारणीये शेमुषीवद्भिः । यद्यपि मोक्षमार्गैकचित्तानां भव्यात्मनां शस्ताऽशस्तयोर्द्विविधयोरपि कषाययोगयोस्त्याग एव प्रधानतमः, तथापि तामुच्चकक्षामारुरुक्षूणां पूर्वं तावत् प्रशस्तकषाययोगैरप्रशस्तकषाययोगाः प्रतिक्षणं सावधानीभूय सुतरां वर्जयितव्याः, प्रान्ते च श्रेणिमारुह्य द्वयेरपि उदयाऽभावस्स्वयमेव सञ्जायत इति ॥

अथ पूर्वोक्तैरष्टादशप्रकारैस्समुपार्जितमशुभं कर्म्म यैर्द्व्यशीतिप्रकारैर्जीवेनोपभुज्यते ते प्रकाराः क्रमशः प्रदर्श्यन्ते । ' नाणंतराय ' इत्यादि, तत्र ' एकदेशग्रहणात् समुदायस्यापि ग्रहणम् ' इति न्यायेन ' नाणं ' इत्यादिना पञ्चविधं ज्ञानावरणीयं ज्ञेयम् । यावत् पञ्चविधज्ञानस्य स्वरूपं न विज्ञायते तावत् पञ्चप्रकारकज्ञानावरणीयस्याऽशुभकर्म्मणोऽपि स्वरूपं सम्यग्ज्ञातुं न पार्यते, ततः पूर्वं तावल्लेशतो ज्ञानस्वरूपमालिख्यते;—ज्ञायते वस्तुपरिच्छिद्यतेऽनेन विशिष्टतयेति ज्ञानम्, सामान्यविशेषा-

ऽऽत्मके वस्तुनि विशेषग्रहणाऽऽत्मको बोध इत्यर्थः । मननं मतिः परिच्छेदः, ज्ञप्तिर्ज्ञानं वस्तुस्वरूपावधारणम्, ततो ज्ञानशब्दो सामान्यज्ञानवाचकः सन् इन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तोपजातया मत्या सामानाधिकरणतया विशिष्यते, मतिश्च सा ज्ञानं मतिज्ञानम्, इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यदेशाऽवस्थितवस्तुविषयः स्फुटप्रतिभासरूपो बोधविशेष इत्यर्थः। तच्च श्रोत्रेन्द्रियव्यतिरिक्तं चक्षुरादीन्द्रियाऽनक्षरोपलब्धिर्या तन्मतिज्ञानम् ॥ श्रूयते तदिति श्रुतमित्यस्मिन् पक्षे शब्दमात्रं गृह्यते, तच्चाऽनिष्टं, चक्षुरादिभ्योऽपि श्रुतज्ञानस्योपजायमानत्वात्, श्रवणं श्रुतिः इत्यस्मिन् पक्षे ज्ञानविशेष उच्यते, स एव च ग्राह्यः श्रुतमित्यनेन, कीदृशः स श्रुतविशेष इति चेदुच्यते—शब्दमाकर्णयतो भाषमाणस्य, पुस्तकादिन्यस्तं वा चक्षुषा पश्यतः, घ्राणस्पर्शनादिभिर्वा अक्षराण्युपलभमानस्य यद्विज्ञानं तत् श्रुतमुच्यते, श्रुतं च तद् ज्ञानं श्रुतज्ञानम्, अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, एवमाकारं वस्तु घटशब्दाभिलाप्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः ॥ अवशब्दोऽधः शब्दार्थेऽवधानादवधिः ज्ञानं परिच्छेदः, एतदुक्तं भवति, अधो विस्तृतविषयमनुत्तरोपपातिकादीनां ज्ञानमवधिज्ञानं, यतो बहुत्वं च विषयस्योररीकृत्यैवं व्युत्पत्तिः, अन्यथा तिर्यगूर्ध्वं वा परिच्छिन्दानस्यावधिव्यपदेशो न स्यात्, अथवा अवधिर्मर्यादा, अमूर्तद्रव्यपरिहारेण मूर्तद्रव्यनिबन्धनत्वादेव तस्यावधिज्ञानत्वम्, तच्च चतसृष्वपि गतिषु वर्त्तमानानां जन्तूनामिन्द्रियनिरपेक्षं मनःप्रणिधानवर्यकं प्रतिविशिष्टक्षयोपशमनिमित्तं पुद्गलपरिच्छेदि देवमनुजतिर्यङ्नारकलक्षणे गतिचतुष्केऽपि जायमानमवधिज्ञानमिति, अवधिश्च तज्ज्ञानश्चेत्यवधिज्ञानम् ॥ अथ चतुर्थं मनःपर्याय(पर्यव)ज्ञानं, परिः सर्वतो भावे, अवनमवः, मनसि मनसो वा पर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः,

मनःपर्यवश्च स ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं, यद्वा मनःपर्यायज्ञानम् । तत्र संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहितानि मनःप्रायोग्यवर्गणा-द्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां मनसां पर्यायाश्चिन्तनानुगताः परिणामा मनःपर्यायास्तेषु तेषां वा सम्बन्धिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, यद्वा आत्मभिर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति अवगच्छतीति मनःपर्यायम् । अयमत्राशयः, मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्च, तत्र द्रव्यमनो मनोवर्गणा, भावमनस्तु ता एव वर्गणा जीवेन गृहीताः सत्यो मन्यमानाश्चिन्त्यमाना भावमनोऽभिधीयते, तत्रेह भावमनः परिगृह्यते, तस्य भावमनसः पर्यायास्ते चैवंविधाः, यदा कश्चिदेवं चिन्तयेत् किं स्वभाव आत्मा ? ज्ञानस्वरूपोऽमूर्त्तः, कर्म्मणां कर्त्ता सुखादीनामनुभोक्ता इत्यादयो ज्ञेयविषयाऽध्यवसायाः परगतास्तेषु तेषां वा यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानम् । तानेव मनः-पर्यायान् परमार्थतः समवबुध्यते, बाह्यांस्त्वनुमानादेवेत्यस्य तन्मनःपर्यायज्ञानम् ॥ केवलं सम्पूर्णज्ञेयं तस्य तस्मिन् वा सकल-ज्ञेये यज्ज्ञानं तत्केवलज्ञानम्, सर्वद्रव्यपर्यायपरिच्छेदीति भावः, अथवा केवलमेकं मत्यादिज्ञानरहितमात्यन्तिकज्ञानावरण-क्षयप्रभवं, 'नट्ठम्मि छाउमत्थिए नाणे' इति वचनात् । अत्राहः—यदि मत्यादीनि ज्ञानानि स्वकस्वकीयाऽऽवरणक्षयोपशम-सद्भावेऽपि प्रादुर्भवन्ति, ततो निःशेषतः सर्वथाऽऽवरणक्षये सविशेषेण भवेयुश्चारित्रपरिणामवत्, कथं क्षायिकज्ञानस्याऽऽ-विर्भावे तेषां मत्यादीनामभावः प्रोच्यते ? भाष्यकारोऽप्याहुः—'आवरणदेसविगमे, जाइं विज्जंति मइसुयाणि । आवरण सब्वविगमे कह ताइ न हुंति जीवस्स' ? ॥ १ ॥ इति । उच्यते;—इह यथा सहस्रभानोरतिसमुन्नतघनाघनपटलान्तरितस्याऽपान्त-रालाऽवस्थितकटकुड्याद्यावरणविवरप्रविष्टप्रकाशो घटपटादीनि प्रकाशयति, तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्याऽपान्त-

रालाऽवस्थितमतिज्ञानावरणादिक्षयोपशमरूपविवरनिर्गतप्रकाशो जीवादीन् प्रकाशयति, स च तथा प्रकाशयन् मतिज्ञानमित्यादिलक्षणं तत्तत्क्षयोपशमानुरूपमभिधानमुद्वहति, ततो यथा सकलघनपटलकटकुड्याद्यावरणापगमे स तथाविधः प्रकाशः सहस्रभानोरस्पष्टरूपो न भवति किन्तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव, तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमतिज्ञानाद्यावरणविलये न तथाविधो मतिज्ञानादिसंज्ञितः केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति, किन्तु सर्वात्मना यथावस्थितं वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एवेत्यदोषः उक्तञ्च श्रीपूज्यैः ' कडविवरागयकिरणा मेहंतरियस्स जह दिणेसस्स । ते कडमेहावगमे न हुंति जह तह इमाइंपि ' । १ ॥ अन्यैरपि न्यगादि—" मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथानेकप्रकारतः । कर्म्मविद्धाऽऽत्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः । १ ॥ यथा जात्यस्य रत्नस्य निःशेषमलहानितः । स्फुटैकरूपाभिव्यक्तिर्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः " । २ ॥ अन्ये पुनराहुः, सन्त्येव मतिज्ञानादीन्यपि सयोगिकेवल्यादौ, केवलमफलत्वात् सन्त्यपि तदानीं न विवक्ष्यन्ते, यथा सूर्योदये नक्षत्रादीनि, उक्तञ्च—' अन्ने आभिनिबोहियनाणाईणि वि जिणस्स विज्जंति । अफलाणि य सूरुदये जहेव नक्खत्तमाइणि ' ॥ १ असाधारणं वा केवलमनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात् अपर्यवसितानन्तकालावस्थायित्वाद्वा, निर्व्याघातं वा केवलं लोकेऽलोके वा क्वापि व्याघाताऽभावात्, केवलञ्च तज्ज्ञानं केवलज्ञानं यथावस्थितसमस्तभूतभवद्भाविभावस्वभावाऽवभासि ज्ञानमिति भावना ॥

एतेषां मतिज्ञानादीनां यद् यदावरणं तत्तद् तज्ज्ञानावरणसंज्ञकम् । यथा इन्द्रियानिन्द्रियजन्यं परोक्षमक्षरलब्धिरूपं मतिज्ञानं, तदेनाऽऽव्रियते तन्मतिज्ञानावरणम् ॥ १ ॥ इन्द्रियानिन्द्रियजन्यं परोक्षमर्थोपलब्धिरूपं ज्ञानमथवा द्वादशाङ्गीरूपं यच्छा-

स्वज्ञानं तच्छ्रुतज्ञानं, तद्येनाव्रियते तच्छ्रुतज्ञानावरणम् ॥ २ ॥ इन्द्रियनोइन्द्रियनिरपेक्षं मूर्त्तद्रव्यविषयमात्मप्रत्यक्षं यज्ज्ञानं तदवधिसंज्ञकं, तद्येनाऽऽव्रियते तदवधिज्ञानावरणीयम् ॥ ३ ॥ इन्द्रियनोइन्द्रियनिरपेक्षं संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवमनोगतभावज्ञापकमात्मप्रत्यक्षं यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानम्, तद्येनाच्छाद्यते तन्मनःपर्यवज्ञानावरणीयम् ॥ ४ ॥ मनइन्द्रियनिरपेक्षं लोकाऽलोकवर्त्तिनिःशेषद्रव्यपर्यायप्रदर्शकमात्मप्रत्यक्षं सम्पूर्णमनन्तं यज्ज्ञानं तत्केवलज्ञानम्, तद्येनाव्रियते तत्केवलज्ञानावारकं कर्म्म ॥ ५ ॥ यदुदयाद्दातव्यनिरवद्यद्रव्यसत्तायामपि गुणवत्पात्रदानफलज्ञोऽपि सम्यग्भावे विद्यमानेऽपि दातुं न शक्नोति तद्दानान्तरायम् ६ । यदनुभवाच्च सत्यपि देये प्रसिद्धादपि दातुर्याञ्चाकुशलोऽपि न लभते तल्लाभान्तरायम् ७ । भोग्यमुपभोग्यं वा विद्यमानमनुपहताङ्गोऽपि यदुदयान्न समर्थो भवति भोक्तुमुपभोक्तुं तद्भोगान्तरायमुपभोगान्तरायं च क्रमेण बोध्यम् ८–९ । यदुदयादनुपहताङ्गोऽपि कार्यावसरे शक्तिविकलो भवति तद्वीर्यान्तरायम् ॥ १० ॥ इत्येवं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकञ्च विवृतम् ।

अथ दर्शनावरणनवकमशुभप्रकृतिभूतं व्याख्यायते;–' नव बीए ' त्ति, चक्षुषा सामान्यग्राही बोधश्चक्षुर्दर्शनं, तल्लब्धिविघातकं चक्षुर्दर्शनावरणम्, यदुदयादन्धत्त्वं नेत्ररोगित्त्वं वा जायते तच्चक्षुर्दर्शनावरणमित्यर्थः ११ । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्केन मनसा च स्पर्शनाद्यात्मकः सामान्यबोधस्तदचक्षुर्दर्शनम्, तल्लब्धिविघातकमचक्षुर्दर्शनावरणम्, यदुदयाद् बधिरत्त्वादयो दोषाः प्रादुर्भवन्ति तदचक्षुर्दर्शनावरणमित्यर्थः १२ । तथाऽवधिना रूपिमर्यादया दर्शनं सामान्यबोधस्तदवधिदर्शनम्, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनावरणम्, यदुदयान्मूर्त्तद्रव्याणामात्मप्रत्यक्षस्सामान्याऽर्थग्राहको बोधो न भवति तदवधिदर्शनावरणमित्यर्थः १३ । यदुदयात् समस्तलोकाऽलोकवर्त्तिनां मूर्त्ताऽमूर्त्तद्रव्याणामात्मप्रत्यक्षेन सामान्यात्मकेन बोधेन भूयते तत्केवलदर्शनम्, तस्या-

ऽऽवरणं केवलदर्शनावरणमिति १४ । एतद्दर्शनावरणचतुष्कं दर्शनलब्धिलाभं मूलत एव हन्ति ॥

'द्रा' कुत्सायां गतौ, नियतं द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा, सुखप्रबोधा स्वापाऽवस्था नखच्छोटिकामात्रेणाऽपि प्रबोधो भवति तद्विपाकवेद्या कर्म्मप्रकृतिरपि निद्राख्यया व्यपदिश्यते १५ । तथा निद्राऽतिशायिनी निद्रा निद्रा, शाकपार्थिववत्त्वान्मध्यम पदलोपी समासः, सा पुनर्दुःखप्रबोधा स्वापाऽवस्था, तस्यां ह्यत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वाद्दुःखेन बहुभिर्घोलनादिभिः प्रबोधो भवति, अतः सुखप्रबोधनिद्रापेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वं तद्विपाकवेद्या कर्म्मप्रकृतिरपि कार्यद्वारेण निद्रानिद्रेत्युच्यते १६ । उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलत्यस्यां स्वापाऽवस्थायामिति प्रचला, सा हि उपविष्टस्योर्ध्वस्थितस्य वा घूर्णमानस्य स्वप्तुर्भवति, तथाविधविपाकवेद्या कर्म्मप्रकृतिरपि प्रचलेत्युच्यते १७ तथैव प्रचलाऽतिशायिनी प्रचलाप्रचला, सा हि चंक्रमणादिकुर्वतः स्वप्तुर्भवत्यतः स्थानस्थितस्वप्तृभवां प्रचलामपेक्ष्याऽतिशायिनी, तद्विपाकवेद्या कर्म्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला, १८ । स्त्याना बहुत्वेन संघातमापन्ना, गृद्धिरभिकाङ्क्षा जागृदवस्थाऽध्यवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापाऽवस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः, तस्यां हि सत्यां जागृदवस्थाऽध्यवसितमर्थं साधयति, स्त्याना वा पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपाऽस्यामिति स्त्यानर्द्धिरित्युच्यते, तद्भावे हि स्वप्तुः केशवार्धबलसदृशी शक्तिराविर्भवति, अथवा स्त्याना जडीभूता चैतन्यर्द्धिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिः, अस्यां निद्रायां घूर्णितो जन्तुर्जागृज्जन इव गृहान्तर्गमनाऽऽगमनं कुरुते, आपणवीथ्यां गत्वा क्रयविक्रयं करोति, वनान्तर्वनपशुभिस्सह युद्धादिकं विदधाति, मतङ्गजानां दन्तादि निष्कास्याऽऽनयति च । अस्यां निद्रायां निद्रितः प्रथमसंहननोपेतश्चेत्तदा केशवाऽपेक्षयाऽर्धबलं ८ यदि प्रथमवर्ज्जसंहननोपेते भवे-

तदा सामान्यशक्तितः सप्ताष्टगुणं सामर्थ्यं स्यात्, प्रसिद्धश्चाऽयमर्थस्सिद्धान्ते–' भिक्षार्थमन्यग्रामं गतस्य क्षुल्लकस्याऽऽगच्छतो न्यग्रोधशाखायां शिरः स्खलितम्, ततस्तेन रुष्टेन रात्रावेतन्निद्रोदये सा वटशाखा भङ्क्त्वा प्रतिश्रयद्वारि प्रक्षिप्ता ' इत्याद्युदाहरणेभ्य इति १९। इत्येवं निद्रापञ्चकं दर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमाल्लब्धाऽऽत्मलाभानां दर्शनलब्धीनामावारकत्वात् पापप्रकृतित्वेन व्याख्यातम्, अन्यथा निद्रावस्थायामात्मा त्वात्मानं सुखितो मन्यते ॥

येन कर्म्मणा नीचकुले जन्म स्यात्तन्नीचगोत्रम् २०। यस्योदयेन दुःखपरम्परा लभ्यते नारकादिभवेष्विव तदसातवेदनीयम् २१। ' अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या। अधर्म्मे धर्म्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ' ॥ १ ॥ इतिलक्षणं मिथ्यात्वमोहनीयम् २२। स्थावरदशकमग्रे व्याख्यास्यते ३२। यया जीवो नरके प्रयाति सा नरकगतिः ३३। येन कर्म्मणा जीवो नरके तिष्ठति स्वाऽऽयुपस्समाप्तिं यावत्तन्नरकायुः ३४। यया कर्म्मप्रकृत्या जीवो बलान्नरके नीयते सा नरकाऽऽनुपूर्वी। ३५। कषायाः पञ्चविंशतिः, ते चैवं षोडशकषाया नवनोकषायाश्च, कषायाश्चतुःप्रकाराः क्रोधमानमायालोभभेदात्, प्रत्येकं पुनश्चतुर्धा, चतुर्विधत्वं चैषामनन्ताऽनुबन्धि–अप्रत्याख्यान–प्रत्याख्यान सञ्ज्वलनभेदैर्ज्ञातव्यम्। तत्र येऽनन्तसंसारमूलकारणमिथ्यात्वोदयाक्षेपित्वादनन्तभवानुबन्धशीला यथासंख्यं पर्वतरेखाशैलस्तम्भवंशमूलकृमिरागसमानास्तेऽनन्तानुबन्धिक्रोधादय आजन्मावधिभाविनो नरकगतिप्रदायिनस्सम्यक्त्वघातिनो ज्ञेयाः। ये च नञोऽल्पार्थत्वादल्पमपि प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति यथाक्रमं पृथिवीरेखा–अस्थि–मेषशृङ्ग–कर्दमरागतुल्यास्तेऽप्रत्याख्यानाः क्रोधादयो वर्षावधिभाविनस्तिर्यग्गतिदायिनो देशविरतिघातिनः। तथा ये प्रत्याख्यानं सर्वविरत्याख्यमावृण्वन्ति क्रमेण रेणुरेखा–काष्ठ–गोमूत्रिका–खञ्जनरागसमानाः प्रत्या-

ख्यानाऽऽवरणाः केपादये मासचतुष्टयभाविनो मनुष्यगतिदायिनस्साधुधर्म्मघातिनः । ये पुनस्सञ्ज्वलयन्ते पद्दीपयन्ति चारित्रिणमपि क्रमशो जलरेखा–तिनिशलता–अवलेखा–हरिद्रारागसमानास्ते सञ्ज्वलनक्रोधादयः पक्षावधये देवगतिप्रदा यथाख्यातचारित्रघातिनः, एवं क्रोधादयः प्रत्येकं चतुर्भेदाः षोडशाऽभूवन् । ५१ । नोकषाया नव–हास्यादिषट्कवेदत्रयरूपा, तत्र हास्यषट्कं हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणं ज्ञातव्यम्, तत्र येन सनिमित्तं निर्निमित्तं वा हास्यं स्यात्तद् हास्यमोहनीयम् ५२ । येन कर्म्मणा मनोहरेषु शब्दरूपादिपदार्थेषु रागस्स्यात्तद्रतिमोहनीयम् ५३ । येन कर्म्मणा पुनरमनोज्ञेषु शब्दादिषूद्वेगस्स्यात्तदरतिमोहनीयम् ५४ । येनाऽभीष्टवियोगादिदुःखं ध्रियते तच्छोकमोहनीयम् ५५ । येन कर्म्मणा जीवानां नानाविधैर्निमित्तैर्भयमुत्पद्यते तद्भयमोहनीयम् ५६ । यस्योदयेन बीभत्सवस्तुदर्शनेन निन्दादिकं करोति तज्जुगुप्सामोहनीयम् ५७ । अथ वेदत्रयं पुरुषवेद-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदाऽत्मकं, तत्र यस्योदयेन पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स्त्रियं प्रत्यभिलापः स पुरुषवेदस्तृणदाहतुल्यः ५८ । येनोदितेन स्त्रियाः पित्तोदये मधुराभिलाषवत् पुरुषं प्रत्यभिलापः स स्त्रीवेदः करीषदाहतुल्यः ५९ येनोदितेन कर्म्मणा पण्डकस्य पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाऽभिलाषवत् पुंस्त्रीविषयेऽभिलाषस्स्यात् स नपुंसकवेदो नगरदाहतुल्यः ६० एवं षोडशकषायैर्नवनोकषायैः कषायपञ्चविंशतिर्विवृता । तिर्यग्द्विकं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम्, येन कर्म्मणा तिर्यग्गतौ गम्यते तत्तिर्यग्गतिनाम ६१ । येन तिर्यग्गतौ बलान्नीयते सा तिर्यगानुपूर्वी ॥ ६२ ॥

इत्येवं पापतत्त्वस्य द्व्यशीतिभेदेषु द्विषष्टिर्भेदाः प्रकीर्त्तिताः, अथ शेषभेदान् विवरिषुराह;—

इग बितिचउजाइओ, कुखगइ उवघाय हुंति पावस्स । अपसत्थं वण्णचउ, अपढमसंघयण संठाणा २२

टीका—'इग' त्ति- यया एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियो वेति व्यपदेशमश्नुते जीवः सा सा एकेन्द्रियादिजातयः, एकेन्द्रियादयश्चैकद्वित्रिचतुःसंख्यस्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःस्वरूपेन्द्रियक्रमवृद्धिभाजो विज्ञेयाः ६३-६४-६५-६६। यदुदयेन खरोष्ट्रादीनामिवाऽप्रशस्तगमनमङ्गिनामुपजायते सा कुत्सिता खगतिरप्रशस्तविहायोगतिरित्यर्थः, विहायःपर्यायवाचकखशब्दश्च नामकर्म्म प्रथमप्रकृतिव्यवच्छेदार्थः, अन्यथा कुगतिरित्युक्ते नरकगत्यादिभवगतेरपि प्रतीतिस्स्यात्। ६७। यद्वशेन स्वशरीरावयवैरेव प्रतिजिह्वा-गलवृन्दलम्बक-चौरदन्तादिभिः स्वशरीरान्तर्वर्द्धमानैरुपहन्यते पीड्यते तदुपघात नाम, ६८। 'हुंति पावस्स' अमी पूर्वोक्ता भेदा निखिला अपि पापस्याऽशुभकर्म्मणो भवन्ति। 'हुंति पावस्स' इति पदं डमरूकमणिन्यायेन गाथापूर्वार्धे यथा युक्तं तथा गाथापश्चार्धेऽपि योज्यम्। वक्ष्यमाणा अप्रशस्तवर्णादयोऽपि पापभेदा एवेत्यर्थः। प्रशस्यते स्तूयते तत्प्रशस्तं, न तथाऽप्रशस्तमशोभनमिति यावत्, यस्योदयेन जीवस्यौदारिकादिशरीरं कृष्णनीलवर्णवद्भवति काककोकिलादीनां यथा तदप्रशस्तवर्णनाम ६९। यदुदयेन जीवस्यौदारिकादिशरीरं दुर्गन्धि भवति लशुनादीनामिव तदप्रशस्तगन्धनाम ७०। यदुदयेन जीवस्यौदारिकादिशरीरं तिक्तकटुकरसभाग् भवति यथा निम्बमरिचादीनां तदप्रशस्तरसनाम ७१। यदुदयेनाऽऽत्मन औदारिकादिशरीरं कर्कशगुरुरूक्षस्पर्शभाग् भवति क्रमशो जलवृक्षपर्णविशेषपारगरेणूनामिव तदप्रशस्तस्पर्शनाम ७२। 'अपसत्थं वण्णचउ अपढमसंघयण संठाणा' प्रथमं संहननं प्रथमञ्च संस्थानं वर्जयित्वा शेषाणि पञ्चसंहननानि पञ्चसंस्थानानि च पापप्रकृतिमध्ये ज्ञातव्यानि, प्रथमसंहननं प्रथमसंस्थानञ्च पुण्यप्रकृतिमध्ये प्रागेव व्याख्यातम्। अन्तिमसंहननपञ्चकं च ऋषभनाराच-नाराचाऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्त्ताभिधम्। तत्र ऋषभः परिवेष्टनपट्टः, नाराच उभयतो

मर्कटबन्धः, यस्मिन्नस्थिसंधावुभयतो मर्कटबन्धे मर्कटबन्धस्योपरिष्टाच्च पट्टः स्यात्तद् ऋषभनाराचम्, अन्ये वज्रनाराचमेदं व्यपदिशन्ति, तन्मतेन भवर्जमर्कटबन्धबद्धाऽस्थ्नोरन्तः कीलिकैवाऽत्र भवति, वज्रशब्दस्य कीलिकापर्यायित्वात् ७३ वज्रर्षभविहीनमुभयतो मर्कटबन्धयुक्तं तृतीयं संहननं नाराचम् ७४। यत्रैकपार्श्वे मर्कटबन्धोऽपरपार्श्वे च कीलिका तदर्धनाराचम् । ७५। यत्राऽस्थीनि कीलिकामात्रबद्धानि स्युस्तत् कीलिकाख्यम् । ७६ यत्र पुनरस्थीनि पृथक् पृथक् स्थितानि परस्परं संलग्नानि भवंति तत् सेवां ऋतं आगतं निपातनात्सेवार्त्तम् । ७७। एवं पञ्चसंख्यानि संस्थानानि द्वितीयादीनि यथाक्रमं न्यग्रोधपरिमंडल-सादि-वामन-कुब्ज-हुण्डानि। तत्र न्यग्रोधवद्वट इव परिमंडलं न्यग्रोधपरिमंडलम्, यथा न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णाऽवयवोऽधस्तनभागे तु न तथा, तद्वदिदमपि नाभेरुपरि विस्तरबहुलं सम्पूर्णलक्षणादिभाग्, अधस्तु न तथा ७८ 'सादीति' आदिरिहोत्सेधाऽऽख्यो नाभेरधस्तनो देहभागस्तेन यथोक्तलक्षणप्रमाणभाजा सह यद्वर्त्तते तत्सादिः ७९ कुब्जसंस्थानं यत्र पाणिपादशिरोग्रीवादिकं प्रमाणलक्षणोपेतम्, उरउदरादि च प्रमाणलक्षणाभ्यां हीनं तत् कुब्जम् ८०। तद्विपरीतं वामनसंस्थानम्, यत्र उरउदरप्रभृतिप्रमाणलक्षणयुक्तं पाणिपादशिरोग्रीवादि च प्रमाणलक्षणरहितं तद् वामनमित्यर्थः ॥ ८१ ॥ सर्वाऽवयवैरशुभं हुंडसंस्थानम् ॥ ८२ ॥ १९ ॥

प्रागुक्तं व्यर्शतिभेदगतं स्थावरदशकमथ विव्रियते—

थावरसुहुमअपज्जं, साहारणमथिरमसुभदुभगाणि दुस्सरणाइज्जजसं, थावरदसगं विवज्जत्थं २०

टीका—तिष्ठंति उष्णादितप्ता अपि तत्परिहाराऽसमर्था भवन्ति ते स्थावराः, यद्विपा : थिव्याद्येकेन्द्रियस्थावरकारे

कायभाजः समाविशन्ति, तत्स्थावरनाम ॥ १ ॥ यत्प्रभावाच्च सर्वलोकव्यापिसूक्ष्मपृथिव्यादिजीवेषु जीवास्समुत्पद्यन्ते येन जीवाश्चर्मचक्षुषामदृश्या भवन्ति यथा निगोदादयस्तत् सूक्ष्मनाम ॥ २ ॥ यदुदयादाहारपर्याप्त्यादिपूर्वोक्ताः पर्याप्तय एकेन्द्रियादिजीवानां यथास्वं विकला अपरिपूर्णा भवन्ति यथा सर्वकालं लब्ध्यपर्याप्तानां तदपर्याप्तनाम ॥३॥ यत्सामर्थ्यादनन्तानां जीवानां साधारणमेकं शरीरं भवति यथा कंदाद्यनन्तकायिकानां तत्साधारणनाम ॥ ४ ॥ येन जीवानां भ्रूजिह्वोष्ठादीनामवयवानामस्थिरत्वं स्यात्तदस्थिरनाम ॥ ५ ॥ यदुदयेन नाभेरधः पादादयोऽशुभावयवास्सन्ति तदशुभम्, पादादिभिस्स्पृष्टो हि परो रुष्यतीति तेषामशुभत्वम् ॥ ६ ॥ यदुदयादृष्टमात्रोऽपि प्राणी सर्वेषामुद्वेगजनकस्स्यात्तद्दुर्भगनाम, असुभगनामेति यावत् ॥ ७ ॥ येन जीवानां खरोष्ट्रादीनामिवाऽमनोज्ञः स्वरः स्यात्तद्दुःस्वरनाम ॥ ८ ॥ यदुदयाद्युक्तियुक्तमपि ब्रुवाणः परिहार्यवचनोऽग्राह्यवचनो भवति तदनादेयनाम ॥ ९ ॥ यदुदयाज्ज्ञानविज्ञानदानाऽऽदिगुणयुतस्याऽपि न यशःकीर्ती प्रादुर्भवतः प्रत्युताऽश्लाघ्यता संजायते तदयशःकीर्त्तिनाम ॥ १० ॥ इत्येवं स्थावरदशकं पुण्यतत्त्वोक्तत्रसदशकाद् विपरीतार्थं भावनीयम् ॥ व्याख्याता द्व्यशीतिपापप्रकृतयः । तासां मध्ये देवनारकादिषु चतसृषु गतिषु कस्यां गतौ कति प्रकृतय उदयवत्यो भवन्ति ? एकेन्द्रियादिजातिपञ्चकमध्ये कस्यां च जातौ कति प्रकृतय उदयवत्यो वर्त्तन्ते तस्याऽयं संक्षेपः—देवगतौ—स्थावर—सूक्ष्म—साधारणा—ऽपर्याप्त—नरकत्रिक-नपुंसकवेद-तिर्यग्द्विक—एकेन्द्रियादिजातिचतुष्क—ऋषभनाराचप्रभृतिसंहननपञ्चक—न्यग्रोधादिसंस्थानपञ्चका—ऽप्रशस्तविहायोगति-दुःस्वर—नीचैर्गोत्रलक्षणसप्तविंशतिप्रकृतिवर्ज्जाः पञ्चपञ्चाशत् प्रकृतयः स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाश्च पुनर्द्विपञ्चाशत् प्रकृतय उदयत्वेन वर्त्तन्ते ॥ स्थावर—सूक्ष्मा—ऽपर्याप्त—साधारण प्रथमवर्ज्जसंह-

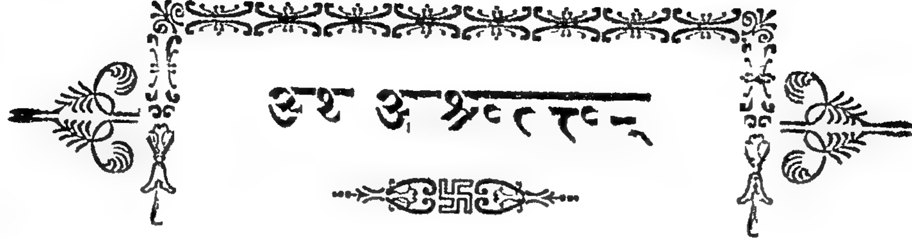
ननप —मध्यसंस्थानचतुष्क—एकेन्द्रियादिजातिचतुष्क—पुंवेद—स्त्रीवेद—तिर्यग्द्विकस्वरूपैकविंशतिप्रकृतिवर्ज्जा एकषष्टिपापप्रकृतीर्नरकगतौ नारका विपाकेनाऽनुभवन्ति, स्त्यानर्द्धित्रिकस्याऽध्रुवोदयित्वात् त्रिकहीनाश्च पुनरष्टपञ्चाशदपि विज्ञेयाः । स्थावर—सूक्ष्म—साधारणैकेन्द्रियादिजातिचतुष्क—तिर्यग्द्विक—नरकत्रिकाऽऽत्मकद्वादशप्रकृतिहीनाः सप्ततिप्रकृतयो मनुजगत्यामुदयत्वेन मनुजैरनुभूयन्ते । नरकत्रिकवर्ज्जा एकोनाऽशीतिपापप्रकृतयस्तिर्यग्गतावुदयतयाऽनुभूयन्ते दुःस्वर—नरकत्रिक—पुरुषवेद—स्त्रीवेद—द्वीन्द्रियजाति—त्रीन्द्रियजाति—चतुरिन्द्रियजाति—अप्रशस्तविहायोगति—अन्तिमसंहननपञ्चक—मध्यसंस्थानचतुष्काऽऽत्मकैकोनविंशतिवर्ज्जास्त्रिषष्टिप्रकृतय एकेन्द्रियजातावुदयत्वेन वर्त्तन्ते एवं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातावपि विज्ञेयम् । केवलं हीयमानैकोनविंशतिप्रकृतिषु एकेन्द्रियजात्याः स्थाने यथाक्रमं द्वीन्द्रिय—त्रीन्द्रिय—चतुरिन्द्रियजातयो वक्तव्याः । पञ्चेन्द्रियजात्यां पुनरेकेन्द्रियादिजातिचतुष्क—सूक्ष्म—साधारण—स्थावरलक्षणाः सप्त प्रकृतीर्वर्ज्जयित्वा शेषाः पञ्चसप्ततिप्रकृतय उदयवत्यो भवन्ति, एवं काययोगादिमार्गणास्वपि स्वयमभ्यूह्यम् । इति पापतत्त्वम् ॥

तुर्यतत्त्वव्याख्यानेनोपात्तं यन्मया सुकृतम् । पापं विधूय तेन व्रजन्तु शिवधाम्नि विद्वांसः ॥ १ ॥

इत्याराध्यपादाऽऽचार्यवर्य्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरविनेयावतंसोपाध्यायपदालङ्कृतश्रीमत्प्रतापविजयगणिशिष्याणुप्रवर्त्तकमुनिश्रीधर्म्मविजयविरचितायां नवतत्त्वप्रकरणसुमङ्गलाटीकायां

तुर्यं पापतत्त्वं समाप्तम्





अथ आश्रवतत्त्वम्



नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थितांश्च विरतान् सत्त्वानुकम्पाऽमृषाऽस्तेयब्रह्मसुतोषपेषणरतान् सद्ध्यानसंपद्गतान्।
योगातीतपदाभिलाषकुशलान् योगत्रयाराधकान् निर्द्रव्यानपि बोधिरत्नसुनिधीन् ध्यायामि योगीश्वरान् १

जीवाऽजीव-पुन्य-पापाख्यानि चत्वारि तत्वानि व्याख्यातानि, अथाऽनन्तरव्यावर्णितपुन्यपापयोः शुभाऽशुभाऽऽश्रवस्वरूपत्वादुद्देशक्रमाऽऽयातमाश्रवतत्त्वं विवियते, तत्रादावाश्रवतत्त्वस्य द्विचत्वारिंशद्भेदप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

इन्दिय कसाय अव्वय—जोगा पंच चउ पंच तिण्णि कमा।
किरियाओ पणवीसं, इमा उ ताओ अणुक्कमसो ॥ २१ ॥

टी—आ अभिविधिना श्रवति कर्म्म येभ्यस्ते आश्रवा इन्द्रियादयः, अथवा आश्रूयते आगम्यते आनीयते इति यावदनेन कर्म्मोदकं जीवतडागेष्विवेत्याश्रवः, यथा पाथोधिमध्यवर्त्तीसच्छिद्रा नौर्जलेनाऽऽपूर्यते जलाऽऽक्रान्ता निमज्जति चाऽ-

धस्स लेले, एवमिन्द्रियाद्याश्रवच्छिद्रसंपन्नो जीवपोतः प्रतिसमयं कर्म्मजलेनाऽऽपूर्यते दुरन्तसंसारपारावारे निमज्जति चेति भावार्थः। इदं वक्ष्यमाणस्वरूपमाश्रवतत्त्वं द्विचत्त्वारिंशद्भेदाऽऽत्मकं तथापि विवक्षया पञ्चप्रकारं त्रिप्रकारं वा ग्रन्थान्तरेषु विवृतं, तथा च तद्ग्रन्थः;—" पंचविहो पन्नत्तो, जिणेहिं इह अण्हओ अणादीओ हिंसामोसमदत्तं अबंभपरिग्गहं चेव " ॥ १ ॥ (प्रश्नव्या० गाथा-२) " कायवाङ्मनःकर्म्मयोगः " " स आश्रवः " " शुभः पुन्यस्य, " " अशुभः पापस्य " (तत्त्वा अ० ६-सू० १–२–३–४)। परमार्हतपरनारीसहोदरकुमारपालमहीपालप्रतिबोधककलिकालसर्वज्ञाऽऽचार्यश्रीमद्धेमचन्द्रसूरिपादैरपि योगशास्त्रे न्यगादि;–" मनोवाक्कायकर्म्माणि योगाः कर्म्म शुभाऽशुभम्। यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्त्तिताः " ॥ १ ॥ इत्येवमाश्रवस्य विवक्षया भिन्नभिन्नभेदाः सञ्जायन्ते, तथापि तेषु भेदप्रभेदेषु पूर्वोक्तानां मनोवाक्काययोगानां शुभाऽशुभत्वमेव शुभाऽशुभकर्म्मबन्धे निमित्तत्वम्। मैत्र्यादिभावनाभाविताऽन्तःकरणः सद्वेद्य-सम्यक्त्व–हास्य–रति–पुरुषवेद–शुभाऽऽयु–नाम–गोत्रलक्षणं शुभं कर्म्म सञ्चिनुते स एवाऽन्यो वा विषयकषायकलुषितचेतस्को ज्ञानावरणीयाद्यशुभं कर्म्म चेतनोति, उक्तं चाचार्यहेमचन्द्रमतल्लिकाभिः;—' मैत्र्यादिवासितं चेतः कर्म्म सूते शुभाऽऽत्मकं। कषायविषयाऽऽक्रान्तं वितनोत्यशुभं पुनः ' । १ ॥ द्वादशाङ्गस्वरूपप्रवचनस्याऽविरोधेन विद्यमानं जैनेन्द्रमवितथं वचो ब्रुवाणः शुभं कर्म्म अर्जयति, तदेव प्रवचनविरोधि वचो भाषमाणः अशुभं कर्म्म बध्नाति, तथा चोक्तं;–' शुभाऽर्जनाय नैर्मल्यं श्रुतज्ञानाऽऽश्रितं वचः। विपरीतं पुनर्ज्ञेयमशुभाऽर्जनहेतवे ' ॥ १ ॥ एवं काययोगेऽप्यूह्यम्, तद्यैवं;–कायोत्सर्गाद्यवस्थायामसच्चेष्टारहितेन काययोगेन जन्तुः सद्वेद्यादिपूर्वव्याख्यातं सत्कर्म्म चिनुते स एवाऽन्यो वाऽऽत्मा महारम्भिणा

प्राणिव्यापादकेनाऽशुभकाययोगेनाऽसद्वेद्यादिपापकर्म्म बध्नाति, न्यगादि च;–"शरीरेण सुगुप्तेन शरीरी चिनुते शुभम् सततारम्भिणा जन्तुघातकेनाऽशुभं पुनः" ॥ १ ॥ ननु शुभाऽशुभयोगाः सदसत्कर्म्मणां कारणत्वेन सञ्ज्ञायन्ते परं ते शुभाऽशुभयोगाः केन हेतुना शुभाऽशुभत्वमाभजन्ति ? उच्यते—यदाऽऽत्मा पूर्वोपात्तरागद्वेषस्नेहलेशाऽवलीढसकलाऽऽत्मप्रदेशो भवति तदा येष्वाकाशदेशेष्ववगाढस्तेष्वेव व्यवस्थितान् कार्म्मणशरीरयोग्याननेकरूपान् पुद्गलान् स्कन्धीभूतानाहारवदात्मनि परिणामयति सम्बन्धयतीति, ततस्तानध्यवसायविशेषाज्ज्ञानादीनां गुणानामावरणतया विभजते हंसः क्षीरोदके यथा, यथा वाऽऽहारकाले परिणतिविशेषक्रमवशादाहर्त्ता रसखलतया परिणतिमानयत्यनाभोगवीर्यसामर्थ्यात्, एवमिहाप्यध्यवसायविशेषात् किञ्चिज् ज्ञानावरणीयतया किञ्चिद्दर्शनाऽऽच्छादकत्वेनाऽपरं सुखदुःखानुभवनयोग्यतया परञ्च दर्शनचरणव्यामोहकारितयाऽन्यन्नारकतिर्यङ्मनुष्याऽमराऽऽयुष्केनाऽन्यद्गतिजातिशरीराद्याकारेणाऽपरमुच्चैर्नीचगोत्राऽनुभावेनाऽन्यद्दानाद्यन्तरायकारितया व्यवस्थापयति, तत्र प्रशस्तकार्येषु नियुक्तैरध्यवसायैरुपात्तानि शुभफलप्रदानि कर्म्माणि शुभानि, तेषां कर्म्मणामुपचये निमित्तीभूता मनोवाक्काययोगा अपि शस्ताः । अप्रशस्तकार्येषूपयुक्तैः प्रविचारैरुपचितानि अशस्तफलदानि कर्म्माणि पापसंज्ञकानि, तेषु कारणिका मनोवाक्काययोगा अप्यसन्तः इति कृतं प्रसङ्गेनेति । अथ सूत्रोक्तगाथा विव्रियते—तत्रेन्द्रियस्वरूपं जीवतत्त्वे 'पणिंदिय' त्ति गाथायां सविस्तरं प्रपञ्चितं, तथाऽपि स्थानाऽशून्यार्थं नामतो लिख्यते;–स्पृश्यते स्वविषयः स्पर्शलक्षणोऽनेनेति स्पर्शनं त्वगिन्द्रियम् । रस्यते आस्वाद्यते रसोऽनयेति रसना–जिह्वेन्द्रियम् । घ्रायते गन्धोऽनेनेति घ्राणम्–नासिकेन्द्रियम् । चक्षुर्लोचनम्–चक्षुरिन्द्रियम्, श्रूयते आकर्ण्यते शब्दोऽनेनेति श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रियम् ।

अत्राऽऽह—एतैः पूर्वप्रपञ्चितैरिन्द्रियैः कर्म्मबन्धः कथं स्याद्यत एतानि आश्रवतत्त्वे प्रकीर्त्तिताः ? उच्यते-शीतोष्ण-स्निग्धरूक्ष-मृदुकर्कश-गुरुलघुप्रकारोऽष्टविधः स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियस्य विषयः, तत्राऽनुकूलमुष्ण-स्निग्ध-मृद्वादिलक्षणं स्पर्शं प्राप्य तुष्यति, प्रतिकूलं शीतादिकं च लब्ध्वा रुष्यति, तोषरोषौ च कर्म्माऽऽश्रवस्याऽनन्यहेतू, अतोऽनुकूलप्रतिकूलस्पर्शैर्यत् कर्म बध्यते स स्पर्शनेन्द्रियाऽऽश्रवः । अम्ल-मधुर-तिक्त-कषाय-कटुलक्षणः पञ्चभेदभिन्नो रसो रसनेन्द्रियगोचरः, तत्र मधुरादि रसं संप्राप्य तुष्टिः, तिक्तादिकं चाऽऽस्वाद्य द्वेषः सुप्रतीतः, एवं रसनेन्द्रियविषयशुभाऽशुभरसाऽऽस्वादजन्यौ रागद्वेषौ रसनेन्द्रियाऽऽश्रवौ ॥ सुरभिदुरभिगन्धौ घ्राणेन्द्रियगोचरौ, सुरभिगन्धमाघ्राय प्रीतिः, दुरभिगन्धं प्रति चाऽप्रीतिः, इति प्रीत्यप्रीतिजन्यौ घ्राणेन्द्रियाऽऽश्रवौ । रक्त-पीत-श्वेत-नील-कृष्णाऽऽत्मकं पञ्चप्रकारकं रूपं चक्षुरिन्द्रियविषयं, तत्र मनोऽनुकूलं रूपं दृष्ट्वा रागः, मनःप्रतिकूलं च वीक्ष्य द्वेषः, इति रागद्वेषौ चक्षुरिन्द्रियस्याऽऽश्रवौ । सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदभिन्नः शब्दः श्रवणेन्द्रियगोचरः, तत्र मनोहराणां तुर्याणां शब्दं श्रुत्वा रतिः, खरोष्ट्रादीनां शब्दं निशम्य चाऽरतिः, शब्दमाश्रित्योत्पन्ने रत्यरती च श्रवणेन्द्रियस्याऽऽश्रवौ ॥ इत्येवमिन्द्रियपञ्चकस्य त्रयोविंशतिसंख्याकाः स्पर्शादिविषया अनुकूलप्रतिकूलतयाऽऽसेव्यमाना रागद्वेषोत्पादकत्वेन आश्रवास्समाख्याताः । यद्यपि निखिलाऽऽश्रवहेतवः संसारपारावारपर्यटने प्रधानकारणास्तथापि केचनाऽऽश्रवाः प्रशस्तभावेनाऽऽसेव्यमानाः पुन्यबन्धं विदधति, अप्रशस्ताशयेन च पापबन्धं वितन्वन्ति, यथा यः कश्चिल्लघुकर्म्मा चक्षुर्भ्यां प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मप्रसन्नं सुराऽसुरनिकरनिषेव्यमाणं त्रिजगत्पूज्यं साक्षात् तीर्थंकरभगवन्तं तेषामभावे प्रतिनिधितुल्यां तन्मूर्त्तिं वा दृष्ट्वा जातसंवेगः सन्नात्मानन्दमनुभवति, यश्च ताभ्यामेवाक्षिभ्यां ललितललनाङ्गप्रत्यङ्गदर्शनचेतस्कस्सन

मनसि दुष्प्रापान् महोदधिकल्लोलकल्पान् मृगतृष्णासमान् मनोरथान् चिन्तयित्वा स्वस्य संसाराऽनुषङ्गित्वं ख्यापयति तयोर्यथासंख्यं आश्रवस्य शुभाऽशुभत्त्वं विज्ञेयम् । विविधरसाऽऽस्वादलुब्धः कश्चिद् विरसभोजनं लब्ध्वा खिन्नमनस्कतया सूदं गृहभार्यां वा विरसभाषया विसंवदति यष्टिमुष्टिप्रहारं वा कुरुते, साधुः साधुकल्पः श्राद्धो वा सरसं विरसं वा भुञ्जानः ' अरसं विरसं वा वि सुइयं वा असुइयं । उल्लं वा जइ वा सुक्कं मंथु कुम्मास भोयणं ' ॥ १ ॥ इति दशवैकालिकोक्तां गाथामनुस्मरन् पुद्गलपरिणाममवधारयन् धर्म्मसाधकत्वेन च शरीरस्य पोष्यत्वं विचारयन् न रुष्यति नाऽपि तुष्यति तत्राऽपि क्रमेण शुभाऽशुभत्त्वमवबोध्यम्, एवं स्पर्शनादिष्वप्यूह्यम् । इति रागद्वेषाभ्यामासेव्यमानानामनुकूलप्रतिकूलस्पर्शादिविषयानां विपादपि कष्टतरं फलमभ्यूह्य मैनीन्द्रनिगदितसुविशुद्धधर्म्मभावनाभावितात्मना येन प्रकारेणेन्द्रियाऽऽश्रवनिरोधस्स्यात्तथा प्रयतितव्यम्, यतः पुन्योदयलभ्यं पञ्चेन्द्रियत्वमर्हत्प्रणीतविशुद्धधर्म्माराधने नियुज्येत तदा स्वर्गाऽपवर्गप्राप्तिः, अन्यथाऽतीव विपयाऽऽसक्तितया इष्टाऽनिष्टविषयग्रहणपरित्यागगृद्धो भवेत् तदा नारकतिर्यग्योनिषु दुरन्तदुःखावाप्तिरपि सुलभा । पञ्चेन्द्रियपटुतायाः फलमाश्रवनिरोधः न तु विषयादिषु लोलुपत्वमिति परिभावनीयं जैनेन्द्रवाक्यानुसारितया, उक्तञ्च;— " आपदां कथितः पन्थाः, इन्द्रियाणामसंयमः । तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यतां । १ ॥ इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं, यत्स्वर्गनारकावुभौ । निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च " ॥ २ ॥

क्रोध–मान–माया–लोभसंज्ञकाः कषायाऽपि कर्म्माश्रवाः, क्रोधाद्याश्चत्वारः पापतत्त्वेऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनभेदैः सुतरां विवृतास्तथाऽपि लेशतोऽत्र स्थानाऽशून्यार्थं प्रदर्श्यन्ते, क्रोधोऽप्रीतिः, मानो नम्रताऽ-

भावत्वं, माया कापट्यं, लोभस्संतोषराहित्यम् अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनभेदभिन्ना अपि क्रोधादिकषायाः पुनरेकैकश्चतुःप्रकाराः, तद्यथा—अनन्तानुबन्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधः १, अप्रत्याख्यानावरणाऽनन्तानुबन्धिक्रोधः २, प्रत्याख्यानावरणाऽनन्तानुबन्धिक्रोधः ३, सञ्ज्वलनाऽनन्तानुबन्धिक्रोधः ४, तत्र योऽनन्तानुबन्धिक्रोधः स्वस्वरूपेणाऽतिशयेनोग्रः स प्रथमप्रकारकः, यश्च स्वरूपेण मन्दपरिणामवान् स द्वितीयभेदभिन्नः, यस्तु स्वरूपेण मन्दतरः स तृतीयः, यश्च पुनः स्वरूपतया मन्दतमपरिणामात्मकः स सञ्ज्वलनाऽनन्तानुबन्धिक्रोधश्चतुर्थः एवं शेषेषु मानमायाप्रभृतिभेदप्रभेदेषु स्वधिया परिभावनीयम् उक्तरूपाः कषायाः प्रशस्ताऽऽशयेनासेव्यमानाः शुभाश्रवाणां हेतुत्वं भजन्ति, अशस्ताऽऽशयेन चाऽशुभाऽऽश्रवाणां कारणतां बिभ्रति, यथा जगदनुग्रहविहितानेकग्रन्थसन्दर्भकलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिचरणपङ्कजचञ्चरीकायमाणपरमार्हतपरनारीसहोदरकुमारपालाऽवनीपालविहितं स्वभगिनीपत्यर्णोराजस्य रसनाऽऽकर्षणमेव यद्वा संयमघण्टापथभ्रष्टमन्तेवासिनं प्रति चारित्रराजमार्गे स्थापयितुं गुरोः कोप इव जिनाऽऽज्ञाऽनुसारिसाधुसाध्वीश्रावकश्राविकासमूहाऽऽत्मकस्य तीर्थंकरमहितस्य श्रीश्रमणसंघभट्टारकस्य निष्पारसंसारसिन्धूत्तारणतरीकल्पस्य जैनेन्द्रप्रवचनस्य चोड्डाहकारिणं यथेच्छमुत्सूत्रप्रलापिनं प्रति वा यस्य कस्यचित् पारगताऽऽज्ञाप्रवणहृदयस्य सम्यग्दृष्टेर्भव्याऽऽत्मनः कोपेऽ्भवस्स्यात्तत्र शुभाश्रवः ननु मातृपित्रादयः पुत्रभार्यादिस्वजनाय कुप्यन्ति तत्र प्रशस्ताऽऽश्रवोऽप्रशस्ताऽऽश्रवो वा ? उच्यते—जननीजनकादयः स्वार्थपरायणास्सन्त इमे यदि सुशिक्षिता आयतयो भवेयुस्तदा वार्धक्ये वयं पुत्रकलत्रादिभिः पालिताः सुखभाजस्स्याम इति बुद्ध्या कुप्यन्ति तदा त्वप्रशस्ताश्रवः, यदि ते जनकादयो निःस्वार्थस्सन्त एवं विचारयेयुर्यदि मे स्वजनास्तत्त्वाऽवबुद्धा

अभविष्यन् तदा सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय्याराधनपुरस्सरं दुरन्तसंसारपाशमुक्ताः स्युरिति शेहुष्या जायमानं शिक्षणं शुभाऽऽश्रवस्य हेतुः, संसारनिमित्तं जायमानं ताडनतर्जनादि अप्रशस्तं, अनन्तरतया-परम्परतया वा मोक्षाऽवाप्त्यर्थं जायमानं शिक्षणं शुभाश्रवतया विज्ञेयम् । अनया रीत्या मानमायादिष्वपि प्रशस्ताऽप्रशस्तत्वं स्वमनीषयोह्यं, तद्यथा-स्वकुलप्रशंसायामप्रशस्तता मानस्य, देवगुरुधर्मश्रेष्ठतासत्कं मानश्च प्रशस्तम् । धनस्वजननिमित्ता माया अशरता, प्रव्रज्यादिधर्म्मार्थं विधीयमाना च शुभा । अर्थकामाऽवाप्त्यर्थं प्रवर्धमानो लोभोऽसत्, ज्ञानदर्शनचारित्रार्थमेधमानश्च सन्निति सम्यक्सिद्धान्तानुसारिण्या दृष्ट्या तर्क्यम् ।

अनेन नैवं विज्ञेयं यत् प्रशस्तकषाय उपादेयः, यतो मुमुक्षुणा तु सोऽपि त्याज्य एव, केवलं कर्म्मसत्तापरायत्ता जन्तवः प्रायशोऽप्रशस्तकषायोदयवन्तो दृश्यन्तेऽस्मिल्लोके, तस्मात्तमप्रशस्तं त्यक्त्वा अयं तावदुपादेयो यावत्सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानं, अनन्तरमयमपि स्वयमेव विनङ्क्ष्यतीत्यलं विस्तरेण ॥ अथाऽव्रतानि;-अव्रतं नाम व्रतस्याऽभावोऽव्रतं, व्रतञ्च " हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् " तद्विपरीतश्चाऽव्रतं, तच्च प्राणातिपातमृषावादाऽदत्तादानमैथुनपरिग्रहभेदात् पञ्चधा, तत्र प्राणानामिन्द्रियादिद्रव्यप्राणानामतिपातो वियोगः प्राणातिपातः, ननु सूक्ष्मबादरादिजीवानां यथायोगं लोके सर्वत्र सद्भावाद् हिंसानिवृत्तानां विरतानामपि हिंसाप्रसङ्गः; हिंसावताञ्च मोक्षप्राप्तिः सुदुर्लभा ;, सत्यं-भवता विरतानां संयतानां हिंसाप्रसङ्ग आसादितः, परं ' हिंसा ' इति शब्दस्य कोऽर्थः ? तं सावधानीभूय श्रुणुत, " प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा " इति तत्त्वार्थवचनात् प्रमादादनुपयोगाज्जायमाना हिंसा सैव हिंसात्वेनोच्यते, अनेनोपयोगवता अप्रमत्तेन भवि-

उच्चालियम्मि पाए
तव्यतातियोगेनाऽवश्यंभाविनि मण्डूकीप्रभृतिक्षुद्रजन्तुजातविराधना स्यात्तथाऽपि तत्राऽनाश्रवः, उक्तञ्चः—" उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए। वावज्जेज्ज कुलिङ्गी मरिज्ज तं जोगमासेज्जा ॥ १ ॥ न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए। अणवज्जो उवओगेण सव्वभावेण सो जम्हा " ॥ २ ॥ अत्र हिंसायां चतुर्भङ्गाः, यथा;—द्रव्यतो हिंसा भावतो न, १ भावतो हिंसा न द्रव्यतः २, द्रव्यभावाभ्यामहिंसा ३, द्रव्यभावाभ्यामुभयतो हिंसा ४, तत्राऽऽद्ये भङ्ग अप्रमत्तगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानं यावत्, यतोऽप्रमत्तत्त्वान्न भावतः योगसद्भावाद्द्रव्यतस्तु स्यादेव हिंसा, द्वितीयभङ्गकस्तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमभिघातयतः, शैलेशीकरणसमापन्नास्सिद्धाश्च द्रव्यभावाभ्यामहिंसका अतस्ते तृतीयभङ्गवर्त्तिनः, चतुर्थे तु हिंसाध्यवसाययुक्तानां प्राणवधकानां निषादपुलिन्दप्रभृतीनामन्तर्भावः। इयमेव चतुर्भङ्गी सोदाहरणं पुनर्भाव्यामः—तत्र तावत् कश्चिदल्पकर्म्मा द्रव्यहिंसां कृत्वाऽपि न नारकादिदुःखभाग् भवति, द्रव्यहिंसां प्राणातिपातरूपां तु विदधाति परं सुकुमारहृदयत्वेन तथाविधदुष्टाऽध्यवसायाऽभावात् पीडोत्पादने सत्यपि न तथाविधकर्म्मबन्धो भवति येन तत्फलभाजा भूयेत, द्वादशगुणस्थानवर्त्तिसाधुवत्, स हि सकलमोहनीयक्षयजनितातिप्रशस्तशुभाऽध्यवसाययोगवान् पथि गमाऽऽगमं कुर्वाणः तीव्राऽनुबन्धराहित्येन पादोत्क्षेपे तत्संयोगद्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्ध्यवश्यं भाविभावस्वभावेन बद्धनिकाचितमरणाद् कपोतशावकादीन् अथवा पक्ष्ममेषोन्मेषेण वा शरीराऽवष्टम्भेन वायुकायजीवान् हिनस्ति, तथापि तस्य प्रथमसमयबद्धा द्वितीयसमये वेदिता तृतीयसमये निर्ज्जीर्णा ईर्यापथिक्या न हिंसाफललवभाक्त्वम्, सदुपयोगरूपेण तथैवाऽसद्भूतत्वादकलनीयत्वात्, तदुक्तं भगवत्यां;—" अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो पुरओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स

पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा वट्टपोए वा कुलिंगपोए वा परिआवज्जेज्जा, तस्स णं इरियावहिया नो संपराइया, जस्स णं कोहमाणमायालोभा सव्वत्था वुच्छिन्ना तस्स णं इरियावहिया हवइ" त्ति अयं प्रथमो भङ्गः । द्रव्यहिंसायाः प्राणादित्यागरूपाया अकारकोऽपि कठोरहृदयप्रादुर्भूतरौद्रध्यानपरायणो सर्पबुद्ध्या रज्जुमाघ्नन् द्वितीयभङ्गवर्ती, तन्दुलमत्स्यवत्, अयं च तन्दुलमत्स्यो नवमासान् गर्भे स्थित्वा निष्क्रमणाऽनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमायुरिति वृद्धसंप्रदायः, सर्वे गर्भजतिर्यञ्चो गर्भजमनुष्यवदिति वचनात्, स च महामत्स्यमुखे गतप्रत्यागतं कुर्वाणान् मध्यमत्स्यान् दृष्ट्वा स्वमनसि 'यद्यहमेषो द्रव्यमहाकायस्स्यां तदा सर्वानभक्ष्यम्,' इति विचारणया संक्लिष्टचित्तप्रादुर्भूतरौद्रध्यानसहचारिणीं भावहिंसां विधाय सप्तमनरकफलवान् भवति इति द्वितीयो भङ्गः । तृतीयभङ्गवर्त्तिनश्शैलेशीकरणसमापन्नाः सिद्धाश्च, तेषां योगाऽभावाद् द्रव्यभावाभ्यामप्यहिंसकत्वमिति । तथाविधदुष्टाऽध्यवसायोपपन्नेन केनचिद्दृढप्रहारादिनेव कठोरहृदयभावेन विधीयमाना हिंसा द्रव्यभावाभ्यामुभयतो हिंसा चतुर्थभङ्गान्तःपातिनी ॥ अत्र हिंसातात्पर्यप्रतिपादकाश्च श्लोकाः—

कठोरहृदयत्वेन हिंसा हेयेति सोच्यते । देहनाशो भवेत् पीडा या तां हिंसां प्रचक्षते ॥ १ ॥ दुःक्खोत्पत्तिर्मनःक्लेशः, तत्पर्यायस्य च क्षयः । यस्याः स्यात् तत्प्रयत्नेन हिंसा हेया विपश्चिता ॥ २ ॥ प्राणी प्रमादतः कुर्यात् यत् प्राणव्यपरोपणम् । सा हिंसा जगदे प्राज्ञैर्बीजं संसारभूरुहः । ३ ॥ नित्याऽनित्ये ततो जीवे परिणामे वियुज्यते । हिंसा कायवियोगेन पीडाऽतः पापकारणम् ॥ ४ ॥ शरीरी म्रियतां मा वा ध्रुवं हिंसा प्रमादिनां । सा प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादरहितस्य न ॥ ५ ॥ अविधायाऽपि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः कृत्वाऽप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् । ६ ॥ एकस्याऽल्पा हिंसा

ददाति काले तथा फलमनल्पम् । अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिणामे ॥७॥ एकस्यैव सतीव्रस्य दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य । भवति सहकारिणामपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥८॥ प्रागेव फलति हिंसा (१) क्रियमाणा फलति (२) फलति च कृतार्थो (३) । आरब्धा चाऽप्यकृता (४) फलति हिंसानुभावेन ॥ ९ ॥ एकः करोति हिंसां, भवन्ति फलभोगिनस्तथा बहवः । बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥ १० ॥ कस्याऽपि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले । अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसा फलं विपुलम् ॥ ११ ॥ हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा फलं तु परिणामे । इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसा फलं नाऽन्यत् ॥ १२ ॥ इति हिंसाऽभिधानं प्रथममव्रतम् ॥

अथ द्वितीयं मृषावादसंज्ञकमव्रतमाह;–मृषावादो नामाऽसत्योक्तिः, यद्वस्तु येन स्वरूपेण विद्यते तत्तथैव वक्तव्यमित्युत्सर्गः, अनेन चौरं प्रत्ययं चौरः, काणमभिलक्ष्यायं काण इत्येवं न वक्तव्यमप्रियत्वात्तस्य, एवं सत्यमपि अहितं चेत्तदप्यसत्यमेव, यथा मृगयुभिः पृष्टस्यारण्ये मृगान् दृष्टवतो मया मृगा दृष्टा इति तज्जन्तुघातहेतुत्वान्न तथ्यम् । उक्तं कलिकालसर्वज्ञैराचार्यहेमचन्द्रपुरन्दरैर्योगशास्त्रे;–" प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतव्रतमुच्यते । तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाऽहितञ्च यत् " ॥ १ । अतथ्यं वचः प्राणी हास्य–लोभ–भय–क्रोधात्मकैश्चतुर्भिः कारणैर्ब्रूते, यथा हसन् हि मिथ्या ब्रूयात्, लोभपरवशश्चार्थाऽऽकाङ्क्षया भयार्त्तः प्राणादिरक्षणेच्छया क्रुद्धः क्रोधतरलितमनस्कतया मिथ्या ब्रूयादिति । एतच्चाऽसत्यं चतुर्धा–भूतनिह्नवः अभूतोद्भावनं, अर्थान्तरं, गर्हा च तत्र च भूतनिन्हवो यथा–नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापं चेत्यादि । अभूतोद्भावनं यथा सर्वगत आत्मा श्यामाकतन्दुलमात्रो वा । अर्थान्तरं यथा गामश्वमभिदधतः । गर्हा त्रिधा, एका सावद्यव्यापारप्रवर्त्तनी यथा

क्षेत्रं कृपेत्यादि । द्वितीया अप्रिया, काणं काणमिति वदतः । तृतीया आक्रोशरूपा, यथा अरे ! बान्धकिनेय ! इत्यादि ॥
इत्येवं मृषावादनामकं द्वितीयमव्रतं सेवमानस्य कर्म्माण्याश्रवन्ति अतस्तदप्याश्रवत्वेन समाख्यातम् ॥ क्लिष्टाशयपूर्वकसत-
थ्यवचनमाश्रवत्वेनाऽऽस्तां, ग्रामादिकमप्यज्ञानसंशयादिजनितवचनं कर्म्माश्रवहेतुभूतं, यतो मुमुक्षवोऽज्ञानजन्यां वा ग्रामा-
दिकामपि मृषोक्तिं न ब्रुवते, यदाहुर्महर्षयो दशवैकालिके;—"अइअम्मि य कालम्मि पच्चुपन्नमणागए । जमट्ठं तु न जाणेज्जा
एवमेअंति णो वए ॥ १ ॥ अइअम्मि य कालम्मि पच्चुपण्णमणागए । जत्थ संका भवे तं तु एवमेअंति णो वए ॥ २ ॥ अइअम्मि
य कालम्मि पच्चुपण्णमणागए । निस्संकियं भवे जं तु एवमेअं ति निद्दिसे" ॥ ३ ॥ इति द्वितीयमव्रतम् ॥

अधुना तृतीयमव्रतं प्रतन्यते;—वित्तस्वामिना अदत्तस्य वित्तस्याऽऽदानं तत्स्तेयनामकं तृतीयमव्रतम् । तच्च स्वामिजीव-
तीर्थकरगुर्वदत्तभेदेन चतुर्विधम् । तत्र स्वाम्यदत्तं तृणोपलकाष्ठादिकं तत्स्वामिना यददत्तम्, जीवादत्तं यत्स्वामिना दत्तमपि
जीवेनाऽदत्तं यथा प्रव्रज्यापरिणामविकलो मातापितृभ्यां पुत्रादिर्गुरुभ्यो दीयते । तीर्थकराऽदत्तं यत्तीर्थकरैः प्रतिषिद्धमाधाकर्मि-
कादि गृह्यते । गुर्वदत्तं नाम स्वामिना दत्तमाधाकर्मिकादिदोषरहितं गुरूननुज्ञाप्य यद् गृह्यते भक्ष्यते । पथि गच्छतो वाह-
नादेर्भ्रष्टं, क्वापि विस्मृतं स्वामिना यन्न स्मार्यते, क्वापि नष्टं स्वामिना यन्न ज्ञायते, स्वामिपार्श्वे यदवस्थितं, स्थापितं न्यासीकृतं
इत्यादिप्रकारकं परकीयं द्रव्यं गृह्णतोऽदत्तादानदोषापत्तिः, संक्लिष्टाऽध्यवसायजनकत्वादिदमप्यव्रतम् ॥ इति तृतीयम् ॥

तुर्यं त्वब्रह्मसंज्ञकमव्रतम्;—ब्रह्मणि मोक्षे चरति येन व्रतेन सर्वथा स्त्रीसङ्गत्यागात्मकेन तद् ब्रह्मचर्यं, तस्याऽभावः स्त्रीष्वभिष्वङ्ग-
लक्षणस्तदब्रह्मचर्यं, तच्चाऽष्टादशधा, तच्चैवम्;—वैक्रियशरीरवत्यो देवाङ्गनास्ताभिस्सह मनसा वाचा कायेन च त्रिभिः प्रकारै-

मैथुनसेवनं, अन्यैश्च कारापणं, सेवमानानामन्येषामनुमोदनमिति त्रयस्त्रिभिर्गुणिता नव, एवं औदारिकाङ्गवर्त्तिभिर्मानुषैर्भिस्तैर्यक्तैर्भिश्च सह पूर्वोक्तरीत्या मनोवाक्कायैर्मैथुनकरणं कारापणमन्येषां चानुमोदनमिति त्रयस्त्रिभिर्गुणिताश्च जाता नव, उभयैः सम्मीलनेऽष्टादश प्रकाराः, इत्येवमब्रह्मत्यागात्मकं ब्रह्मचर्यमप्यष्टादशभेदभिन्नम्, उक्तं ;–" दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम् ॥ औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम् " ॥ १ ॥

" प्राणसन्देहजननं, परमं वैरकारणम्, लोकद्वयविरुद्धं परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥ १ सर्वस्वहरणं बन्धं शरीरावयवच्छिदाम् । मृतश्च नरकं घोरं लभते पारदारिकः ॥ २ ॥ नासक्त्या सेवनीया हि स्वदारा अप्युपासकैः आकरः सर्वपापानां किं पुनः परयोषितः " ॥ ३ । इत्यादिप्रवचनप्रसिद्धाऽब्रह्मदुष्टत्वेन संक्लिष्टसंक्लिष्टतरसंक्लिष्टतमाऽध्यवसायोत्पादकत्वेनाऽब्रह्मचर्यस्याऽव्रतत्वे आश्रवस्वरूपे सुविख्याते सत्यपि स्त्रीपरीषहपराजिताः कामाऽऽसक्तित्वं भजमाना भवसमुद्रनिस्तारतरीकल्पजैनेन्द्रप्रवचनपोतपराङ्मुखा एके बौद्धविशेषा नाथवादिमण्डलप्रविष्टा बौद्धविशेषा वा एवमूचुः;–प्रियादर्शनमेवाऽस्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः । प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणाऽपि चेतसा । १ जैनमार्गविद्वेषिणस्ते एवं प्रज्ञापयन्ति;–" जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं । एवं विन्नवणित्थिसु दोसो तत्थ कओ सिया ॥ २ । जहा मंधादए नाम थिमिअं भुंजती दगं । एवं विन्नवणित्थिसु दोसो तत्थ कओ सिया ॥३॥ जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं एवं विन्नवणित्थिसु दोसो तत्थ कओ सिया । ३ एवमेगे उपासत्था मिच्छदिट्ठि अणारिया अज्झोववन्ना कामेहिं पूयणा इव तरुणए " ॥ ४ ॥ एतासामियं गमनिका;–येन प्रकारेण कश्चिद्गण्डी पुरुषो गण्डं समुत्थितं पिटकं वा

तज्जातीयकमेव तदाकूतोपशमनार्थं पूयरुधिरादिकं निर्माल्य मुहूर्त्तमात्रं सुखितो भवति न च दोषेणाऽनुपज्यते एवमत्रापि युवति प्रार्थनायां रमणसम्बन्धे गण्डपरिपीडनकल्पे दोषस्तत्र कुतस्स्यात् ? नह्येतावता क्लेदाऽपगममात्रेण दोषो भवेदिति ॥१॥ स्यात्तत्र दोषो यदि काचित् पीडा भवेत्, न चासाविहाऽस्तीति दृष्टान्तेन दर्शयति;—यथा मेषः 'तिमितं' अनालोडयन्नुदकं पिबति, आत्मानं प्रीणयति, न च तथाऽन्येषां केश्चनोपघातं विधत्ते, एवमत्रापि स्त्रीसम्बन्धे न काचिदन्यस्य पीडा, आत्मनश्च प्रीणनम्, अतः कुतस्तत्र दोषस्स्यात् ॥२॥ दृष्टान्तान्तरं भावयति;—यथा पक्षिणी कपिञ्जला साऽऽकाशे एव वर्त्तमाना निभृतमुदकमापिबति, एवमत्राऽपि दर्भप्रदानपूर्विकया क्रिययाऽरक्तद्विष्टस्य पुत्राद्यर्थं स्त्रीसम्बन्धं कुर्वतोऽपि कपिञ्जला इव न तस्य दोषः ॥ गण्डपीडनतुल्यं स्त्रीपरिभोगं मन्यमानाः, तथैडकोदकपानसदृशं परपीडाऽनुत्पादकत्त्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्त्वेन किल मैथुनं जायते इत्यध्यवसायिनः, तथा कपिञ्जलोदकपानं यथा तडागोदकाऽसंस्पर्शेन किल भवति, एवमरक्तद्विष्टतया दर्भाद्युत्तारणात् स्त्रीगात्राऽसंस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुकालाभिगामितया शास्त्रोक्तविधानेन जायमाने मैथुनेऽपि न दोष इत्येवं मन्तारस्ते पूर्वपक्षिणः स्वपक्षदृढीकरणार्थं पुनरूचुर्यद्—"धर्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः। ऋतुकाले विधानेन दोषस्तत्र न विद्यते" ॥१॥ अत्रोच्यते पारमर्षप्रवचनप्रणेतृभिरुत्तरपक्षकारैः;—" जह णाम मंडलग्गेण सिरं छेत्तूणं कस्सइ मणुसे। अच्छेज्ज पराहुत्ते किं णाम ततो ण घिप्पेज्जा ? ॥ १ ॥ जह वा विसगण्डूसं कोइ घेत्तूण नाम तुण्हिको। अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो नव मरेज्जा ? ॥ २ ॥ जह नाम सिरिघराओ, कोइ रयणाणि णाम घेत्तूणं। अच्छेज्ज पराहुत्तो, किं नाम ततो न घेप्पेज्जा ?" ॥३॥ गाथात्रिकस्य गमनिका;—यथा नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्यचिच्छिरः छित्त्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावतोदासीन-

भावाऽवलम्बनेन नाऽपराधी भवेत् ? ॥ १ ॥ तथा यथा कश्चिद्विषगण्डूषं पीत्वा नाम तूष्णीभावं भजेत्, अन्येन चाऽदृश्य-
मानोऽसौ किं नाम अन्याऽदर्शनान्न म्रियेत ? ॥ २ ॥ तथा यथा कश्चित् श्रीगृहाद्भाण्डागाराद् रत्नानि महार्घाणि गृहीत्वा
पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावताऽसौ न गृह्येतेति ? ॥३॥ अत्र च यथा कश्चित् शठतयाऽज्ञतया वा शिरच्छेदविषगण्डूषरत्नाऽपहा-
राख्ये सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थमवलम्बते, न च तस्य तदवलम्बनेऽपि निर्दुष्टत्वमिति, एवमत्राप्यवश्यं भाविरागकार्ये सर्वदोषा-
ऽऽस्पदे संसारवर्धके मैथुने कुतो निर्दोषता ?, उक्तं च;—"प्राणिनां बाधकश्चैतत् शास्त्रे गीतं महर्षिभिः । नलिकातप्तकणकाप्र-
वेशज्ञाततस्तथा ॥१॥ मूलश्चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम् । तस्माद्विषान्नवत्त्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥ २ । इति चतुर्थम्
अथ पञ्चममव्रतं विव्रियते;—सर्वभावेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेषु या मूर्च्छा तत् परिग्रहसंज्ञकं पञ्चममव्रतम्, ननु जन्मान्तरो-
पार्जितदुष्कर्मप्रभावाद्ये दारिद्र्यभाजस्ते तु सर्वदैव परिग्रहनामकाव्रतविरहिताः, द्रव्याद्यभावे कुतस्तेषां मूर्च्छा ? सत्यं,
द्रव्याद्यभावेऽपि मूर्च्छा विद्यते, यतो दुर्भगोदयान्निष्किञ्चनास्ते, न तु त्याज्यबुद्धिसमलङ्कृताः, असत्यपि धने धनगर्द्धवते
राजगृहनगरद्रमकस्येव चित्तसंक्लेशो दुर्गतिपातनिबन्धनं भवति, सत्यपि वा द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणे सामग्रीविशेषे
तृष्णाकृष्णा हि निरुपद्रवमनसां प्रशमसुखप्राप्त्या चित्तविप्लवाऽभावः, अत एव धर्म्मोपकरणधारिणां यतीनां शरीरे उपकरणे च नि-
र्ममत्वानामपरिग्रहत्वम्, यदाह;—यद्वत्तुरगः सत्स्वप्याभरणभूषणेष्वनभिषक्तः । तद्वदुपग्रहवानपि न सङ्गमुपयाति निर्ग्रन्थः
॥१॥ यथा च धर्म्मोपकरणवतामपि मूर्च्छारहितानां मुनीनां न परिग्रहग्रहित्वदोषस्तथा व्रतिनीनामपि गुरूपदिष्टधर्म्मोपकरणधा-
रिणीनां रत्नत्रयवर्त्तिनीनां, तेन तासां धर्म्मोपकरणपरिग्रहमात्रेण मोक्षापवादः प्रलापमात्रम् ॥ जिनेन्द्रप्रवचने तु " मुच्छापरिग्गहे

वुत्तो" इति वचनाद्वस्त्रपात्राद्युपकरणधारिणां संयतानां निष्परिग्रहत्त्वं, दुर्भगानां तु वस्त्राद्यभावेऽपि मूर्च्छायास्सद्भावात् सपरिग्रहत्त्वम्, उक्तश्च कलिकालसर्वज्ञैराचार्यहेमचन्द्रपुरन्दरैः;—" सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागस्स्यादपरिग्रहः । यदसत्स्वपि जायेत मूर्च्छया चित्तविप्लवः" ॥ १ ॥ यथा निरवधिधनधान्यादिभराक्रान्तः पोतः समुद्रे मज्जति, तथैवाऽपरिमितपरिग्रहः प्राणी नरकादौ निमज्जति, यदाहुः;—" महारंभयाए महापरिग्गहयाए कुणिमाऽऽहारेणं पञ्चिदियवहेणं जीवा नरयाउयं अज्जंति " तथा 'बह्वारम्भपरिग्रहत्त्वञ्च नारकस्याऽऽयुषः' इति, यस्मादेवं तस्मान्मुमुक्षुणा धनधान्यादिरूपो मूर्च्छारूपो वा परिग्रहस्त्याज्य एव ॥ ननु जिनभवनविधानादिलक्षणः परिग्रहस्य गुणः शास्त्रे सुविख्यातः, कथं तस्य दुष्टत्त्वमव्रतत्त्वञ्च वर्ण्यते ? उच्यते—यश्च जिनप्रासादनिर्माणादिस्वरूपः परिग्रहस्य गुणः प्रवचने व्यावर्ण्यते स न गुणः, किन्तु परिग्रहस्य सदुपयोगप्रख्यापनं न तु तदर्थमेव परिग्रहधारणं श्रेयः । यदाहुः;—धर्म्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्याऽनीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥१॥ कंचणमणिसोवाणं थंभसहस्सोसियं सुवण्णतलं, जो कारिज्ज जिणहरं तओ वि तवसंजमो अहिओ ॥१॥ द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु मूर्च्छया चित्तविप्लवस्य प्रशमसौख्यविपर्यासात्मकस्य जायमानत्त्वात् चित्तविप्लवश्चाऽऽश्रवहेतुत्त्वात् परिग्रहसंज्ञकमप्यव्रतमेव ॥

अथ क्रमाऽऽगतं योगं त्रिप्रकारकं प्रभेदतः पञ्चदशप्रकारकं वा व्याख्यायते—तत्र युज्यते क्रियासु व्यापार्यते अथवा साम्परायिकेर्यापथकर्मणा सह सम्बध्यते आत्मा अनेनेति योगः, अयं मुख्यत्त्वेन मनोवाक्कायैस्त्रिभेदोऽप्यवान्तरेण पञ्चदशप्रकारोऽपि ग्रन्थान्तरेषु सुतरां व्याख्यातः, तच्चैवम्;—सत्यमनोयोगः, सन्तः पदार्थास्तेषु यथावस्थितवस्तुस्वरूपचिन्तनेन साधु सत्यं, अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्याप्त्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुचिन्तनपरं, सत्यं च

तन्मनश्च सत्यमनः तस्य योगो व्यापारः सत्यमनोयोगः, अथवा सन्तो मुनयस्तेषु मुक्तिप्रापकत्वेन साधु इति सत्यमनोयोगः ॥ १ ॥ असत्यमनोयोगः—सत्यविपरीतमसत्यं, यथा नास्ति जीव एकान्तसद्रूपो वेत्यादिकुविकल्पनपरं, असत्यं तन्मनश्च तस्य योगोऽसत्यमनोयोगः । २ ॥ सत्यमृषामनोयोगः—सत्यासत्यो यथा धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वाम्रवृक्षेषु आम्रवनमेवेदमिति विकल्पनपरं मनः, तत्र हि आम्रवृक्षबाहुल्यसद्भावात् सत्यता, अन्येषामपि धवखदिरादीनां सद्भावादसत्यता, व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थतः पुनरिदमसत्यम्, यथोक्ताम्रबाहुल्यधवखदिराल्पत्वचिन्तनाभावात् ॥ ३ ॥ असत्याऽमृषामनोयोग इति, यन्न सत्यं नाऽपि मृषा तदसत्याऽमृषा, इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमताऽनुसारेण विकल्प्यते, यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इति तत्किल सत्यं परिभाषितमाराधकत्वात्, यत्पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां यद्वस्तुप्रतिष्ठाशयाऽपि सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते यथा नास्ति जीव एकान्तनित्यो वा इत्यादि तदसत्यं विराधकत्वात्, यत्पुनर्वस्तुप्रतिष्ठासामन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरं यथा देवदत्ताद् घट आनेतव्यो गौर्याचनीयेत्यादि चिन्तनपरं तदसत्याऽमृषा, इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वान्न यथोक्तलक्षणं सत्यं नापि मृषा, एतदपि व्यवहारनयमतापेक्षया द्रष्टव्यमन्यथा यद्विप्रतारणबुद्धिपूर्वकं तदसत्येऽन्तर्भवति, अन्यस्य तु सत्येऽन्तर्भावः तच्च तन्मनश्च असत्याऽमृषा मनः, तस्य योगो व्यापारोऽसत्याऽमृषामनोयोगः ॥ ४ ॥ वाग्योगोऽपि मनोयोगवच्चतुर्धा, तद्यथा-सत्यवाग्योगः १ असत्यवाग्योगः २ सत्याऽमृषावाग्योगः ३ असत्यामृषावाग्योगः ४, एते च सत्यवाग्योगादयः सत्यमनोयोगप्रभृतिवद्भावनीया इति ॥ औदारिककाययोगः, औदारिकशब्दार्थो जीवतत्त्वे प्राणव्याख्याप्रसङ्गे सुतरां व्याख्यातः, औदारिकमेव शरीरं तदेव पुद्गलस्कन्धसमुदायरूपत्वादाबाल्यात्

प्रतिसमयमुपचीयमानत्वाच्च काय औदारिकशरीरकायः, तस्य योगो व्यापारो धावनवल्गनाद्यात्मक औदारिकशरीरकाययोगः, अयञ्च तिरश्चो मनुष्यस्य च पर्याप्तस्य २। औदारिकमिश्रकाययोगः;-औदारिकं च तन्मिश्रं चेति औदारिकमिश्रं, केन सह मिश्रित मिति चेत् ? उच्यते, कार्मणेन, तथा चोक्तं निर्युक्तिकारेण;-'जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जावो। तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती'॥ १॥ ननु मिश्रत्वमुभयनिष्ठं, तथा हि;-यथा औदारिकं कार्मणेन मिश्रं तथा कार्म्मणमपि औदारिकेण मिश्रं ततः कस्मादौदारिकमिश्रमेव तदुच्यते न कार्म्मणमिश्रमिति ? उच्यते-इह व्यपदेशः स प्रवर्त्तनीयो येन विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्निष्प्रतिपक्षा श्रोतृणामुपजायते, अन्यथा संदेहाऽऽपत्तितो विवक्षितार्थाऽप्रतिपत्त्या न तेषामुपकारः कृतस्स्यादिति, कार्म्मणञ्च शरीरमासंसारमविच्छेदेनाऽवस्थितत्त्वात् सकलेष्वपि शरीरेषु सम्भवति ततः कार्म्मणमिश्रमित्युक्ते न ज्ञायते किं तिर्यङ्मनुष्याणां अपर्याप्ताऽवस्थायां तद्विवक्षितमुत देवनारकाणामिति ? तत उत्पत्तिमाश्रित्यौदारिकस्य प्रधानत्त्वात् कादाचित्कत्वाच्च निष्प्रतिपक्षविवक्षिताऽर्थप्रतिपत्त्यर्थमौदारिकेण व्यपदिश्यते औदारिकमिश्रमिति। तथा यदौदारिकशरीरो वैक्रियलब्धिसम्पन्नो मनुष्यस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदा किलौदारिकशरीरप्रयोगे एव वर्त्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानुपादाय वैक्रियशरीरपर्याप्त्या यावन्न समाप्तिमुपगच्छति तावत् यद्यपि वैक्रियेण मिश्रता औदारिकस्योभयनिष्ठा तथाप्यौदारिकस्य प्रारम्भकतया प्रधानत्वात्तेन व्यपदेश औदारिकमिश्रमिति, न वैक्रियेणेति। तथा यदा कश्चिदाहारकलब्धिमान् पूर्वधरः संशयविनिवृत्त्यर्थं त्रिभुवनभर्तृसमवसरणदर्शनार्थं वाऽऽहारकशरीरं करोति तदा औदारिकशरीरप्रयोग एव वर्त्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य आहारकशरीरयोग्यान् पुद्गलानुपादाय आहारकशरीरपर्याप्त्या यावन्न पर्याप्तिमु-

पगच्छति तावत् यद्यप्याहारकेण मिश्रत्वमौदारिकस्योभयनिष्ठं तथाप्यौदारिकस्यारम्भकतया प्रधानमिति तेन व्यपदेशप्रवृत्तिरौदारिकमिश्रमिति, नत्वाहारकमिश्रत्वमिति, एवं पूर्वोक्तप्रकारत्रयेणाप्यौदारिकमिश्रकाययोगः ।२। वैक्रियकाययोगे वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां देवनारकाणां वैक्रियलब्धिमतां (वैक्रियरचनावस्थायां) तिर्यङ्मनुजबादरवायुकायिकाना ॥ ३ ॥ वैक्रियमिश्रकाययोगो देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां, मिश्रता च तदानीं कार्मणेन सह वेदितव्या, तथा यदा मनुष्यस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो बादरवायुकायिको वा वैक्रियशरीरीभूत्वा कृतकार्यो वैक्रियं परिजिहीर्षुरौदारिके प्रवेष्टुं यतते तदा किल वैक्रियशरीरबलेनौदारिकोपादानाय प्रवर्त्तत इति वैक्रियस्य प्राधान्यात्तेन व्यपदेशो नौदारिकेणेति वैक्रियमिश्रमिति ।४॥ तथाऽऽहारककाययोग आहारकशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य ॥ ५ । आहारकमिश्रकाययोग आहारकादौदारिकं प्रविशतः, अत्रैदम्पर्यं–यदा आहारकशरीरीभूत्वा कृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदा यद्यपि मिश्रत्वमुभयनिष्ठं तथाप्यौदारिके प्रदेश आहारकबलेनेत्याहारकस्य प्रधानत्वात्तेन व्यपदेशो नौदारिकेणाऽऽहारकमिश्रमिति ॥६॥ एतच्च सिद्धान्ताऽभिप्रायेणोक्तं, कार्म्मग्रन्थिकाः पुनर्वैक्रियस्य प्रारम्भकाले परित्यागकाले च वैक्रियमिश्रम्, आहारकशरीरस्य प्रारम्भकाले परित्यागकाले चाऽऽहारकमिश्रं, नत्वेकस्यामप्यवस्थायामौदारिकमिश्रमिति प्रतिपन्नाः, (तैजस) कार्म्मणकाययोगो विग्रहगतौ समुद्घाताऽवस्थायां वा सयोगिकेवलिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु, इह तैजसं कार्म्मणेन सहाऽव्यभिचारीति युगपत्तैजसकार्म्मणग्रहणम् ॥ ७ ॥

इत्येवं प्रसङ्गतः पञ्चदशभेदभिन्नो योगो लेशतः प्रदर्शितः, अस्मिन्नाश्रवतत्त्वप्रकरणे त्रिप्रकारके योगे व्यावर्णितः, यतो द्विचत्वारिंशद्भेदेषु योगस्य त्रयो भेदा एवान्तर्गणिता, पञ्चदशगणनायां तु संख्याव्यभिचारस्स्यात्, तद्योगत्रिकं नामतः

प्रदर्श्यते, तद्यथा;—मनःपर्याप्तिनामकर्म्मोदयेन काययोगद्वारा मनःप्रायोग्यपुद्गलद्रव्यानादाय मनस्त्वेन परिणमय्याऽवलम्ब्य च यद्विसर्जनं तदात्मको यो व्यापारः स मनोयोगः, अत्र मनोयोग्यद्रव्यग्रहणक्रियायां काययोगः, परिणमनाऽऽलम्बनयोर्मनोयोग इत्यवगन्तव्यम् ॥ भाषापर्याप्तिनामकर्म्मोदयेन काययोगद्वारा भाषा प्रायोग्यपुद्गलद्रव्यानादाय भाषात्वेन परिणमय्याऽवलम्ब्य च विसृजति त्यात्मको व्यापारः स वचनयोगः, ॥ औदारिकादिशरीरैर्जीवानां गमनाऽऽगमनाद्यात्मको यो व्यापारः स काययोगः। इत्येवं पूर्वोक्तैर्मनोवाक्कायैर्विधीयमाना चिन्तनभाषणकरणात्मिका शुभाऽशुभा या क्रिया सा शुभाऽशुभसंज्ञयोराश्रवयोर्निमित्ता । पूर्वोक्तेषु योगेषु कस्याऽपि योगस्य जघन्यतः समयप्रमाणा स्थितिस्ततो योगपरावृत्तिर्जायते, उत्कृष्टतस्तु अन्तर्मुहूर्त्तमात्रा स्थितिस्ततोऽवश्यमेव योगपरावर्त्तनं संजायते। योगानामाश्रवतत्त्वे नास्ति किञ्चिद्बाधकं प्रमाणं, यावद्योगास्तावदवश्यं कर्म्मबन्धः, कषायसहचरितयोगाः साम्परायिकबन्धहेतवः, कषायरहितास्तु ईर्यापथिककर्मबन्धनिमित्ताः, यदाऽयोगित्वं तदा कर्मबन्धाऽभावः इति योगस्वरूपम्, तेषु व्याख्यातेषु 'इंदियकसाय' इति गाथाऽपि व्याख्याता। केवलं गाथायामुक्तं 'किरियाओ पणवीसं' इत्यादिपदं निर्व्याख्यातं, तदग्रिमगाथाभिः क्रियाणां नामग्राहं व्याख्यायते—

काइय अहिगरणिया, पाउसिया पारितावणी किरिया। पाणाइवाय रंभिय, परिग्गाहिया मच्चवत्तिया ।२२।
मिच्छादंसणवत्ती, अपच्चक्खाणी य दिट्ठि पुट्ठि य। पाडुच्चिय सामंतो—वणीअ नेसत्थि साहत्थी ।२३।
आणवणि विअ रणिया, अणभोगा अणवकंखपच्चइया। अन्न पओगसमुदा-ण पिज्ज दोसेरियावहिया ।२४।

व्याख्या—करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धनचेष्टा इत्यर्थः, तासां च पञ्चविंशतिः 'काइय' इति, कायेन देहेन निर्वृत्ता कायिकी, तद्यथाः—सा चासौ क्रिया कायिकी क्रिया, सा च द्विप्रकारा, अनुपरतकायिकी अनुपयुक्तकायिकी च, तत्र अनुपरतकायिकी नाम या प्रदुष्टमिथ्यादृष्ट्यादेर्वाङ्मनोनिरपेक्षा पराभिभवाऽऽत्मककायोद्यमक्रिया, अस्याश्च स्वामी अविरतमिथ्यादृष्ट्यादिः। अनुपयुक्तकायक्रिया तु प्रमत्तसंयतस्य सुबहुप्रकाराऽनेककर्त्तव्यतारूपा दुष्प्रयोगकायक्रिया, अस्याश्च स्वामी अनुपयुक्तसंयतः ॥१॥ अधिक्रियते नियुज्यते नरकादिषु प्राप्यतेऽनेनेत्यधिकरणं, परोपघातिकूटगलपाशादिद्रव्यजातम्, तेन निर्वृत्ताऽऽधिकरणिकी, सा च संयोजननिर्वर्तनभेदाभ्यां द्विधा, संयोजनाऽऽधिकरणिकी, निर्वर्त्तनाऽऽधिकरणिकी चेत्यर्थः, तत्र संयोजनं विषगरहलकूटधनुर्यंत्राऽसिमुष्ट्यादीनां सम्बन्धनम्, तद्विद्यते यस्यां क्रियायां सा संयोजनाऽऽधिकरणिकी। निर्वर्त्तनं तु मूलोत्तरगुणभेदाद्विधा, तत्र मूलगुणनिर्वर्त्तनं पञ्चानामौदारिकादिशरीराणां मूलतो निष्पादनं, उत्तरगुणनिर्वर्त्तनं पाणिपादाद्यवयवकरणम्, अथवाऽसिशक्तितोमरादीनामादित एव करणं मूलगुणनिर्वर्त्तनं, तेषामेव पानोज्वलीकरणं परिवारादिसम्पादनमुत्तरगुणनिर्वर्त्तनम्, तद्विद्यते यस्यां क्रियायां सा निर्वर्त्तनाधिकरणिकी। तेषु खड्गादिषु मूलगुणोत्तरगुणनिर्वर्त्तनाभ्यां निष्पन्नेषु मुष्ट्यादीनां (त्सरुप्रभृतीनां) संयोजनं यस्यां क्रियायां विद्यते साऽपि संयोजनाऽऽधिकरणिकी एषा क्रिया नवमगुणस्थानकं यावद्विद्यते ॥ २ । जीवेऽजीवे वा प्रद्वेषकरणं प्राद्वेषिकी, सा च जीवाजीवविषयत्वेन द्विविधा, तत्र पुत्रकलत्रादिस्वजनपरजनविषया जीवप्राद्वेषिकी, अजीवप्राद्वेषिकी तु क्रोधोत्पत्तिनिमित्तभूतस्थाणुकण्टकदृषच्छकलशर्करादिगोचरे, एषाऽपि नवमगुणस्थानकं यावत् ॥ ३ परितापनिकी द्विधा, स्वपारितापनिकी परपारितापनिकी च, तत्र स्वहस्तेन परहस्तेन वा पुत्रकलत्रा-

द्वियोगदुःखभारातिर्पीडितस्याऽऽत्मनस्ताडनशिरःस्फोटनादिना स्वपारितापनिकी, आह—एवं सति लोचाऽकरणतपोऽनुष्ठानाऽकरणप्रसङ्गः, यथायोगं स्वपराऽसातवेदनाहेतुत्वात्, तदयुक्तं—विपाकहितत्वेन चिकित्साकरणवत्, लोचकरणादेरसातवेदनाहेतुत्वाऽयोगात्, अशक्यतपोनुष्ठानप्रतिषेधाच्च, उक्तञ्च "सो हु तवो कायव्वो जेण मणो मङ्गुलं न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा न हायंति" ॥ १ ॥ तथा "कायो न केवलमयं परिपालनीयो–मृष्टै रसैः बहुविधैर्न च लालनीयः । चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेषु वश्यानि येन च तथाऽऽचरितं जिनानाम्" ॥ १ ॥ इति । पुत्रशिष्यादेताडनादिना तु परपारितापनिकी, एषा द्विविधाऽपि बादरकषायजन्यत्वाद् निवृत्तिबादरगुणस्थानं यावद्भवते ॥ ५ ॥ प्राणानामतिपातः प्राणातिपातस्तेन निर्वृत्ता प्राणातिपातिकी, जीवितनाशिनीत्यर्थः, सा च द्विधा—स्वप्राणातिपातिकी, परप्राणातिपातिकी च, तत्राऽऽद्या-गिरिशिखरप्रपातजलज्वलनप्रवेशशस्त्रपाटनप्रभृतेः स्वपरहस्ताभ्यामात्मविषयकरणकारणे, अत एव कारणाद्भगवद्भिरकालमरणं प्रतिषिद्धम् । द्वितीया तु मोहलोभक्रोधाविष्टैः परस्य स्वपरहस्तप्राणच्यावनमिति । एषाऽसंयतानामेव अतः पञ्चमगुणस्थानपर्यन्तभाविनी ॥ ५ ॥ आरम्भाज्जाता आरम्भिकी, सा च द्विविधा—तत्र चैतन्योपेतजीवघातात्मिका क्रिया सा जीवारम्भिकी, चित्रप्रभृतिषु निर्मितचैतन्यवियुक्तस्थापनाजीवघातात्मिका या क्रिया सा अजीवारम्भिकी, प्रमादजन्यत्वादेषा षष्ठगुणपर्यंतभाविनी ॥ ६ ॥ धनधान्यसंग्रहलक्षणपरिग्रहादागता पारिग्राहिकी, सा च पूर्ववद्द्विधा—जीवपारिग्राहिकी अजीवपारिग्राहिकी च, तत्र प्रथमा धान्य-पशु-प्रेष्यप्रभृतिषु संग्रहस्वरूपा जीवपारिग्राहिकी, धनालंकारवासोगृहादिषु ममत्वलक्षणा अजीवपारिग्राहिकी, एषा परिग्रहप्रसक्तानां प्रजायते, अतो पञ्चमदेशविरतिगुणस्थानकपर्यन्तं वर्त्तते ॥ ७ ॥ मायाप्रत्ययिकी क्रिया

द्विविधा;—आत्मभाववञ्चनता परभाववञ्चनता च, तत्राऽऽत्मभाववञ्चनता आत्मीयं भावं निगूहति, निकृतिमान् ऋजुभावं दर्शयति, संयमादिशिथिले करणस्फटाटोपं प्रदर्शयति, परभाववञ्चनता च तत्तदाचरति येन परो वञ्च्यते कूटलेखकरणादिभिः, एषा सप्तमगुणस्थानपर्यन्तवर्त्तिनी, अप्रमत्तस्य कथमितिचेदुच्यते;—प्रवचनोड्डाहच्छादनार्थं वल्लीकरणसमुद्देशादिष्वप्रमत्तस्यापि भवति ॥ ८ ॥ २२ ॥ मिथ्यात्वं विपरीतवस्तुश्रद्धानं कारणं यस्य स मिथ्यात्वप्रत्ययकः स व्यापारोऽस्त्यस्यां सा मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी, सा द्विधा;—अनभिगृहीतमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी—अभिगृहीतमिथ्यादर्शनदर्शनप्रत्ययिकी, तत्राऽऽद्याऽसंज्ञिनां संज्ञिनामपि यैर्न किञ्चित् कुतीर्थिकमतं प्रतिपन्नं; अभिगृहीतमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी च द्विधा—हीनातिरिक्तदर्शने तद्व्यतिरिक्तदर्शने च, हीना यथा अङ्गुष्ठपर्वमात्र आत्मा यवमात्रः श्यामाकतन्दुलमात्रो वालाग्रमात्रः परमाणुमात्रो अधिका यथा पञ्चधनुःशतिक आत्मा सर्वगतोऽकर्त्ता अचेतनः, एवं हीनातिरिक्तदर्शनं, तद्व्यतिरिक्तदर्शनं, एषा क्रिया सम्यक्त्वमोहोदयवर्जदर्शनषट्कोदयेन जायते अतस्तृतीयगुणस्थानं यावद्भवति ॥ ९ ॥ अप्रत्याख्यानक्रिया द्विधा—जीवाऽप्रत्याख्यानक्रिया अजीवाऽप्रत्याख्यानक्रिया, न केषुचिज्जीवेष्वजीवेषु वा क्रमशो विरतिरस्तीति उभे अपि क्रिये विद्येते, संसारचक्रे परिभ्रमताऽसुमता अतीताऽनन्तभवेषु यानि वपूंषि व्युत्सृष्टानि यानि च शस्त्राऽस्त्रप्रभृतीनि स्वोपयोगार्थं निर्मितानि तेषां च शस्त्रादीनां [illegible]नपूर्वकत्यागो न स्याद्यदि तदा तत्तत्कलेवरशस्त्रादिभिर्जायमाना हिंसा अस्मिञ्जन्मन्यपि कर्मबन्धाय भवति, ततो विरतिवनिताऽऽलिङ्गनोत्सुकैस्ते सर्वेऽपि व्युत्सृष्टव्याः, पुनर्ये पदार्थास्स्वप्नेऽप्युपभोगादिषु नोपयुज्यन्ते तेषामप्राप्यार्थानां यावन्नपरित्यागस्तावदवश्यमनयाऽप्रत्याख्यानक्रियया कर्म्मबन्धः, ततो मुक्त्यभिलाषुकैर्विरतैर्भव्यैर्भाव्यम् । एषा अप्रत्याख्या-

नक्रिया अविरतिजन्यत्त्वाच्चतुर्थगुणपर्यन्तवार्त्तिनी ॥ १० ॥ दृष्टिजा द्विविधा, जीवदृष्टिजा अजीवदृष्टिजा च, जीवदृष्टिजा तुरङ्गस्यन्दनप्रभृतीनां चक्षुर्दर्शनप्रत्ययाय गच्छति, अजीवदृष्टिजा चित्रकर्म्मादीनाम्, एषा सकषायचक्षुरिन्द्रियवतां विद्यते दशमगुणस्थानं यावत् ॥ ११ ॥ स्पर्शनाऽऽत्मिका स्पृष्टिजा—सा च द्विविधा जीवस्पृष्टिजा अजीवस्पृष्टिजा च, तत्र जीवस्पृष्टिजा स्त्रियं पुरुषं नपुंसकं वा रागात्संघट्टयतीति, अजीवस्पृष्टिजा मृगलोमादिवस्त्रजातं मौक्तिकादिरत्नजातं रागादिकारणात्संघट्टयतीति, सरागजन्यत्त्वादेषा सूक्ष्मसम्परायं यावत् ॥ १२ ॥ कश्चिदन्यं प्रतीत्य कर्म्मबन्धो जायते यया सा प्रातीत्यकी द्विधा—जीवप्रातीत्यकी अजीवप्रातीत्यकी च, तत्र जीवं प्रतीत्य यो बन्धः सा जीवप्रातीत्यकी, अजीवं प्रतीत्य यो बन्धः साऽजीवप्रातीत्यकी, एषा दशमं गुणस्थानं यावत् ॥ १३ ॥ सामन्तोपनिपातिकी च द्विविधा, जीवसामन्तोपनिपातिकी अजीवसामन्तोपनिपातिकी च, तत्राऽऽद्या यथा एकश्च षण्डस्तं जनो यथा यथा प्रलोकते प्रशंसति च तथा तथा स हर्षं गच्छति, अजीवानपि रथकर्म्मादीन्, अथवा सामन्तोपनिपातिकी द्विधा—देशसामन्तोपनिपातिकी सर्वसामन्तोपनिपातिकी च, अथवा प्रमत्तसंयतानामन्नपानं अनाच्छादितं सत्संपातिमाः सत्त्वा आसमन्ताद् विनश्यन्ते। एषा आरम्भजन्यत्त्वात्पञ्चमगुणस्थानं यावत् ॥ १४ ॥ नैःशस्त्रिकी क्रिया द्विविधा जीवनैःशस्त्रिकी अजीवनैःशस्त्रिकी च, जीवनैःशस्त्रिकी यथा राजादिसंदेशाद्यन्त्रादिभिरुदकस्य कूपाद्बहिर्निसर्जनम्,

१ अथवा पृष्टिजा सा द्विविधा—जीवप्राश्निकी अजीवप्राश्निकीच, जीवप्राश्निकी या जीवाधिकार पृच्छति रागेण वा द्वेषेण वा, अजीवाधिकारं वा पृच्छत्यजीवप्राश्निकी ॥

२ नानाविधनाट्या(सीनेमा)ख्यप्रयोगेषु एषा सामन्तोपनिपातिकी क्रिया प्रेक्षकाणां नाट्यादिकर्त्तृणां च जायते ॥

अजीवनैःशस्त्रिकी यथा पाषाणकाण्डादीनि गोफणधनुरादिभिर्निसृज्यन्ते, अथवा गुर्वादीनामेषा एवं;—शिष्ये पुत्रे वा योग्ये सत्यपि तस्य निसर्जनं सा जीवनैःशस्त्रिकी, भिक्षायामेषणीयायां सत्यामपि तस्याः परिष्ठापनं साऽजीवनैःशस्त्रिकी, एषा देशविरतं यावत् ॥ १५ ॥ स्वाहस्तिकी क्रिया द्विविधा जीवस्वाहस्तिकी अजीवस्वाहस्तिकी च, तत्र जीवस्वाहस्तिकी यज्जीवेन (सर्पादिना) जीवं मारयति, अजीवस्वाहस्तिकी यथाऽस्यादिभिर्जीवं मारयति, अथवा जीवस्वाहस्तिकी यज्जीवं स्वहस्तेन ताडयति, अजीवस्वाहस्तिकी अजीवं स्वहस्तेन ताडयति वस्त्रं पात्रं वा । एषा पञ्चमगुणस्थानकं यावत् ॥ १६ ॥ आज्ञापनिकी क्रिया द्विविधा;—जीवाज्ञापनिकी अजीवाऽऽज्ञापनिकी च, तत्राऽऽद्या—जीवमाज्ञापयतीति जीवाऽऽज्ञापनिकी, अजीवमाज्ञापयतीत्यजीवाज्ञापनिकी यथा जादूगराऽऽख्यानाम्, अथवा जीवाजीवभेदेनाप्यानयनिकी धा, तत्र जीवस्याऽऽनयने जीवाऽऽनयनिकी, अजीवस्याऽऽनयने अजीवाऽऽनयनिकी एषा पञ्चमगुणस्थानं यावत्, न चारित्रिणां विद्यते । १७ ॥ वैदारणिकी अपि जीवाजीवविषयत्वेन द्विप्रकारा, तत्र जीवं विदारयतीति जीवविदारणिकी, अजीवं विदारयतीत्यजीवविदारणिकी, अथवा जीवमजीवं वाऽऽभाषिकेषु विक्रीणाने द्वैभाषिके वा विदारयति, प्रप विधत्त इति भणितं भवति, अथवा जीवं विचारयति असद्भिर्गुणैरेवंविधस्तादृशस्त्वमिति, अजीवं वा विप्रतारणबुद्ध्या भणति, ईदृशमेतदिति, निष्कलंकेषु कलङ्कारोपणादिना क्लेशाश्चिन्मित्रस्थानीयानां गुह्यवार्ताप्रस्फोटनादिना वा, एषा क्रिया आश्रवरूपत्वादवश्यं कर्मबन्धविधात्री, बादरकषायोदयाख्यनवमगुणस्थानपर्यन्तवर्तिनी चेयम् ॥ १८ । अनाभोगप्रत्ययिकी क्रिया द्वेधा, अनाभोगाऽऽदानजा, अनाभोगनिक्षेपजा, तत्राऽनाभोगोऽज्ञानमनुपयोगित्वं वा, आदानं ग्रहणं, निक्षेपणं स्थापनं, तद्ग्रहणमनाभोगेन यस्यां सा अनाभोगाऽऽदानजा,

द्रव्याणां निक्षेपणमनाभोगेन यस्यां सा अनाभोगनिक्षेपजा, अथवाऽनाभोगक्रिया द्विविधा, आदाननिक्षेपानाभोगक्रिया, उत्क्रमणानाभोगक्रिया च, तत्राऽऽदाननिक्षेपानाभोगक्रिया रजोहरणेनाऽप्रमार्ज्य पात्रचीवरादीनामादानं निक्षेपं वा करोति, उत्क्रमणानाभोगक्रिया लङ्घनप्लवनधावनासमीक्ष्यगमनागमनादिका, एषा सकषायाणां ज्ञानावरणीयोदयजन्या, अतो दशमगुणस्थानं यावत् ॥ १९ ॥ अनवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी द्विधा, ऐहलौकिकानवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी, पारलौकिकानवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी च, तत्र प्रथमा लोकविरुद्धानि चौर्यादीनि करोति यैर्वधबन्धनानि इहैव प्राप्नोति, परलोकानवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी हिंसादीनि कर्म्माणि कुर्वन् परलोकं नावकाङ्क्षते, एषा बादरकषायोदयप्रत्यया नवमगुणस्थानकं यावद् वर्त्तिनी ॥ २० ॥ प्रयोगक्रिया त्रिविधा, तद्यथा;—मनःप्रयोगक्रिया, वाक्प्रयोगक्रिया, कायप्रयोगक्रिया च, तत्र मनःप्रयोगक्रिया आर्त्तरौद्रध्यायिनी अनियमितमनस्का इति, वाक्प्रयोगे वाग्योगो यस्तीर्थकरैः सावद्यादिर्गर्हितस्तं स्वेच्छया भाषते, कायप्रयोगक्रिया कायेन प्रमत्तस्य गमनाऽऽगमनाकुञ्चनप्रसारणादिचेष्टा कायस्य, एषा शुभाऽशुभसावद्ययोगवतां पञ्चमगुणस्थानपर्यन्तवर्त्तिनां भवति, नाग्रेतनगुणस्थानभाविनामिति ॥ २१ ॥ समग्रमुपादानं समुदानं, समुदायोऽष्टकर्म्माणि, तेषां ययोपादानं क्रियते सा समुदानक्रिया, सा च द्विधा प्रज्ञप्ता, देशोपघातसमुदानक्रिया, सर्वोपघातसमुदानक्रिया, तत्र देशोपघातेन समुदानक्रिया कश्चित् कस्यचिदिन्द्रियदेशोपघातं करोति, सर्वोपघातसमुदानक्रिया सर्वप्रकारेणेन्द्रियविनाशं करोति, एषा पञ्चमगुणस्थानकं यावद्विद्यते ॥ २२ ॥ प्रेमप्रत्ययिकी द्विविधा, मायानिश्रिता, लोभनिश्रिता च, अथवा तद्वचनमुदाहरति येन परस्य रागो भवति, एषा लोभोदयजन्यत्वाद्दशमगुणस्थानकं यावद्भाविनी । २३ ॥ द्वेषप्रत्ययिकी,

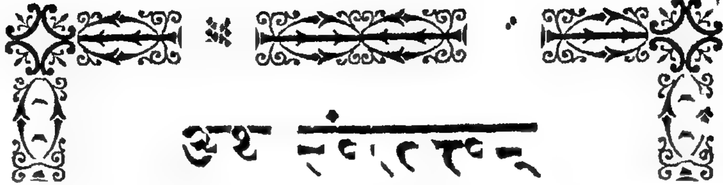
सा द्विविधा, क्रोधनैश्रिता माननैश्रिता च, क्रोधनैश्रिता आत्मना कुप्यति परस्य क्रोधं वोत्पादयति, -
नैश्रिता स्वयं माद्यति, परस्य वा मानमुत्पादयतेति, एषा नवमगुणस्थानकं यावद्वर्त्तते ।२४। ईर्यापथिकी क्रिया
द्विविधा–क्रियमाणा वेद्यमाना च, तत्राऽप्रमत्तसंयतस्य वीतरागच्छद्मस्थस्य केवलिनो वाऽऽयुक्तं गच्छत आयुक्तं तिष्ठत आयुक्तं
निषीदत आयुक्तं त्वग्वर्त्तयत आयुक्तं भुञ्जानस्याऽऽयुक्तं भाषमाणस्याऽऽयुक्तं पात्रं कम्बलं पादप्रोञ्छनं च गृह्णतो निक्षिपतो
वा यावच्चक्षुःपक्ष्मनिपातमपि कुर्वतो या सूक्ष्मा क्रिया क्रियमाणा ईर्यापथिकी, या च प्रथमे समये बद्धा स्पृष्टा द्वितीय-
समये वेद्यमाना सा द्वितीया, योगप्रत्ययत्वादेषा सयोगिगुणस्थानं यावद् ।२५॥ एताः पञ्चविंशतिक्रियाः । नन्वाश्रवाणां
द्विचत्वारिंशदात्मिका संख्या प्रोक्ता, सा कथं घटते ? यतः केषाञ्चिद् द्वाराणां परस्परमनुप्रवेशः प्रत्यक्षमेव दृग्गोचरे भवति,
यथेन्द्रियमध्ये चक्षुःस्पर्शनेन्द्रिये दृष्टिस्पृष्टिक्रिययोरन्तर्भवतः, तद्व्यतिरेकेण चक्षुःस्पर्शनयोर्वेद्यमानयोरपि आश्रवत्वाऽयोगात्।
कषायचतुष्टयं तु प्रेमप्रत्ययद्वेषप्रत्ययक्रिययोरन्तर्भवति, मायालोभकषायद्वयस्य प्रेमत्वात्, क्रोधमानयोश्च द्वेषत्वादिति, तथाऽव्र-
तपञ्चकस्यापि सामान्यरूपतयाऽप्रत्याख्यानक्रियायामन्तर्भावः, विशेषरूपतया त्वाद्याऽव्रतस्य प्राणातिपातक्रियायाम्, पञ्चमस्य च
परिग्रहक्रियायामनुप्रवेशः, क्रियाणां चैतासां यथोक्तपदेष्वनुप्रवेशः। एवं क्रियाणामपि परस्परानुप्रवेशो वक्तव्यः। तथा योगत्र-
यस्यापि मध्ये कायिक्यां क्रियायां काययोगस्य, प्रयोगक्रियायां शेषद्वयस्येति, एवं द्विचत्वारिंशत्संख्या विघटते, किमत्र प्रति-
विधानं ? उच्यते, एवं परस्परान्तर्भावसम्भवेऽपि विशेषणार्थभेदनानात्वाऽपेक्षया शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थमाश्रवभेदानां परस्पराऽसं-
कीर्णत्वं परिभावनीयं, तथाहि–यदुक्तं चक्षुःस्पर्शनेन्द्रिययोर्दृष्टिस्पृष्टिक्रियाऽन्तर्भावः, तत्र चक्षुःस्पर्शनयोरिन्द्रियत्वकृते ये

विशेषः स न दृष्टिस्पृष्टिक्रियाभ्यां गम्यते, नाऽपि दृष्टिस्पृष्टिक्रियाकृतो विशेषश्चक्षुःस्पर्शनेन्द्रियाभ्यां प्रतीयत इति विशेषप्रतिपत्त्यर्थं भेदानामभिधानमेवमन्यत्राऽपि भावना कार्येति ॥ इत्याश्रवतत्त्वम् ॥

आश्रवभेदानुक्त्वा मयोपलब्धेन शुभेन शस्तेन । पिहिताश्रवद्वारोऽस्तु निराश्रवो जन्तुसङ्घातः ॥ १ ॥

इत्याराध्यपादाऽऽचार्यवर्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरविनेयावतंसोपाध्यायपदालङ्कृतश्रीमत्प्रतापविजयगणिचरणाब्जचञ्चरीकप्रवर्त्तकश्रीधर्मविजयविरचितायां श्रीनवतत्त्वप्रकरणस्य सुमङ्गलाटीकायां पंचमं आश्रवतत्त्वं समाप्तम् ॥





अथ संवरतत्त्वम्



श्रेयःश्रीसदनं क्षयोपशमजं कल्याणवल्लीघनं संवेग खाऽऽख्यलक्षणभरं मूलं ां परम् ।
ैक्षाऽवाप्तिरपार्धपुद्गलपरावर्त्ताऽऽख्यकालेन च । यस्मात्तं दधतां सुदर्शनवरं भव्या गुणाऽऽलिङ्गितम् १।

इदानीमाश्रवप्रतिपक्षभूतं क्रमाऽऽयातं संवरतत्त्वं विवरिषुः सूत्रं गाथाऽऽत्मकं मूलोत्तरभेदप्रतिपादकं ग्रथ्नाति;—

समिईगुत्तिपरिसह-जइधम्मो भावणा चरित्ताणि पणतिदुवीसदसबार-पंचभेएहिं सगवन्ना २५

टीका:—ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गरूपाः प समितयः, पापव्यापारेभ्यो मनोवाक्कायगोपनान्मनोवाक्कायगुप्तयः, मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या वक्ष्यमाणा द्वाविंशतिः परीषहाः, क्षान्त्यादिके दशविधे यतिधर्म्मः, अनित्याऽऽद्या द्वादशभावनाः, सामायिकाद्यानि पञ्चप्रकाराणि चारित्राणीत्येते क्रमशः प –त्रि–द्वाविंशति–दश–द्वादश–पञ्चभेदैः सप्तपञ्चाशत् संवरस्य भेदा भवन्तीति गाथाऽक्षरार्थः । व्यासाऽर्थस्त्वयम्;—अनेकनरनारीपुत्रकलत्रपरिवारसंपत्समलंकृतसप्तभूमिकहर्म्यालि-

परिकलिते विपुलधनधान्यक्रयाणकप्रभृतिव्यापारशतसंकुले कस्मिँश्चिन्महानगरे गच्छदागच्छदनेकशकटघोटकपादसंघट्टनोत्थितपांशुपांशुलचतुष्पथवर्त्यनावृतविवेधवातायनवेश्मान्तः प्रविशति यथा रजःपुञ्जः, पिहितेषु च द्वारेषु प्रासादस्यान्तर्धूलिप्रकरेण न प्रविश्यते, सम्मार्जनशुद्धाऽपगतरजस्त्वात् प्रासादेन च शुद्धेन भूयते, यथा वा स्थगितसर्वद्वारत्वान् निरुद्धनिरप्रवेशे कस्मिँश्चिन्महासरसि पानीयं निदाघाऽर्कप्रचण्डांऽशुभिः शुष्यते, यथा वा नानाविधच्छिद्रशतसंकुलप्रवहणं छिद्रप्रविष्टोदकपूरपूरितं निमज्जत्यन्तर्महोदधौ न च पारयितुं शक्यते प्रवहणोपविष्टजनपरिकरं, यदा च संरुद्धच्छिद्रत्वान्निश्छिद्रं भवति यानपात्रं तदाऽनुकूले मरुति पारावारं पारयति निजाऽवगाहाऽवगाढनरनारीनिकरं स्वयमपि सुखेन संतरति, तथा यावत्कालमयं जीवो मिथ्यात्वाऽविरतिप्रभृत्याश्रवच्छिद्रसंकुलत्वात् प्रतिसमयं समावर्जितकर्म्मसलिलभारभरितो न तावत्कालं संसारपाथोधिमुल्लङ्घयितुं समर्थो भवति, यदा च निराश्रवत्वेन संरुद्धकर्म्मनीरो भवत्ययं जीवः प्रागुपात्तं च कर्म्माम्भः तपःप्रभृतिना निर्जीर्यते तदाऽऽश्रवद्वाराणां संवृतत्वान्नूतनकर्म्मोदकाऽनागमेन प्रागुपार्जितस्य च तपःकृशानुना प्रतिक्षणं दंदह्यमानत्वात् प्रान्ते निष्कर्म्माऽयमात्मा सिद्धशिलायामच्छस्फटिकाऽऽत्मिकायामक्षय्यसुखभाग् भवति, तस्माद्भवार्णवं तितीर्षुणा भव्यसंदोहेन प्रत्यहं संवृतेन भवितव्यम्, यावान् संवरस्तावान् कर्मागमस्य रोधः, यावान् रोधस्तावन्मुक्तेस्सामीप्यम् ॥ उक्तञ्च;—

"यथा चतुष्पथस्थस्य बहुद्वारस्य वेश्मनः। अनावृतेषु द्वारेषु रजः प्रविशति ध्रुवम् ॥ १ ॥ प्रविष्टं स्नेहयोगाच्च तन्मयत्वेन बध्यते। न विशेन्न च बध्येत द्वारेषु स्थगितेषु तु ॥ २ ॥ यथा वा सरसि क्वापि, सर्वैर्द्वारैर्विशेज्जलम्। कृते रन्ध्रपिधाने न स्तोकमपि तद्विशेत् ॥ ३ ॥ योगादिष्वाश्रवद्वारेष्वेवं रुद्धेषु सर्वतः कर्म्मद्रव्यप्रवेशो न जीवे संवरशालिनि ॥ ४ ॥

ननु संवर इति कः पदार्थः ? उच्यते;—यैस्संसारबीजभूतं कर्म्माष्टकमास्रूयते समादीयते तेषां कर्म्मप्रदेशश्लेष्यात्मकानां शुभाशुभलक्षणयोगेन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाणां त्रिपञ्चचतुःपञ्चविंशतिभेदस्वरूपाणां प्राक्प्रपञ्चितानामाश्रवाणां यो निरोधो निवारणं स्थगनं स संवरः, उक्तञ्च श्रीमदर्हत्प्रवचनसंग्रहे तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे 'आश्रवनिरोधः संवरः' (अ० ९ सू. १) स च सर्वदेशभेदाद् द्विविधः, यदा योगादिनिखिलानामाश्रवाणां निरोधस्तदाऽयोग्यवस्थायां सर्वसंवरः शेषकाले चरणप्रतिपत्तेरारभ्य देशसंवरपरिणतिभागात्मा भवति, तद्यथा—यदाऽऽत्मा करणत्रिकपूर्वकं सम्यग्दर्शनं संप्राप्नोति तदा चतुर्थगुणस्थानकादारभ्याऽग्रेतनेषु गुणस्थानकेषु मिथ्यात्वस्योदयापेक्षयाऽभावात् न मिथ्यात्वनिमित्तः कर्म्मबन्धः, तन् मिथ्यात्वप्रतिपक्षभूतसम्यग्दर्शनाऽपेक्षः एकदेशीयः संवर। यदा च चरणप्रतिपत्तिभागात्मा भवति तदा तस्य विरतत्वादविरतिहेतुककर्म्मागमनिरोधेन द्विहेतुको देशसंवरः। यदा प्रमादत्यागेनाऽप्रमत्तो जायत आत्मा तदाऽप्रमत्तगुणस्थानकादारभ्य सम्यग्दर्शनसंयमाऽप्रमत्ततालक्षणस्त्रिहेतुको देशसंवरः। यदा च क्षपकश्रेण्यन्तर्गताऽऽत्मा सूक्ष्मसंपरायाऽवस्थायां कषायमोहं समूलकाषं निहत्य क्षीणमोहस्थानमवाप्नोति, अथवोपशमश्रेण्यन्तर्गतोऽयं जीवोऽनिवृत्तिबादरादौ चारित्रमोहमुपशमय्य प्रशान्तमोहगुणस्थानकादौ चतुर्हेतुको देशसंवरः, यदा च सयोग्यन्ताऽवस्थायां सूक्ष्मबादरान् त्रिविधान् योगान्निरुध्य अयोग्यवस्थां गच्छत्ययं जीवस्तदा निःशेषाणामप्याश्रवाणां निरोधात् सम्यक्त्वविरतिप्रमादाऽभावत्वनिष्कषायित्वाऽयोगित्वलक्षणः पञ्चहेतुकस्सर्वसंवरः। तथाचोक्तं;—गुणस्थानेषु यो यः स्यात् संवरः स स उच्यते मिथ्यात्वाऽनुदयादुत्तरेषु मिथ्यात्वसंवरः ।१॥ तथा देशविरत्यादौ स्यादविरति संवरः अप्रमत्तसंयतादौ प्रमादसंवरो मतः ।२॥ प्रशान्तक्षीणमोहादौ भवेद्

कषायसंवरः । अयोगाऽऽख्यकेवलिनि सम्पूर्णो योगसंवरः ॥ ३ ॥

अत्राऽऽह, यदि 'आश्रवनिरोधस्संवर' इत्युक्तं परं केनोपायेनेन्द्रियकषायाऽव्रतयोगक्रियालक्षणानामाश्रवाणामुक्तस्वरूपाणां निरोधः कर्त्तव्यः? उच्यते, तत्तदाश्रवप्रतिपक्षाऽऽसेवनेन संवरस्संजायते, उक्तञ्च—"येन येन ह्युपायेन रुध्यते यो य आश्रवः तस्य तस्य निरोधाय स स योज्यो मनीषिभिः" ॥ १ ॥ तच्चैवम्;—इन्द्रियोन्मादेन कृतोत्सेकान् आपातरम्यत्वेन परिणामदारुणत्वेन च विषसन्निभान् विषयानिन्द्रियजयलक्षणेनाऽखण्डेन संयमेन निराकुर्यात् । क्रोधं प्रतिपक्षभूतया क्षमया, मानं मृदुभावेन, मायां ऋजुत्वेन, लोभं संतोषाऽऽत्मिकयाऽनीहया संवरार्थं कृतोद्यम आत्मा निराकुर्यात् । सावद्ययोगानां त्यागेनाऽव्रतलक्षणामविरतिं प्रतिकुर्यात्, मनोवाक्कायरक्षणलक्षणाभिस्तिसृभिर्गुप्तिभिर्मनोवाक्कायव्यापारलक्षणान् योगान् संवृणुयात्, मद्यविषयकषायनिद्राविकथालक्षणं पञ्चविधमथवाऽज्ञानसंशयविपर्ययरागद्वेषस्मृतिभ्रंशधर्म्मानादरयोगदुष्प्रणिधानरूपतयाऽष्टविधं प्रमादं तत्प्रतिपक्षभूतेनाऽप्रमादेन साधयेत् । संवरनिमित्तं प्रयत्नवानात्मा संसारसिन्धुमुत्तितीर्षुर्मुमुक्षुस्सन् सद्दर्शनेन मिथ्यादर्शनं, चेतसः स्थैर्यलक्षणेन धर्म्मशुक्लध्यानेनाऽऽर्त्तरौद्रध्यानं विजयेत । यदवादिषत विचारचतुर्मुखपरनारीसहोदरकुमारपालक्ष्मापालप्रतिबोधककलिकालसर्वज्ञभगवद्धेमचन्द्रसूरिपादा योगशास्त्रे;—'क्षमया मृदुभावेन ऋजुत्वेनाऽप्यनीहया । क्रोधं मानं तथा मायां लोभं रुन्ध्याद् यथाक्रमम् ॥ १ ॥ असंयमकृतोत्सेकान् विषयान् विषसंनिभान् । निराकुर्यादखण्डेन संयमेन महामतिः ॥ २ ॥ तिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान् प्रमादं चाऽप्रमादतः । सावद्ययोगहानेनाऽविरतिं चाऽपि साधयेत् ॥ ३ ॥ सद्दर्शनेन मिथ्यात्वं शुभस्थैर्येण चेतसः । विजयेतार्त्तरौद्रे च संवरार्थं कृतोद्यमः ॥ ४ ॥ अयं संवरश्च पुनर्द्रव्यभावभेदाभ्यां द्विविधः, कर्म्मपुद्गला-

नामाश्रवद्वारेणाऽऽदानं तस्य यच्छेदः स द्रव्याणां संवरत्वाद्द्रव्यसंवरः, आत्मव्यापारलक्षणानां संसारकारणभूतानां क्रियाणां यस्त्यागः स भावसंवरः। नन्वाश्रवस्य द्विचत्वारिंशद्भेदाः प्रज्ञापिताः, संवरस्य सप्तपञ्चाशद्भेदाः प्रतिपाद्यन्ते, तत्कथं सम्यग् जाघटीति, यत उच्यते 'आश्रवनिरोधस्संवरः' आश्रवश्च च्छिद्राऽऽत्मकः, संवरश्च स्थगनलक्षणः, यावन्ति च्छिद्राणि तावन्त्येव स्थगनानि, ततो द्वयोरप्याश्रवसंवरयोस्तुल्यभेदैर्भवितव्यम्, सत्यम्, संवरस्य ये सप्तपञ्चाशद्भेदाः प्ररूपितास्तत्रग्रन्थकर्त्तुराचार्यस्य विवक्षैव कारणम्, कतिचिद्भेदानां तत्र तत्राऽन्तर्भावात्।

अत्राह–यदि सकलाश्रवद्वारस्थगनलक्षणः संवरस्ततः सर्वकर्म्मनिमित्ताश्रवच्छिद्रसंवुवूर्षा कतिपयपुरुषसाध्यैव प्रसजति, अशेषस्य परिस्पंदस्य निराचिकीर्षत्वादतः समचतुरस्रसंस्थान–वज्रर्षभनाराचसंहननादिभाजामाहितपराक्रमाणां कर्म्माणि निर्जिजीर्षतां परिपूर्णशक्तिकानां परिस्पंदस्वभावयोगत्रयनिग्रहः प्रागुपचितकर्म्मक्षयश्च शक्तिसाध्यः, न पुनरैदंयुगीनपुरुषाणां यथोक्तसंवराभावादिति, उच्यते, संवरद्वैविध्ये सति सर्वसंवराऽभावस्सांप्रतिकानां, देशसंवरस्तु सामायिकादिचारित्रवतामपि, सत्यपि परिस्पंदवत्त्वे विदिततत्त्वानां संसारजलधेरुत्तरितुमभिवाञ्छतां तेषां प्रधानसंवराऽभावेऽपि न्यस्तसमस्तप्रमादस्थानानां देशसंवरस्समस्त्येवेति। यद्यस्मिन् भवे देशसंवरसमाराधनं स्यात्तदाऽमुत्रसर्वसंवराराधनमवश्यमुदयमेष्यति, कर्म्मक्षयेण महानन्दपदवीप्राप्तिरपि भाविनी, यः कश्चिद्देवानांप्रियो रागद्वेषान्तरारिनिषूदकपारगतप्रवचनविध्वंसको वावदूकाधुनिक एवं जल्पेत 'यन्नास्ति सामायिकादिचारित्रमस्मिन् करालकलिकाले दुःषमाभिधाने; ये केचन सर्वविरतिं स्वीकुर्वन्ति न च ते सम्यग्पालयितुं शक्नुवन्ति, केचिच्च शिष्यमोहमुग्धाः स्नेहवशाद्युदन्तमपि पितृकलत्रप्रभृतिस्वजनादिकमनादृत्य बालानपि मूढमतेन प्रव्राजयन्ति, बालाश्च

संयमप्रतिपत्तौ किं जानीरन्, कथं च क्रीडाप्रमत्ताःसन्तस्ते षट्कायान् संरक्षेयुः' तन्निरवशेषमपि तेषां प्रलपितं मिथ्यात्वमूढचेतस्कत्वादज्ञानविजृम्भितम्, पूर्वर्षिप्रणीतपञ्चसूत्र-जिनप्रवचनोपनिषद्धे देहरिभद्रसूरिपुंगवप्रणीत-पञ्चवस्तुकपञ्चाशकाष्टकप्रकरणादिमहाग्रन्थेषु तथा तथा सम्यग् प्रतिपादनात्, युक्तियुक्तत्वाच्च, जिज्ञासुभिस्तत्रतो विलोकनीयम्, विस्तरभयादत्र न प्रपञ्च्यते, देशसंयमेन च कश्च लाभस्संजायते तदर्हत्प्रवचनसंग्राहकश्रीमदुमास्वातिप्रकाण्डप्रणीततत्त्वार्थभाष्योक्तान्तिमाऽऽलापकेन सम्यक्परिभावनीयं मुमुक्षुभिर्भव्याऽऽत्मभिः । तद्यथा;–' यस्त्विदानीं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणसंपन्नो भिक्षुर्मोक्षाय घटमानः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तिः कर्म्मणां चाऽतिगुरुत्वादकृतार्थ एवोपरमति स सौधर्म्मादीनां सर्वार्थसिद्धान्तानां कल्पविमानविशेषाणामन्यतमे देवतयोपपद्यते, तत्र स्वकृतकर्म्मफलमनुभूय स्थितिक्षयात्प्रच्युतो देशजातिकुलशीलविद्याविनयविभवविषयविस्तरविभूतियुक्तेषु मनुष्येषु प्रत्यायातिमवाप्य पुनः सम्यग्दर्शनादिविशुद्धबोधिमवाऽऽप्नोति, अनेन सुखपरम्परायुक्तेन कुशलाऽभ्यासाऽनुबन्धक्रमेण परं त्रिर्जनित्वा सिध्यतीति' तत्त्वार्थभाष्यम् अ०-१० । अनेनैतन्निश्चीयते यत्सम्यग्दृष्टिनाऽऽत्महिताऽऽकाङ्क्षिणा मुमुक्षुणा सर्वदा ससंवरेणैव भवितव्यमित्यलं प्रसङ्गेन, अथ प्रकृतमनुसरामः । ' समिई ' इत्यादिगाथार्थस्तु व्याख्यातस्सुगमश्चेति ॥ २५ ॥

अथेर्यासमित्यादिस्वरूपञ्च विवक्षुराचार्यो गाथां निबध्नाति;—

इरिया भासेसणादाणे, उच्चारे समिईसु अ मणगुत्ति वयगुत्ती, कायगुत्ती तहेव य २६

टीका—' इरिया ' इत्यादि–' द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं सम्बध्यत ' इति न्यायेनेर्यादिपदैस्सह समितिपदं योज्यम्,

तद्यथा–ईर्यासमितिः, भाषा[2]समितिः, एषणा[3]समितिः, ' पदैकदेशात्पदसमुदायस्याऽपि ग्रहणम् ' इत्यथवा ' भीमो भीमसेन ' इति न्यायेन गाथान्तर्वर्त्यादानशब्देन आदाननिक्षेपणासमितिर्ग्राह्या, उत्सर्गसमितिः, तथा मनोगुप्तिर्वचनगुप्ति[2]: कायगुप्ति[3]रित्यष्टौ प्रवचनमातर इति गाथार्थः, ॥ व्यासाऽर्थस्त्वयम् ;—तत्र संपूर्वस्य ' इण् ' गतावित्यस्य क्तिन्प्रत्ययाऽन्तस्य समितिर्भवति, सम् एकीभावेनेतिः समितिः, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टा इत्यर्थः, ईर्यायां समितिरीर्यासमितिः, रथशकटयानवाहनाऽऽक्रान्तेषु मार्गेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु पथिषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनाऽऽगमनं कर्त्तव्यमित्यर्थः, उक्तं चागमे;–" पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महीं चरे। वज्जंतो बीयहरियाइं पाणे य दगमट्टियं। १ ॥ ओवायं विसमं खाणुं विजलं परिवज्जए। संकमेण न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे " ॥ २ ।

अथवाऽऽगमाऽनुसारिणी गतिरीर्यासमितिः, अयमर्थः;–त्रसस्थावरजन्तुजाताऽभयदानदीक्षितस्याऽऽवश्यके प्रयोजने गच्छतो मुनेर्जन्तुरक्षानिमित्तं स्वशरीररक्षानिमित्तं च पादाऽग्रादारभ्य युगमात्रक्षेत्रं यावन्निरीक्ष्य ईरणमीर्या गतिस्तस्यां समितिः शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टा ईर्यासमितिः, तथाचोक्तं योगशास्त्रे;–' लोकाऽतिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः। जन्तुरक्षाऽर्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम् '। १ ॥ एवंविधोपयोगवतो व्रजतो मुनेः कथञ्चित्प्राणिवधेऽपि प्राणिवधपापं न भवति,

---

१ पुरतो युगमात्रया प्रेक्षमाणो मही चरेत्। वर्जयन् बीजहरितानि प्राणान् च दकमृत्तिकान् ॥ १ ॥

२ अवपातं विषमं स्थाणुं विजलं परिवर्जयेत्। संक्रमेण न गच्छेत् वेद्यमाने पराक्रमे ॥ २ ॥

यदाह—"उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए। वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज॥ १ ॥ न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिओ समए। अणवज्जो उवओगेण सव्वभावेण सो जम्हा॥ २ । तथा–जिअदु व मरदु व जीवो अजदाचारस्स निच्छओ हिंसा। पयदस्स णत्थिबंधो हिंसामित्तेण समिदस्स" ॥ ३ ॥ ईर्यासमित्यामुदाहरणं यथाः–एकः साधुरीर्यासमित्या युक्तः, तस्य प्रभावात् शक्रस्यासनं चलितं, शक्रकृतां प्रशंसां सोढुमसमर्थः कश्चिन्मिथ्यादृष्टिदेवस्तत्रागत्य तं साधुमुपद्रोतुं परितो मण्डूकिका विकुरुते, पृष्ठतश्च हस्तिनं विकुरुते, तथापि स साधुर्गतें न भिनत्ति, हस्तिनोत्क्षिप्य पातितोऽपि शरीरमस्पृहयमाणः स्वपातजन्यमण्डूकिकाविराधनार्थं पश्चात्तापं विधत्त इति ॥

अथ भाषासमितिः;–हितमिताऽसंदिग्धाऽनवद्यार्थनियतभाषणं भाषासमितिः, आत्मने परस्मै च हितमायत्यामुपकारकं स्वल्पमपि बहुप्रयोजनसाधकमर्थवर्णप्रतिपत्तौ न संदेहकारि वाक्यशुद्ध्यध्ययनप्रतिपादितधूर्तकामुककव्यादचौरचार्वाकादिभाषितलक्षणदोषवर्जितं मुखवसनाच्छादिताऽऽस्यस्य यद् भाषणं सा भाषासमितिरित्यर्थः ॥ आह च;–त्यक्ताऽनृतादिदोषं सत्यमसत्याऽनृतं च निरवद्यम्। सूत्रानुयायि वदतो भाषासमितिर्भवति साधोः ।१॥ कलिकालसर्वज्ञैरपि प्रत्यपादि–अवद्यत्यागतः सर्वजनीनं मितभापणं। प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते ॥ १ ॥ तथा च सिद्धान्ते;–महुरं निउणं थोवं

१ उच्चालिते पादे ईर्यासमितस्य संक्रमार्थम्। व्यापद्येत कुलिङ्गी म्रियेत तं योगमासाद्य ॥ १ ॥ न च तस्य तन्निमित्तो बंधः सूक्ष्मोऽपि दर्शितस्समये। अनवद्य उपयोगेन सर्वभावेन स यस्मात् ॥ २ ॥ जीवतु वा म्रियतां वा जीवोऽसदाचारस्य निश्चयतो हिंसा। प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ॥ ३ ॥

कज्ञावडियं अगव्वियमतुच्छं । पुव्विं मइसंकलियं भणंति जं धम्मसंजुत्तं ॥ १ । जाय सच्चा न वत्तव्वा सच्चा मोसा य जा मुसा । जाय बुद्धेहिं णाइण्णा ण तं भासेज्ज पन्नवं ॥ १ ॥ भाषासमित्यां दृष्टान्तः—कश्चिन्निर्ग्रन्थः साधुः भिक्षार्थं नगररोधे सति बहिः कटके हिण्डमानः केनचित् ः, "कियन्तोऽश्वा हस्तिनस्तथा निचये दारुधान्यादीनाम् ? निर्विण्णा अनिर्विण्णा नागरिका इति ? इदं ब्रूत यूयम्, स मितः स आह—स्वाध्यायध्यानयोगव्याक्षिप्ता वयमिति न जानीमः, पुनः पृष्टः, हिण्डमाना नैव प्रेक्षध्वम् ? नैव श्रुणुथ कथं ? तदा ब्रवीति—" बहु सुणेइ कन्नेहिं, बहु अच्छीहिं पिच्छइ न य दिट्ठं सुयं भिक्खू अक्खाउमरिहई " ॥ १ ॥

अथैषणासमितिः—एषणासमितिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपयुक्तेन नवकोटिपरिशुद्धं ग्राह्यम्, अथवा अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणासमितिः, अन्नमशनखाद्यस्वाद्यभेदं, पानमारनालतन्दुलक्षालनादि, तथा रजोहरणमुखवसनचोलपट्टकादिचीवरपात्रप्रमुखः स्थविरकल्पयोग्यश्चतुर्दशविधो जिनकल्पकयोग्यश्च द्वादशविधः औघिक उपधिः, आर्यिकायोग्यश्च पञ्चविंशतिविधोऽप्युपधिरुद्गमादिदोषरहितः साक्षात् पारम्पर्येण वा श्रुतचरणधर्म्मसाधकत्वेन ः, नहि औघिकरजोहरणाद्यन्तरेण औपग्रहिकपीठफलकाद्यन्तरेण च वर्षासु हेमन्तग्रीष्मयोरपि जलकणिकाकूलायामनूपभूमौ महाव्रतसंरक्षणं कर्त्तुं शक्यम्, नहि पात्राद्यन्तरेण च महाव्रतसंरक्षणं कर्त्तुं क्षमम् आश्रयः शय्या वसतिरिति पर्यायाः, सापि उद्गमादिदोषरहितैव परिभोग्या, उक्त ः—" उत्पादनोद्गमैषण—धूमाङ्गारप्रमाणकारणतः संयोज पिंडं शोधयतामेषणासमितिः " ॥ १ ॥ तत्र षोडशाऽऽधाकर्म्मादय उद्गमदोषाः, षोडशैव धात्र्यादय उत्पादनादोषाः,

दशैषणादोषाः शङ्कितादयः ॥ एते च संक्षेपतो लेख्यन्ते;—आधाय विकल्प्य यतिं मनसि कृत्वा सचित्तस्याऽचित्तीकरणमचित्तस्य वा पाको नेरुक्तादाधाकर्म्म ॥ १ ॥ उद्देशः साध्वर्थं संकल्पः स प्रयोजनमस्य औद्देशिकं यत्पूर्वकृतमोदनमोदकक्षोदादि तत्साधूद्देशेन दध्यादिना गुडपाकेन च संस्कुर्वतो भवति ॥ २ ॥ आधाकर्म्मिकावयवसंमिश्रं शुद्धमपि यत्तत्पूतिकर्म्म शुचिद्रव्यमिवाऽशुचिद्रव्यमिश्रितम् ॥ ३ ॥ यदात्मार्थं साध्वर्थं चादित एव मिश्रं पच्यते तन्मिश्रम् ॥ ४ ॥ साधुयाचितस्य क्षीरादेः पृथक्कृत्य स्वभाजने स्थापनं स्थापना ॥ ५ ॥ कालान्तरे भाविनि विवाहादेरिदानीं सन्निहिताः साधवः सन्ति तेषामप्युपयोगे भवत्विति बुद्ध्या इदानीमेव करणं समयपरिभाषया प्राभृतिका, सन्निकृष्टस्य विवाहादेः कालान्तरे साधुसमागमनं सञ्चिन्त्योत्कर्षणं (विलम्बेन करणं) वा ॥ ६ ॥ यदन्धकारव्यवस्थितस्य द्रव्यस्य वह्निप्रदीपमण्यादिना भित्त्यपनयनेन वा बहिर्निष्कास्य द्रव्यधारणेन वा प्रगटकरणं तत्प्रादुष्करणम् । ७ । यत्साध्वर्थं मूल्येन क्रीयते तत्क्रीतम् । ८ । यत्साध्वर्थमन्नादि उद्धारके गृहीत्वा दीयते तत्प्रामित्यकम् । ९ । स्वद्रव्यमर्पयित्वा परद्रव्यं तत्सदृशं गृहीत्वा यद्दीयते तत्परिवर्तितम् । १० । गृहग्रामादेः साध्वर्थं यदानीतं तदभ्याहृतम् । ११ । कुतुपादिस्थस्य घृतादेर्दानार्थं यद् मृत्तिकाद्यपनयनं तदुद्भिन्नम् १२ । यदुपरिभूमिकातः शिक्यादेर्भूमिगृहाद्वा आकृष्य साधुभ्यो दानं तन्मालापहृतम् । १३ । यदाच्छिद्य परकीयं हठाद् गृहीत्वा स्वामी प्रभुश्चौरो वा ददाति तदाच्छेद्यम् । १४ । यद् गोष्ठभक्तादि सर्वैरदत्तमननुमतं वा एकः कश्चित् साधुभ्यो ददाति तदनिसृष्टम् । १५ । स्वार्थमधिश्रयणे सति साधुसमागमश्रवणात्तदर्थं पुनर्यो धान्यादिवापः सोऽध्यवपूरकः । १६ । एते षोडशोद्गमदोषा गृहस्थप्रभवाः ॥

अथ साधुप्रभवा उत्पादनादोषास्ते चाऽमी;—बालस्य क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडनाङ्कारोपणकर्म्मकारिण्यः पञ्च धात्र्यः, एतासां कर्म्म भिक्षार्थं कुर्व्वतो मुनेर्धात्रीपिण्डः १। मिथः सन्देशकथनं दूतीत्वं तत्कुर्व्वतो भिक्षार्थं दूतीपिण्डः २। अतीताऽनागतवर्त्तमानकालेषु लाभाऽलाभादिकथनं निमित्तं तद्भिक्षार्थं कुर्व्वतो निमित्तपिण्डः ३। जातिकुलगणकर्म्मशिल्पादिप्रधानेभ्य आत्मनस्तत्तद्गुणत्वाऽऽरोपणं भिक्षार्थमाजीवपिण्डः ४। श्रमणब्राह्मणक्षपणाऽतिथिश्वानादिभक्तानां पुरतः पिण्डार्थमात्मानं तत्तद्भक्तं दर्शयतो वनीपकपिण्डः ५। वमनविरेचनवस्तिकर्म्मादिकारयतो वैद्यभैषज्यादि सूचयतो वा पिण्डार्थं चिकित्सापिण्डः ६। विद्यातपःप्रभावज्ञापनं राजपूजादिख्यापनं क्रोधफलदर्शनं वा भिक्षार्थं कुर्व्वतः क्रोधपिण्डः ७। लब्धिप्रशंसोत्तानस्य परेणोत्साहितस्यावमतस्य वा गृहस्थाभिमानमुत्पादयतो मानपिण्डः ८। नानावेषभाषापरिवर्त्तनं भिक्षार्थं कुर्वतो मायापिण्डः ९। अतिलोभाद्भिक्षार्थं पर्यटतो लोभपिण्डः १०। पूर्वसंस्तवं जननीजनकादिद्वारेण पश्चात्संस्तवं श्वश्रूश्वशुरादिद्वारेणाऽऽत्मपरिचयाऽनुरूपं सम्बन्धं भिक्षार्थं घटयतः पूर्वपश्चात्संस्तवपिण्डः ११। विद्यां मन्त्रं चूर्णं योगं च भिक्षार्थं प्रयुञ्जानस्य चत्वारो विद्यादिपिण्डाः १२–१३–१४–१५। (मन्त्रजापहोमादिसाध्या स्त्रीदेवताऽधिष्ठाना वा विद्या, पाठमात्रप्रसिद्धः पुरुषाधिष्ठानो वा मन्त्रः, चूर्णानि नयनाञ्जनादीन्यन्तर्द्धानादिफलानि, पादप्रलेपादयः सौभाग्यदौर्भाग्यकरा योगाः।) गर्भस्तम्भगर्भाधानप्रसवस्नपनकमूलरक्षावन्धनादि भिक्षार्थं कुर्वतो मूलपिण्डः १६॥

गृहमेधिसाधूभयप्रभवा एषणादोषा दश, तद्यथा;—आधाकर्म्मिकादिशङ्काकलुषितो यदन्नाद्यादत्ते तच्छङ्कितं यं च दोषं शंकते तमापद्यते १। पृथिव्युदकवनस्पतिभिः सचित्तैरचित्तैरपि मध्वादिभिर्गर्हितैराश्लिष्टं यदन्नादि तन्म्रक्षितम् २। पृथि-

ष्वुदकतेजोवायुवनस्पतिषु त्रसेषु च यदन्नाद्यचित्तमपि स्थापितं तन्निक्षिप्तम् ३ । सचित्तेन फलादिना स्थगितं तत् पिहितं ४ । दानभाजनस्थयोग्यं सचित्तेषु पृथिव्यादेषु निक्षिप्य तेन भाजनेन ददतः संहृतम् ५ । बालवृद्धपण्डकवेपमानज्वरितान्धमत्तोन्मत्तच्छिन्नकरचरणनिगडितपादुकारूढकण्डकपेषकभर्जककर्तकलोठकवीखकपिञ्जकदलकव्यालोडकभोजकषट्कायविराधकादातृत्वेन प्रतिषिद्धाः, या च नवमं वेलामासवर्ति गृहीतबाला बालवत्सा वा साऽपि प्रतिषिद्धा, एभ्यो अन्नादि गृहीतुं साधोर्न कल्पते ६ । देयद्रव्यं खण्डादि सचित्तेन धान्यकणादिना मिश्रं ददत उन्मिश्रम् ७ । देयद्रव्यं मिश्रमचित्तत्वेनाऽपरिणमनादपरिणतम् ८ । वसादिना संसृष्टेन हस्तेन पात्रेण वा ददतोऽन्नादि लिप्तम् ९ । घृतादि च्छर्दयन् यद्ददाति तच्छर्दितं, छर्द्यमाने घृतादौ तत्रस्थस्याऽऽगन्तुकस्य वा सर्वस्य जन्तोर्मधुबिन्दूदाहरणेन विराधना सम्भवात् । १० ।

एषणायामुदाहरणम्;—यथा मागधेषु जनपदेषु नन्दीनामग्रामः, तत्रैको धिग्जातीयो गौतमाख्यश्चक्रकरः, तस्य च धारिणी भार्या, कदाचिच्च तस्या गर्भो जातः, पाण्मासिके च गर्भे धिग्जातीयो मृतः, गर्भकाले पूर्णे सा धिग्जातीया धारिणी पुत्रं प्रसूतवती, मातुलेन संवर्धनं कृतं कर्म्मकरणमपि शिक्षितम् । विवाहविचारणायां केनचित्कारणेन निर्वेणो नन्दिवर्धनाऽऽचार्याणां सकाशे निष्क्रान्तः, क्रमेण षष्ठाऽष्टक्षपको जातः इमं चाऽभिग्रहं गृह्णाति, प्रत्यहं मया बालग्लानादीनां वैयावृत्त्यं कर्त्तव्यं, तीव्रश्रद्धः स प्रतिज्ञातं तत् करोति, शक्रेणाऽपि सुधर्म्मायां प्रशंसितः, तत्प्रशंसामश्रद्दधानः कश्चिद्देवपाशः परीक्षार्थं भुवमुपेत्य द्वे श्रमणरूपे विकुर्व्य तं परीक्षेते, द्वयोर्मध्ये एक अतिसारव्याधिग्रस्तोऽटव्यां स्थितः, द्वितीयस्तं ग्लानवैयावृत्त्यकरं श्रमणं प्रति गत्वाऽऽह 'कश्चिदेको ग्लानश्रमणः पतितः, यो वैयावृत्यं श्रद्दधाति स क्षिप्रमुत्तिष्ठतु'। षष्ठोपवासपारणकार्थाऽऽनी-

ताऽऽहारं भोक्तुमुद्यतेन तेन श्रुतमात्रे रभसोत्थाय भणितं केन कार्यमिति ? अभ्यागतः स कृत्रिमश्रमणो ब्रवीति—पानकद्रव्यप्रयोजनं विद्यते, पानकार्थं निर्गतेऽस्मिन् स मायाविदेवश्रमणः सर्वत्राऽनेषणं प्रकुरुते । पश्चाल्लब्धं प्रासुकजलं, अनुकम्पया त्वरितं गतः सोऽतिसारग्रस्तेन परुषनिष्ठुरवाक्यैराक्रुष्टः, 'हे मन्दभाग्य ! वृथैव त्वं वैयावृत्त्यकरोऽहमिति स्वं ख्यापयसि, अन्यथा कथं भुक्तलोलुपस्त्वमेतावता विलम्बेन समायातः, स नन्दिषेणस्तां परुषगिरं पीयूषमिव मन्यमानः तस्य चरणगतः क्षमयति अशुचिमललिप्तं तस्य वपुः प्रक्षाल्य शरीरस्वास्थ्याय वसतिमागन्तुमुक्ते सति तेनोक्तम् 'नाऽहं शक्नोमि व्रजितुम्' तदा नन्दिषेणेन पृष्ठावारोहणार्थमुक्ते आरूढोऽयं श्रमणशठस्तस्य देहस्योपरिष्टाद् विष्ठां कुरुते परमामशुचिदुर्गन्धां विकुरुते 'धिग् मुण्डित' इत्यादिकां परुषां च गिरं संगिरते, सोऽपि क्षमानिधानो मुनिर्न गणयति परुषगिरं नाऽपि दूषयति तं गन्धं केवलं चन्दनमिव मन्यमानः पौनःपुन्येन क्षामयन् कथमस्य साधोः समाधिस्स्यादिति चिन्तापरो बभूव । एवं बहुविधप्रकारैरपि यदा क्षोभयितुं न शक्तौ तदा प्रत्यक्षीभूय पुनः पुनरभिष्टुवन्तौ स्वस्थानं जग्मतुः, गुरुभिरपि स नन्दिषेणो धन्य इति स्तुतः यथा तेन नैवोल्लङ्घितैषणा तथैव एषणायां यतिभिर्यतितव्यम् ॥

अथाऽऽदाननिक्षेपसमितिं भावयति;—रजोहरणपात्रचीवरादीनां पीठफलकादीना ऽऽवश्यकाऽर्थं निरीक्ष्य प्रमृज्य चाऽऽदानं निक्षेपणमिति आदाननिक्षेपणासमितिः रजोहरणासनवसनपात्रफलकप्रमुखः पूर्वोक्तश्चतुर्दशविधो द्वादशविधः पञ्चविंशतिविधो वा क्रमशः स्थविरकल्प–जिनकल्प–आर्यिकायोग्यो वा निखिलोऽप्युपधिश्चक्षुषा संवीक्ष्य रजोहरणादिना उपयोगपूर्वकं प्रतिलिख्योपभोक्तव्यः, यदि उपयोगाऽभावे दुष्टोपयोगे वा भवेद् तदा सम्यक् प्रतिलेखना न स्यात्,

यदाह;—" पडिलेहणं कुणंतो मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा। देइ पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥ १ ॥ पुढवि आउक्काए तेऊवाऊ वणस्सइतसाणं। पडिलेहणा पमत्तो छण्हंपि विराहगो भणिओ ॥२॥ संरक्षित–प्रतिलिखितभूमौ यदाददीत स्थापयेद्वा तदादाननिक्षेपसमितिरित्यर्थः, भीमो भीमसेन इति न्यायादादानसमितिरपि ॥

अधुनोत्सर्गसमितिः—स्थण्डिले स्थावरजङ्गमजन्तुजातवर्जिते निरीक्ष्य प्रमृज्य च मूत्रपुरीषादीनामुत्सर्ग उत्सर्गसमितिः, मुखनासिकासञ्चारी कफः, मूत्रं, मलः, अन्यदपि परिष्ठापनायोग्यं वस्त्रपात्रभक्तपानादि तत्त्रसस्थावर जन्तुविवर्जिते जगतीतले उपयोगपूर्वकं साधुर्यदुत्सृजेत् सोत्सर्गसमितिः। उक्तञ्च;—" कफमूत्रमलप्रायं निर्जन्तुजगतीतले। यत्नाद्यदुत्सृजेत् साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत् " ॥ १ ॥ अस्यामुदाहरणं धर्मरुचेरनगारस्य प्रसिद्धम्। एवं साधोर्यतमानस्याऽप्रमत्तयोगस्य समितस्य च सतो मिथ्यात्वाऽविरतिप्रत्ययं कर्म्म निरुद्धं भवति ॥

अथ गुप्तित्रिकमध्ये मनोगुप्तिमाह;—इह मनोगुप्तिस्त्रिधा–आर्त्तध्यानरौद्रध्यानानुबन्धिकल्पनाजालवियोगः प्रथमा, शास्त्रानुसारिणी परलोकसाधिका धर्म्मध्यानानुबन्धिनी माध्यस्थ्यपरिणतिर्द्वितीया, कुशलाऽकुशलमनोवृत्तिनिरोधेन योगनिरोधावस्थाभाविन्यात्मारामता तृतीया। मनोगुप्त्यामुदाहरणं;–जिनदासश्रावकः श्रेष्ठिसुतः, स यानशालायां सर्वरात्रिकीं प्रतिमां प्रतिपन्नः, अल्द्रामिका तस्य भार्या कीलकयुक्तं पर्यङ्कं गृहीत्वा तत्राऽऽयाता सती तस्यैव पादस्योपरि मञ्चकपादं स्थापयित्वा केनचिद्दुष्टजारेण सहाऽनाचारमाचरन्ती चिरकालं तत्र स्थिता, कीलकयुक्तेन मञ्चकपादेन जिनदासस्य पादो विद्धः, विपुलञ्च शोणितं निसृतं तथापि तां वेदनां सम्यगध्यासयति, न च व्यलीकं दृष्ट्वाऽपि निश्चलमनसस्तस्य ध्याने मनो दुष्कृतं समुत्पन्नम्।

एवं मनोगुप्तिः कर्त्तव्या।

अथ वाग्गुप्तिः—मुखनयनभ्रूविकाराङ्गुल्याच्छोटनादिकानां संज्ञानामर्थसूचिकानां चेष्टानां लोष्ठोत्क्षेपहुंकारप्रभृतीनां निखिलानामपि प्रवृत्तीनां परित्यागपूर्वकं यन्मौनं सा वाग्गुप्तिः। संज्ञादिना हि प्रयोजनं सूचयतो मौनं निष्फलमेवेत्येका वाग्गुप्तिः। वाचनपृच्छनपृष्टव्याकरणादिषु लोकाऽऽगमविरोधेन मुखवस्त्रिकाच्छादितवक्त्रस्य भाषमाणस्याऽपि यद् वाङ्नियन्त्रणं सा द्वितीया वाग्गुप्तिः। आभ्यां भेदाभ्यां वाग्गुप्तेः सर्वथा वाङ्निरोधः सम्यग् भाषणं च प्रतिपादितं भवति, भाषासमितौ तु सम्यग् वाक्प्रवृत्तिरेवेति वाग्गुप्तिभाषासमित्योर्भेदः॥ आह च:—“समिओ नियमा गुत्तो गुत्ते समियत्तणंमि भयणिज्जो। कुसलवयमुइरंतो जं वइगुत्ते वि समिओ वि”॥१। वाग्गुप्त्यां दृष्टान्तः— केचन साधवः स्वजनान् प्रतिबोधयितुं गच्छन्तः पथि चौरैर्गृहीताः, साधून् दृष्ट्वा चौराधिपतिना कस्यचिदन्यं मा कथयत इति विमोचिताः अग्रे चलन्ति, स्वजना अपि विवाहादिकार्यार्थं ग्रामान्तरं व्रजन्तः सम्मुखं मिलिताः, ततस्ते साधवः स्वजनैः सह प्रतिनिवृत्ताः, पुनः पथि चौरैः स्वजना लुण्टिताः, पूर्वमुक्तान् साधून् दृष्ट्वा परस्परं कथयन्ति, इमे त एव साधवो ये अस्माभिर्मुक्ताः, तेषां वचनं श्रुत्वा स्वजनाः साधून् आहुः, यदि भवद्भिः पश्यतोहरा दृष्टास्तदा कथं वयं न बोधिताः इत्युक्त्वा च्छुरिकां गृहीत्वा स्वस्तनौ कर्त्तयितुमारब्धा तेषां साधूनां जननी ‘कथं स्तनौ च्छिनत्सि’ इति चौराधिपेन पृष्टा उवाच—एष साधुर्मया दुर्जन्मजातो यतो दृष्टमप्यनिष्टमस्मान् न ब्रूते, तदा साधवः साधुधर्मं प्ररूपयन्ति, ततः स्तेनैः सर्वे मुक्ताः, एवं वाग्गुप्तिः कार्या॥

अथ कायगुप्तिः—देवमनुजतिर्यक्कृतोपसर्गपरीषहप्रसङ्गेषु अथवोपसर्गपरीषहाऽभावेऽपि साधोः शरीरनिरपेक्षतालक्षणस्त्यागः योगनिरोधं कुर्वतः केवलिनः सर्वथा शरीरचेष्टापरिहारो वा कायगुप्तिर्निगद्यते । निशाप्रथमयामेऽतिक्रान्ते गुरूनापृच्छ्य प्रमाणयुक्तायां वसतौ संवीक्ष्य प्रमृज्य च भूमिं संस्तरणोत्तरपट्टकद्वयचीवराऽऽत्मकं संस्तारकमास्तीर्य ऊर्ध्वमधश्च कायं सपादं मुखवस्त्रिकारजोहरणाभ्यां प्रमृज्य अनुज्ञापितसंस्तारकाऽवस्थानः पठितपञ्चनमस्कारसामायिकसूत्रः कृतवामबाहूपधान आकुञ्चितजानुकः कुक्कुटीवद्व्ययति प्रसारितजङ्घो वा प्रमार्जितक्षोणीतलन्यस्तचरणो वा भूयः संकोचसमये प्रमार्जितसंदंशक उद्वर्त्तनाकाले च मुखवस्त्रिकाप्रमृष्टकायो नात्यन्ततीव्रनिद्रोऽन्यत्रग्लानाऽध्वश्रान्तवृद्धादेः रात्रावेव न दिवा आगमोक्तं निद्राकालं यावत् शयीत । आसनं यत्र प्रदेशे चिकीर्षितं तं चक्षुषा निरीक्ष्य प्रमृज्य च रजोहरणेन बहिर्निपद्यामास्तीर्योपविशेत्, उपविष्टोऽपि आकुञ्चनप्रसारणादि तथैव कुर्वीत वर्षादिषु च पीठफलकादिपूक्तयैव सामाचार्योपविशेत् । दण्डाद्युपकरणविषये तेषां निक्षेपाऽऽदाने ते अपि प्रत्यवेक्ष्य प्रमृज्य च विधेये । आवश्यकप्रयोजनवतः साधोः पुरस्ताद्युगमात्रप्रदेशसन्निवेशितदृष्टेरप्रमत्तस्य त्रसस्थावरभूतानि संरक्षतोऽत्वरया पदन्याससमाचरतो यत् प्रशस्तं गमनं, प्रत्यवेक्षितप्रमार्जितप्रदेशविषयमूर्ध्वस्थितिलक्षणमवष्टम्भादिस्थानं, एतासु पूर्ववर्णितासु शयनाऽऽसनादिचेष्टासु यः स्वच्छन्दचेष्टापरिहारः सा अपरा कायगुप्तिः, उक्तञ्च; "शयनाऽऽसननिक्षेपाऽऽदानचङ्क्रमणेषु च । स्थानेषु चेष्टानियमः कायगुप्तिस्तु सा परा" ॥ १ ॥ उदाहरणञ्चास्याम्—अध्वप्रपन्नकः साधुः आवासिते सार्थे न लभते क्वचिदपि स्थण्डिलं, कथमपि एकः पादो प्रतिष्ठति एतावन्मात्रं स्थण्डिलं लब्धं तत्र स्थितैकपादः सर्वां रात्रिं तत्र स्थितः, न

स्थापितं केश्चिदस्थण्डिले, एवं भव्यात्मना गुप्तेन भवितव्यम् ॥

एताः पञ्चसमितयः तिस्रो गुप्तयश्च जैनेन्द्रप्रवचने प्रवचनमातृत्वेन प्रख्याप्यन्ते प्रवचनोपनिषद्वेदिभिः, यथा माता पुत्रं प्रसूते, सर्व्वोपद्रवनिवारणेन पोषणेन च वृद्धिनयनपूर्व्वकं परिपालनं पुत्रस्य प्रकुरुते, पुत्रस्य मलक्लिन्नवपुः क्षालयति च तद्वदेताः प्रवचनमातरः साधूनां चारित्रगात्रं प्रसुवते, जनितं चारित्रगात्रं उपद्रवनिवारणेन पोषणेन च वृद्धं नयन्ति अतिचारमलिनं च गात्रं संशोधयन्ति च, तथाचाहुर्हेमचन्द्रसूरिपादाः.—" एताश्चारित्रगात्रस्य जननात् परिपालनात् संशोधनाच्च साधूनां मातरोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः "। १ ॥ २६ ।

अथ परीषहाः;—

खुहा पिवासा सीउह्नं, दंसऽचेलऽरइत्थिओ चरिया निसीहिया सिज्जा, अक्कोस वह जायणा २७

अलाभरोगतणफासा, मलसक्कारपरीसहा अण्णाण सम्मत्तं, इअ बावीसं परीसहा २८

टीका;—ननु ' परीसह ' इति कः पदार्थः ? उच्यते, परिसह्यत इति परीषहः " कृत्यल्युटो बहुलम् " इतिकरणाधिकरणाभ्यामन्यत्राऽपि कर्म्मणि घ प्रत्ययः, किमर्थं परिसह्यत इति जिज्ञासायां तत्त्वार्थश्रद्धानादिलक्षणान्निर्वृत्तेर्मार्गान् मा प्रच्योष्महि इति ज्ञानावरणादिकर्म्मक्षपणार्थं सिद्धिस्थानप्राप्तिकारणहेतवः परिषोढव्या द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यवगन्तव्यम् । उक्तं चोत्तराध्ययनद्वितीयाऽध्ययने;—" सुयं मे आउसंतेणं भगवया एव मक्खायं, इह खलु बावीसं परीसहा

समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सुच्चा नच्चा निच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विहन्निज्जा " इति, तथा चाऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे;—" मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः " इति । एते च द्वाविंशतिसंख्याकाः प्रत्येकं व्याख्यायन्ते—अत्र सर्वेषु परीषहेषु पूर्वं क्षुधया निर्देशः, सर्वेषु क्षुधाया दुस्सहत्त्वात् । क्षुद्वेदनामुदितामशेषवेदनातिशायिनीं जठरान्त्रविदाहिनीं सम्यग्विषहमाणस्याऽऽगमविहितेनाऽन्धसा क्षुधां शमयतोऽनेषणीयश्च परिहरतः क्षुत्परीषहजयो भवति, अनेषणीयग्रहणे तु विजितस्स्यात्क्षुत्परीषहेणेति प्रथमः १ । एवं पिपासापरीषहोऽपि द्रष्टव्यः २ । ' सी–उण्हं ' ति शीतपरीषह उष्णपरीषहश्च, तत्र शीतपरीषहो यथा महत्यपि शीते पतति जीर्णवसनः परित्राणवर्जितो नाऽकल्प्यानि वासांसि परिगृह्णीयात् परिभुञ्जीत वा, नाऽपि शीताऽऽर्त्तोऽग्निं ज्वालयेत्, अन्यज्वालितं वा नाऽऽसेवयेत्, एवमनुतिष्ठता शीतपरीषहजयः कृतो भवति ३। उष्णपरितप्तोऽपि न जलावगाहनस्नानव्यजनवातादि वाञ्छयेत्, नैवाऽऽतपत्राद्युष्णत्राणायाऽऽददीत, उष्णमापतितं सम्यक् सहेत, एवमनुतिष्ठतोष्णपरीषहजयः कृतो भवति । ' दंसा चेलारइत्थिओ ' इत्येकपदं कृतद्वन्द्वं बहुवचनान्तम्, तत्र ' दंसा ' इति दंशमशकपरीषहः, दंशमशकादिना दश्यमानस्याऽपि तत्स्थानापगमनेच्छा तदपनयनाय धूमादियत्नस्तन्निवारणाय व्यजनादिधारणं वा यस्य नास्ति तस्य तत्परीषहजयो बोद्धव्यः ५ । ' अचेला ' इत्यचेलपरीषहः नाग्न्यमप्युच्यते श्रीतत्त्वार्थदीं, स च न निरुपकरणतैव दिगम्बरभक्तिकादिवत्, किन्त्वाऽऽगमाभिहितप्रमाणकल्पादिधारणेऽपि निष्परिग्रहत्त्वान्निष्परिग्रहत्त्वं तच्च मूर्च्छाऽभावात्, तदुक्तं;—' जंपि–वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुच्छणं । तंपि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य ॥ १ ॥ न सो परिग्गहो

वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा । मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ' ॥ २ ॥ इति, चेलं च वस्त्रं, तेन जीर्णजीर्णेनाऽपि
सता अकल्पनीयवस्त्रमनभिलषतोऽचेलपरीषहः, न च भिक्षुरमहार्घाणि खण्डितानि जीर्णानि च वासांसि धारयन् दैन्यं गच्छेत्,
तथा चाऽऽगमः;—' परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामित्ति अचेलए । अदुवा सचेलए होक्खं इति भिक्खू न चिंतए ' ॥ १ ॥
६ । ' अरइ ' इति अरतिपरीषहः—अयं च यस्य विहरतस्तिष्ठतो वा संयमेऽरतिरुत्पद्यते तस्य तां सम्यगधिसह-
मानस्य ' इह खलु भो पव्वइएणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं एव
हयरस्सिगयंकुसपोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारसठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति ' इत्यागमोक्तत्याऽष्टादशस्थानानु-
चिन्तनापरस्य मन्तव्यः, उत्पन्नाऽरतिनाऽपि संसारस्वभावमालोच्य सम्यग् धर्म्मारामतेनैव भवितव्यमात्महिताशंसिना ७ ।
' इत्थिओ ' इति स्त्रीपरीषहः—स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानहसितललितनयनविभ्रमादिचेष्टां न चिन्तयेत्, न जातुचिच्चक्षुरपि
मोक्षमार्गार्गलासु तासु कामबुद्ध्या निवेशयेदिति स्त्रीपरीषहजयः कृतो भवति ८ । ' चरिया ' इति चरणं चर्या, तत्परीषहो
ग्रामनगरादिष्वनियतवसतेर्निर्ममत्त्वस्य मासकल्पादिचरणमाचरतो भवति ९ । ' निसीहिया ' निषिदन्त्यस्या-
मिति निषद्या स्थानं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितं, तत्परीषहस्तत्र तिष्ठत इष्टाऽनिष्टोपसर्गसम्भवेऽपि अविचलितचित्तस्य ज्ञेयः १० ।
' से ' इति, शेरतेऽस्यामिति शय्या संस्तारको वसतिर्वा, तत्र संस्तारके मृदुकठिनादिभेदेनोच्चावचे वसतौ च
पांशूत्करप्रचुराऽप्रचुरशिशिरघर्म्मातपजनिकायामनुद्विग्नमानसस्य सतः शय्यापरीषहः ११ ' अक्कोसवहजायणा ' इति
आक्रोशश्च वधश्च याचना चेति द्वन्द्वे आक्रोशवधयाचना इति बहुवचनान्तं पदं परीषहत्रयसूचकम्, तत्राऽऽक्रोशोऽनिष्टवचनम्,

तद्यदि सत्यं कः कोपः, शिक्षयति हि मामयमुपकारं, न पुनरेवं करिष्यामि, असत्यं चेत् सुतरां कोपो न कर्त्तव्य इत्येवमनुचिन्तयत आक्रोशपरीषहः १२। वधस्ताडनं पाणितलादिभिः, तदधिषहनं कुर्व्वतोऽन्यदिदमात्मनः शरीरमवश्यंतया विध्वंसते एव, आत्मा तु न शक्य एव विध्वंसयितुम्, अतः स्वकृतकर्म्मफलमिदमिति बुद्ध्या वधपरीषहः १३। याचनं मार्गणं, भिक्षोर्हि वस्त्रपात्रान्नपानप्रतिश्रयादि परतो लब्धव्यं निखिलमेव, शालीनतया च न याञ्चां प्रत्याद्रियते, साधुना तु प्रागल्भ्यभाजा सञ्जाते कार्ये स्वधर्म्मकायपरिपालनाय याचनमवश्यं कार्यमिति, एवमनुतिष्ठता याञ्चापरीषहजयः कृतो भवति १४। 'अलाभरोगतणफासा' इति, इदमपि प्राग्वत् कृतद्वन्द्वं बहुवचनान्तं परीषहत्रयावेदकम्, तत्राऽलाभोऽप्राप्तिः, याचितेऽपि, वस्तूनि परेणादत्ते 'बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमं साइमं। न तत्थ पंडिओ कुप्पे इच्छादिज्ज परो न वा' ॥ १ ॥ इति सिद्धान्तवचनानुस्मृत्या विषादमगच्छतोऽलाभपरीषहः १५। रोगो ज्वरातिसारकासश्वासादिस्तस्य प्रादुर्भावे सत्यपि न गच्छनिर्गतश्चिकित्सायां प्रवर्तते, गच्छवासिनस्त्वल्पबहुत्वालोचनया सम्यक् सहन्ते प्रवचनोक्तविधिना च प्रतिक्रियामाचरन्तीति, एवमनुतिष्ठता रोगपरीषहजयः कृतो भवति १६। अशुषिरतृणस्य दर्भादेः परिभोगोऽनुज्ञातो गच्छनिर्गतानां गच्छनिवासिनाञ्च, तत्र येषां निष्पन्नानां शयनमनुज्ञातं ते तान् दर्भान् भूमावास्तीर्य संस्तारकोत्तरपट्टकं च दर्भाणामुपरि विधाय शेरते, चौरापहृतोपकरणो वा प्रतनुसंस्तारकोत्तरपट्टकावत्यन्तजीर्णत्वात्, तथापि तं परुषकुशदर्भादितृणस्पर्शं सम्यक् सहेत १७। 'मलसक्कारपरीसह' इति, मलश्च सत्कारश्च मलसत्कारौ तौ च तौ परिषह्यमाणत्वात् परीसहौ च मलसत्कारपरीषहौ "बहुवयणेण दुवयणं" इति लक्षणेन बहुवचनान्तता, तत्र मलपरीषहो नाम यस्य स्वेदवारिसम्पर्काद्रजःपुञ्जः

शरीरे सञ्चित्य कठिनीभूतो ग्रीष्मोष्मसंपातजनितघर्म्मजलार्द्रतेच्छलद्दुर्गन्धोऽपि नोद्वेगाऽऽपादनेन स्नानाभिलाषमुत्पादयति तस्य ज्ञेयः १८। भक्तलोकोपपादितवस्त्रपात्रान्नपानादिसत्कारस्याऽपि न मानोद्वहनं, नाऽपि विपक्षे विषादकरणं यस्य तस्य सत्कारपरीषहः १९। 'पण्णा' इति प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा बुद्ध्यतिशयः, तत्प्राप्तेऽपि ये न गर्वमुद्वहते, नापि प्रज्ञाविरहितो न 'किञ्चिज्जानेऽहं महामूर्खः सर्वपराभूतः' इति परितापमुपयाति तस्य प्रज्ञापरीषहः २०। 'अण्णाणसम्मत्तं' इति, अज्ञान सम्यक्त्वञ्चाऽज्ञानसम्यक्त्वं समाहारत्वादेकवचनम्, तत्राज्ञानं ज्ञानविपक्षः, ज्ञान चतुर्दशपूर्वैकादशाङ्गानि चोपाङ्गादि-समन्वितानि, तत्पारगतः समस्तश्रुतोदधिपारदृष्टाऽहमिति यो गर्वं नोद्वहते, नाप्यागमपरिज्ञानविकलो 'धिङ् मां निरक्षरकुक्षिम्' इति विषीदति, केवलं ज्ञानावरणक्षयोपशमोदयविजृम्भितमेतदिति स्वकृतकर्म्मफलोपभोगात्तपोऽनुष्ठानाच्चेदमपगच्छतीति यः परिभावयति तस्याऽज्ञानपरीषहः २१। सम्यक्त्वपरीषहः—देवतादिसान्निध्याऽभावेऽपि दर्शनाऽन्तरीयद्धिदर्शनादौ वा दृष्टिसम्मोहमनुगच्छतो विज्ञेय इति। अत्र केचिदिमं सम्यक्त्वपरीषहं 'असम्यक्त्वपरीषहं' चाहुः, ते च एवं व्याचक्षन्ते—सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निस्सङ्गश्चाहं तथापि धर्म्माधर्म्मात्मदेवनारकादिभावान्नेक्षे, अतो मृषासमस्त-मेतदित्यसम्यक्त्वपरीषहः, तत्रैवमालोचयेत्—धर्म्माऽधर्म्मौ पुण्यपापलक्षणौ यदि कर्म्मरूपौ पुद्गलाऽऽत्मकौ ततस्तयोः कार्यदर्शनादनुमानसमधिगम्यत्वम्, अथ क्षमाक्रोधादिकौ धर्म्माऽधर्म्मौ ततस्स्वानुभवत्वादात्मपरिणामरूपत्वात् प्रत्यक्षविरोधः, देवास्त्वत्यन्तसुखाऽऽसक्तत्वान्मनुजलोके कार्याऽभावाद्दुःषमानुभावाच्च न दर्शनगोचरमायान्ति, नारकास्तु तीव्रवेदनाऽऽर्त्ताः पूर्वकृतकर्म्मोदयनिगडबन्धनवशीकृतत्वादस्वतन्त्राः कथमायान्तीत्येवमालोचयतोऽसम्यक्त्वपरीषहजयो भवति २२।

ननु परीषहसहने स्वात्मनि दुःखं सञ्जायते, कथं ज्ञानपूर्वकमात्मा दुःखौदधौ पातनीयः, यथा पराऽऽत्मा दयनीयस्तथा स्वाऽऽत्माऽपि, क्षुधाद्युरशनाऽलाभे आर्त्तध्यानोपगतः कर्मबन्धं वेदध्यात् कर्म्मबन्धश्च संसारवृद्धिकारणं, एवं सर्वत्राऽपि द्रष्टव्यम्, ततः किमर्थं परीषहसहनं संवरत्वेन जायते ? सत्यम्, उच्यते;—दुःखपूर्णेऽस्मिन् भवोदधौ न कुत्रचिदपि सातं वेद्यते, किञ्चिदपि सुखं स्यात् तत् संवरप्रधाने धर्मे एव, यद्यप्यनादिवासना संस्कारसङ्गतोऽयं जीवो मेरुगिरिसन्निभं संयमभारं वोढुं न शक्नोति, तथापि ज्ञाततत्त्व एवं ध्यायति यत् संयमपरिपालनसंगतमल्पं दुःक्खं महते फलाय यावदपवर्गलाभायाऽपि भवति, परवशेनानेन जीवात्मना नरकतिर्यग्गतिषु असह्याऽवर्ण्यायाऽश्राव्यदुःक्खानि सोढानि, तत्पार्श्वे कियदिदं दुःक्खं, अन्यच्च स्वाधीनत्वेन दुःखसहनं दुःखमेव नास्ति, यथाऽऽपणिकायां व्यापारकुशला वणिजो व्यापारनियुक्ताः सन्तोऽर्थलाभार्थिना बुभुक्षादिकं मनागपि न गणयन्ति, तथा मोक्षकामा भव्याऽऽत्मानः सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयीमाराधयन्तः संयमसेवानुगतं लोचाद्यनुष्ठानप्रभृतिकं परीषहदुःक्खं कर्म्मनिर्ज्जराकारणत्वेन मत्त्वा मनसि न धारयन्ति, इष्टनगरं प्राप्तुकामः कश्चित्पान्थोऽध्वपरिश्रान्तः पथि एवं चिन्तयेदहो अहमध्वश्रान्तो न शक्नोमि पदमप्यग्रे गन्तुमिति तत्रैवाधितिष्ठेत् ततः स्वेप्सितस्थानाऽवाप्तिवञ्चितो भवेत्, तद्वत् मुक्तिपुरीं प्राप्तुकामोऽयं सम्यग्दृष्टिः संवरनिमित्तं परीषहादिदुःखाऽऽक्रान्तमना नाग्रेतनगुणस्थानश्रेणीमधिरोढुं यतते तदा कथं लोकाग्रवर्त्तिसिद्धिसौधं संप्राप्नुयात्, तस्मात् कर्म्मक्षयकारणत्वेन मन्यमानो भव्याऽऽत्मा आगमानुसारेण परीषहादिसहने सम्यग् यतते, एवञ्चाऽऽराधको भूत्वा स्वर्गाऽपवर्गसुखभाग् भवति, यस्तु नैवं स संसारमहोदधौ निमज्जति । श्रीमदुत्तराध्ययनादिष्वत्र विषये प्रतिपरीषहं बालावबोधाय दृष्टान्तानि भावितानि, विस्तरभयात्

सर्वाणि न प्रदर्श्यन्ते, तथापि प्रसङ्गाशून्यार्थमेकं विभावयामस्तच्चैवम्;—“ तगरा नगर्यामर्हन्मित्राचार्यपार्श्वे मतापितृभ्यां सहाऽर्हन्नकपुत्रः प्रव्रजितः, पित्रा सर्ववैयावृत्यकरणेनेतस्ततः परिभ्रम्य भव्यभिक्षाभोजनसंपादनेन स बालेऽत्यन्तं सुखं कृतः, उपविष्ट एव भुंक्ते, कदापि भिक्षायै न भ्रमति, तद्भिक्षार्थं स्वभिक्षार्थं पितुरेव भ्रमणात्, अन्यदा पितरि मृते साधुभिः प्रेरितः स बालो ग्रैष्ममासे भिक्षार्थं गतः, तापाऽभिभूतः प्रोतुङ्गगृहच्छायायामुपविशति, पुनस्तत उत्तिष्ठति शनैश्शनैर्याति, एवं कुर्वन्तमतिसुकुमारं तमर्हन्नकं कुमारं रूपेण कन्दर्पावतारं दृष्ट्वा काचित् प्रोषितवणिग्भार्या तमाकार्य गृहे स्थापितवती, तया सह विषयाऽऽसक्तोऽभूत्, अथ तन्माता साध्वी पुत्रमोहेन ग्रथिलीभूय अरे ! अर्हन्नक ! २ इति निर्घोषयन्ती चतुष्पथादिषु भ्रमति, एकदा गवाक्षस्थेनार्हन्नकेन सञ्जातदीनाऽवस्था माता दृष्टा, सञ्जाताऽन्तःसंवेगो गवाक्षादुत्तीर्य पादयोः पतित्वा मातरमेवाऽऽह—हे मातः ! सोऽहमर्हन्नक इति तद्वचश्रवणात्स्वस्थचित्ता माता तमेवमाह—वत्स ! भव्यकुलजातस्य तव केयमवस्था ? स प्राह—मातश्चारित्रं पालयितुं न शक्नोमि, सा प्राह—तर्हि अनशनं कुरु, मातृवचसा तप्तशिलायां सुप्त्वा पादपोगमनं चकार, सम्यग्गुणपरीषहं विषह्य समाधिभाग् देवत्वं प्राप्तवान् ”। एवमर्हन्नकेन यदा परीषहः सोढस्तदा सुखभाग् जातः, तत एते द्वाविंशतिरिति न न्यूनाधिका धर्म्मविघ्नहेतवः संवरफलमभिसमीक्ष्याऽऽसमंतात् परिषोढव्या इति ।

ननु केषां कर्मणामुदयेनैते प्रादुर्भवन्तीत्याह;—ज्ञानावरणीयवेदनीयदर्शनचारित्रमोहनीयान्तरायकर्म्मणामुदयादेते प्रादुर्भवन्ति, तत्र प्रज्ञाज्ञानपरीषहौ ज्ञानावरणीयोदयेन भवतः, प्रज्ञाज्ञाने ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्ये, ज्ञानावरणक्षयोपशमश्च ज्ञाना-

वरणोदये सत्येव लभ्यते । दर्शनमोहनीयोदयप्रभवः सम्यक्त्वपरीपहः, अन्तरायोदयजन्योऽलाभपरीपहः । अचेलाऽरतिस्त्रीनिपद्याऽऽक्रोशयाचनासत्कारादयः सप्तपरीपहाश्चारित्रमोहोदयप्रभवाः । नाग्न्याऽपरपर्यायाऽचेलपरीपहो जुगुप्सोदयात्, अरत्युदयादरतिः, स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीपरीपहः, भयोदयान्निषद्यापरीपहः, क्रोधोदयादाक्रोशः, मानोदयाद्याञ्चापरीपहः, लोभोदयात्सत्कारपरीपहः, शेपाः क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलसंज्ञा एकादश परीपहा वेदनीयजन्या इति ।

अथ कस्मिन् गुणस्थानके के कति च परीपहाः संभवन्तीत्येतदाह;—क्षुधा-पिपासा-शीतोष्ण-दंश-चर्य्या-शय्या-मल-वध-रोग-तृण-स्पर्शाऽऽख्या एकादशपरीपहाः प्रथमगुणस्थानकादारभ्य त्रयोदशं गुणस्थानं यावत्, प्रज्ञाऽज्ञानाऽलाभपरीपहाः प्रथमाद् द्वादशगुणस्थानकं यावत्, आक्रोश-अरति-स्त्री-नैपेधिकी-अचेल-याचना-सत्कारपरीपहाः प्रथमादानवमं गुणस्थानकं (यावत्), सम्यक्त्वपरीपहस्तु सप्तमं गुणस्थानं यावत्,। अत्र सर्वत्र प्रथमं गुणस्थानकमादौ कृतं तथापीदं चिन्त्यं, परीपहसहनं तु विरतानामेव सिद्धान्ते प्रकीर्त्तितं, यतोऽग्रे यदा वक्ष्यामः कति संवरभेदाः कस्यां गतौ ? तदा नारकदेवतिर्यक्षु सर्वत्र परीपहभेदाः प्रतिपिद्धाः, तस्माद्यदत्रोल्लिखितं तत् सकामाऽकामाऽपेक्षया ज्ञेयं, सकामाऽपेक्षया तु विरतानामेव तत्सहनं विज्ञेयमिति। अथ समकालमेकं जीवमाश्रित्य कति परीपहा इति चिन्तायां शीतोष्णयोश्चर्यानिपद्ययोश्च युगपदभावात् यथासंभवं तत्र तत्र गुणस्थाने विंशत्याद्या ज्ञेया[1] । इति परीपहाः संक्षेपतो वर्णिताः, विस्तरार्थिना तु यथायोगं श्रीतत्त्वार्थभाष्यादयः प्रौढतमा ग्रन्था विलोकनीया इति ॥

१ 'एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतिः' इति श्रीतत्त्वार्थवचनात् समकालमेकोनविंशतिरपि विज्ञेया इति ।

। परीषहयन्त्रकम् ।

परीषहनामानि,	कस्य कर्म्मण उदयेन,	गुणस्थान.	परीषहनामानि,	कस्य कर्म्मण उदयेन,	गुणस्थान.
१. क्षुधा प०	वेदनीय	१... . १३	१२. आक्रोश प०	चा० मोहनीय	१ .. ..९
२. पिपासा प०	,,	१. . ,,. . ,,	१३. वध प०	वेदनीय	१... . . .१३
३. शीत प०	,,	१... ,,.....,,	१४. याचना प०	चा० मोहनीय.	१ .. .. ..९
४. उष्ण प०	,,	१... ,,.....,,	१५. अलाभ प०	लाभान्तराय.	१...... .१२
५ दंश प०	,,	१.. .,,.. ,,	१६. रोग प०	वेदनीय.	१ ... १३
६. अचेल प०	चा० मोहनीय	१ . .. ..९	१७. तृणस्पर्श प०	,,	१.. ,,.....,,
७. अरति प०	,, ,,	१ ....९	१८. मल प०	,,	१. ..,,.. ,,
८. स्त्री प०	,, ,,	१ . . .. ९	१९. सत्कार प०	चा० मोहनीय.	१. ....९
९. चर्य्या प०	वेदनीय.	१.. ... . १३	२०. प्रज्ञा प०	ज्ञानावरणस्यक्षयोपशमः	१........ १२
१०. निषद्या प०	चा० मोहनीय.	१.........९	२१. अज्ञान प०	ज्ञानावरणस्योदयः	१...... ..१२
११. शय्या प०	वेदनीय.	१.... ... १३	२२. सम्यक्त्व प०	दर्शनमोहनीय	१.........७

अथ क्रमप्राप्तान् यतिधर्म्मानाह;—

खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे अ बोद्धव्वे। सच्चं सोअं अकिंचणं च, बंभं च जइ धम्मो॥२९॥

टीका;—'खंती' इति, तत्र क्षान्तिः क्षमा क्रोधजयः, स चोपशमेन स्यात्. १, मृदोर्भावो मार्दवमहंकारपरिहारः २, ऋजोर्भाव आर्जवं मायापरित्यागः ३, लोभपरिहारो निर्लोभता मुक्त्यपरपर्याया ४, तपो बाह्याऽभ्यंतरभेदैर्द्वादशधा ५, संयमः सप्तदशभेदभिन्नः प्राणातिपातादिविरमणरूपः ६, सद्भ्यो जीवेभ्यो हितं सत्यम् सर्वजीवेषु सुखकारिवचनं ७, शौचमदत्तादानपरिहारः ८, अकिञ्चनत्त्वं, न विद्यते किंचन यस्य सोऽकिञ्चनः, अकिञ्चनस्य भावोऽकिञ्चनत्त्वं सर्वपरिग्रहत्यागः ९, ब्रह्म औदारिकवैक्रियसम्बन्धिमैथुनपरिहारः १०, इति दशविधो यतिधर्म्मः, यतिना मुनिना संवरार्थं धार्यत इति यतिधर्म्म, इति गाथासंक्षेपार्थः॥ व्यासार्थस्त्वयम्;—गाथायां 'जइधम्मो' इति यतिपदेन अगारिधर्म्मव्यवच्छेदः, क्षमाप्रधानाः सकलमदस्थाननिग्रहकारिणः शाठ्यरहिताः संतोषाऽमृततृप्ताः सत्यवादिनः संयमिनस्तपस्विनो यथावत्सूत्रार्थप्रदातारः कनकादिकिञ्चनरहिता नवविधगुप्तिपरिशीलितं ब्रह्मचर्यं बिभ्राणा यतय एव संभवन्ति न त्वगारिणः, देशतोऽगारिणामपि क्षमादयो दृश्यन्ते, परं यथा साधूनां न तथाऽगारिणामिति ज्ञेयम्। एष च क्षमादिसमुदायः संवरं धारयतीति, संवरार्थश्च यतिना धार्यत इति धर्म्मो वा, एतावन्ति यतेर्धर्म्माङ्गानि तन्निष्पादितश्च यतिधर्म्म इति। तत्र क्षमा तितिक्षा सहिष्णुत्त्वं क्रोधनिग्रहः इत्यनर्थान्तरम्, कथञ्च क्षमितव्यमिति चेदुच्यते;—परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्याऽऽत्मनि भावचिन्तनादभावचिन्तनाद्वा क्षमितव्यम्, भावचिन्तना तावद् विद्यन्ते मय्येते दोषाः, किमत्राऽसौ मिथ्या ब्रवीतीति क्षमितव्यम्, अभावचिन्तनादपि क्षमितव्यं, नैते विद्यन्ते मयि दोषा यानज्ञानादसौ ब्रवीतीति क्षमितव्यम्। किञ्च क्रोधदोषचिन्तनाच्च क्षमितव्यम्, क्रुद्धस्य हि विद्वेषाऽऽसादनस्मृतिभ्रंशव्रतलोपा-

दयो दे भवन्तीति, तथाहि—क्रुद्धः कषायपरिणतो विद्वेषी सन् कर्म्म बध्नीते, परं वाऽमित्रं व्यापादयति अतः प्राणातिपातनिवृत्तिव्रतलोपस्स्यात्, गुरूनधिक्षिपेदतो निर्वाणसाधनानां ज्ञानादीनां परिहाणिरवश्यंभाविनी, कोपाकुलो वा भ्रष्टस्मृतिके मृषाऽपि भाषेत, विस्मृतप्रव्रज्याप्रतिपत्तिः परेणादत्तमप्याददीत, द्वेषात् परपाखण्डिनीषु ब्रह्मव्रतभङ्गमप्यासेवेत, तथा प्रद्विष्टः सहायबुद्ध्या गृहस्थेष्ववरतेषु मूर्च्छामपि कुर्यात्, क्रमेणोत्तरगुणपरिक्षयोऽपि स्यात्, इत्येतान् दोषान् परिभाव्य क्षमितव्यमिति। कि स्वकृतकर्म्मफलाभ्यागमोऽयं मम, निमित्तमात्रं पर इति क्षमितव्यम्, जन्मान्तरोपात्तस्य कर्म्मणो यदा विपाकस्तदाऽऽक्रोशति ताडयति परः, स तु निमित्तमात्रं कर्म्मोदयस्य, यस्माद्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावाऽपेक्षः कर्म्मणामुदयो भगवद्भिराख्यातः, स्वकृत कर्म्म भोक्तव्यमवश्यंतया निकाचितं तपसा वा क्षपणीयमिति क्षमितव्यम्। क्षमाया गुणाननायासादीन् ध्यात्वा क्षमितव्यम्, तच्चैवम्;—प्रद्विष्टस्तु प्रहरणसहायाऽन्वेषणसंरम्भावेशाऽऽरुणलोचनस्वेदद्रवप्रवाहप्रहारवेदनाऽऽत्मकाऽऽयासजन्यं कर्म्म प्रकृष्टतया बध्नाति, संसारगहनाटव्यां संबंभ्रमीति, क्षमाप्रधानस्य पूर्वोक्तलक्षणस्याऽऽयासस्य विरहात् स्वस्थेन भूयते, आयासनिमित्तककर्म्मराहित्यं संक्लिष्टचित्ताऽभावः भव्यानाऽऽव्यवसायित्वं स्तिमितप्रसन्नान्तरात्मत्त्वादयो गुणाः प्रादुर्भवन्ति, ततः क्षमितव्यमिति निष्कर्षः। इयं क्षमा पञ्चविधा;—सापराधिनमपि 'अयं मम उपकारी' इति क्षमते सा उपकारक्षमा १, भाविनमपायं विचिन्त्य शक्त्यभावाच्च या क्षमा सा अपकारक्षमा २, दुः लकः कर्मनिबन्धन कोप इति चिन्तापरा क्षमा विपाकक्षमा ३, स्वगर्हावचनश्रवणेनाऽपि न खिद्यते न च कस्मैचिदपि द्रुह्यतीति वचनक्षमा ४, परनिकारसामर्थ्यसद्भावेऽपि 'क्षमा एव आत्मधर्म्मः' इति बुद्धिपरा या सा धर्म्मक्षमा ५, सैव यद्यपि गरीयसी तथापि क्वचित् कदाचित् थञ्चित्

पूर्वोक्ताश्चतस्रोऽप्युपादेया इति १ ॥

अथ मार्दवं, तत्र मृदोर्भावो मार्दवं, अभ्युत्थानाऽऽसनदानाऽञ्जलिप्रग्रहयथार्हविनयकरणलक्षणं नीचैर्वर्त्तनम्, गर्वरूपचित्तपरिणामस्य विपर्ययोऽनुत्सेकश्च, तन्मार्दवस्य लक्षणम्, उक्तञ्च श्रीतत्त्वार्थभाष्ये;—"नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ मार्दवलक्षणम्, मृदुभावो मृदुकर्म्म मदनिग्रहो मानविघातश्चेति पर्यायाः । तत्र मानस्येमान्यष्टौ स्थानानि भवन्ति, तद्यथा—जातिः कुलं रूपं ऐश्वर्यं विज्ञानं श्रुतं लाभो वीर्यञ्चेति, 'एभिर्जात्यादिभिरष्टाभिर्मदस्थानैर्मत्तः पराऽऽत्मनिन्दाप्रशंसाऽभिरतस्तीव्राऽहंकारोपहतमतिरिहाऽमुत्र चाऽशुभफलं कर्म्मोपचिनोति' इत्युपदिश्यमानोऽपि मत्तः श्रेयो न प्रतिपद्यते, तस्मादेषां मदस्थानानां निग्रहो मार्दवं धर्म्म इति २ ।

संप्रत्यार्जवमभिधीयते;—कायवाङ्मनसां शाठ्यविरहितत्त्वं मायाप्रतिपक्षभूतं ऋजुभावः ऋजुकर्म्म आर्जवं भावदोषवर्जनमित्येकार्थकाः, मायावी तु कपटपटुप्रच्छादितकायत्त्वात् सर्वाऽभिशंकनीयः, 'भावदोषयुक्तो हि छद्मनिकृतिसंयुत इहाऽमुत्र च दुःखकफलकमकुशलं कर्म्म बध्नाति' इत्युपदिश्यमानोऽपि मायावी मुक्त्यसाधारणकारणसम्यग्दर्शनादिश्रेयो न श्रद्धत्ते, तस्मादार्जवं धर्म्म इति ३ ॥

तथा मोचनं बाह्याऽभ्यन्तरग्रन्थत्यजनं मुक्तिः, मुक्तिर्लोभपरित्यागः परिग्रहग्रहिलताऽभावादयः पर्यायाः, बाह्याऽभ्यन्तरोपधिशरीराऽन्नपानाद्याश्रयो परिष्वङ्गजन्यभावदोषपरित्यागो मुक्तिः, तथाविधमुक्तिविकलः परिग्रहग्रहिलस्तु इहाऽमुत्र च दुःखकफलकमकुशलं कर्म्म सञ्चिन्वन् सम्यगुपदिश्यमानोऽपि न श्रेयसे यतते, एवञ्च न धर्म्मः, तस्मान्मुक्तिर्यतिधर्म्मः, एवं स्वधिया सर्वत्रोह्यम् ४ ॥

तथा तपोधर्म्मो बाह्याऽभ्यन्तरभेदाद् द्विविधः, भेदौ तु पुरस्ताद् वक्ष्येते नैर्जराप्रसङ्गे तत्र तपतीति तपः 'कर्त्तर्यसुन्,' शरीरेन्द्रियतापनात् कर्म्मनिर्दहनाच्च तपोऽनशनादि, प्रकीर्णकं तपोऽनेकविधम्, तद्यथा–यववज्रमध्ये चन्द्रप्रतिमे द्वे, कनकरत्नमुक्तावल्यस्तिस्रः, सिंहविक्रीडिते द्वे, सप्तसप्तमिकाद्याः प्रतिमाश्चतस्रः, भद्रोत्तरमाचाम्लं वर्धमानं सर्वतोभद्रमित्यादि, तथा द्वादशभिक्षुप्रतिमा मासिकाद्या आसप्तमासिक्याः सप्त, सप्तरात्रिकयास्तिस्रः, अहोरात्रिकी रात्रिकी चेत्यादि ५ ।

तथा मनोवाक्कायानां प्रवचनप्रणीतविधिना संयमनं संयमः, एवं चिन्तयितव्यमेवं वक्तव्यमेवञ्च गन्तव्यमेवं स्थातव्यमिति नियमनं, स च सप्तदशविधः, यदाह वाचकमुख्यः;—'पञ्चाऽऽश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥ १ ॥' अथवाऽन्यथा सप्तदशविधत्वम्;—पृथ्वी[1]कायसंयमः, अप्[2]कायसंयमः, तेजः[3]कायसंयमः, वायुकाय[4]संयमः, वनस्पति[5]कायसंयमः, द्वीन्द्रिय[6]संयमः, त्रीन्द्रिय[7]संयमः, चतुरिन्द्रिय[8]संयमः, पञ्चेन्द्रिय[9]संयमः, प्रेक्ष्य[10]संयमः, उपेक्ष्य[11]संयमः, प्रमार्जना[12]संयमः, अप्रमार्जना[13]संयमः, मनःसंयमः[14], वाक्संयमः[15], काय[16]संयमः, अजीवकाय[17]संयमश्चेति, तत्र पृथिवीकायिकानां जीवानां मनोवाक्कायकृतकारितानुमतिभिः संघट्टपरितापव्यापादनवर्जनं पृथ्वीकायसंयमः, एवमप्कायसंयमादयोऽपि यावत् पञ्चेन्द्रियसंयम इति । चक्षुषा निर्जीवस्थंडिलाद्यवलोक्य स्थानाद्यासेवनं प्रेक्ष्यसंयमः, व्यापार्यान् साध्वादीन् प्रवचनविहितासु क्रियासु व्यापारयतोऽव्यापार्यान् गृहस्थादींश्च संयमव्यापारेष्वव्यापारयत उपेक्षमाणस्यौदासीन्यं भजतः संयमो भवतीति उपेक्ष्यसंयमः, व्यापार्याऽव्यापार्यसंयमो वाऽपराभिधानः, प्रमार्जनाऽप्रमार्जनासंयमौ च स्थंडिलाऽस्थंडिलाभ्यामस्थण्डिलस्थण्डिलयोस्संक्रामतो रजोहरणेन चरणौ सागारिकाऽसद्भावसद्भावे प्रमार्जनाऽप्रमार्जने समाचरते त्रेद्धव्यौ, मनसोऽभिद्रोहाऽभिमानादि-

निवर्त्तनं धर्म्मध्यानादिप्रवर्त्तनञ्च मनःसंयमः, एवं वाक्कायसंयमावपि दुष्टाऽदुष्टनिवृत्तिप्रवृत्तिभ्यां वाच्यौ, अजीवकायसंयम इत्युपकरणसंयमः, स च पुस्तकादिः, तत्र यदा ग्रहणधारणाशक्तिसंपन्नाजोऽभूवन् दीर्घायवश्चासन् मुनयस्तदा नास्ति प्रयोजनं पुस्तकैः, दुःषमानुभावात्तु परिहीणे ग्रहणधारणादिभिरस्ति निर्युक्त्यादिपुस्तकग्रहणाऽनुज्ञा, इत्येवं यथाकालमपेक्ष्याऽसंयमस्संयमो वा भवति सोऽजीवकायसंयम उपकरणसंयमो वा, इति संयमधर्म्मस्सप्तदशविधः। अत्र तपश्च संयमश्च तपस्संयमं इति कृतद्वन्द्वे ऐकपद्यं ज्ञेयमिति, 'बोद्धव्वे' इति बोद्धव्यौ विज्ञेयावित्यर्थः ॥

तथा सन्तो मुनयः पदार्था वा तेभ्यो हितं सत्यम्, सति वा विद्यमानेऽर्थे भवं वचस्सत्यम्; तदपि चतुर्विधम्, यथोक्तं वाचकमुख्येन 'अविसंवादनयोगः, कायमनोवागजिह्मता चैव। सत्यं चतुर्विधं तच्च, जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र' ॥ १ ॥ न च विद्यमानाऽर्थगोचरतया लुब्धकाय मृगाऽऽख्यानमपि सत्यमिति वाच्यं, तस्याऽनेकधर्म्माऽध्यासितस्य विद्यमानत्वेन विवक्षणात्, सद्भ्यो हितमित्यात्मिकां व्युत्पत्तिमनुसृत्य सर्वत्र चिन्त्यमिति, उक्तञ्च भाष्ये;—"तदनृतमपरुषमपिशुनमनसभ्यमचपलमनाविलमविरलमसंभ्रान्तं मधुरमभिजातमसंदिग्धं स्फुटमौदार्ययुक्तमग्राम्यपदार्थाभिव्याहारमसीभरमरागद्वेषयुक्तं सूत्रमार्गानुसारप्रवृत्तार्थमर्थ्यमर्थिजनभावग्रहणसमर्थमात्मपराऽनुग्राहकं निरुपधं देशकालोपपन्नमनवद्यमर्हच्छासनप्रशस्तं यतं मितं याचनं पृच्छनं प्रश्नव्याकरणम्" इति सत्यं धर्म्मः।

१ अविमर्दकरम्, आश्वेवप्रस्तुतार्थपरिसमाप्तिकारि इत्यर्थः। २ गणधरादिग्रथितं सूत्रं तस्य यो मार्ग उत्सर्गापवादलक्षण इति। ३ अन्येन पृष्टः प्रवचनाऽविरुद्धं व्याकरोति ॥

'शौचम्' इति, शुचिर्निर्मलः, निष्कल्मषः, तद्भावः शौचम्, तच्च द्रव्यभावभेदाद्द्विधा–तत्र द्रव्यशौचं प्रासुकैषणीयजलादिना शरीरगतमहाव्रणप्रक्षालनादि, भावशौचं तु मनोनिरभिष्वङ्गता धर्म्मसाधनरजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टकपात्रादिष्वप्यनासक्तिरिति तात्पर्यम्।

'अकिंचण' इति नास्य किञ्चनमस्तीत्यकिञ्चनः, तस्य भाव आकिञ्चन्यम्, शरीरधर्म्मोपकरणादिषु निर्ममत्त्वम्, तत्र शरीरमाश्रयमात्रमात्मनो यदा कदाचिद्यत्र कुत्रचित्त्यजनीयं चेदमशुचित्त्वङ्मांसाऽस्थिपञ्जरं च केवलं धर्म्मसाधनचेष्टायाः संयमभरक्षमायाः साहाय्ये वर्त्तते तदिदं शकटाक्ष इवोपाञ्जनेनाऽऽहारादिनोपष्टम्भनीयम्, नत्त्ववयवसन्निवेशशोभार्थं ममाऽत्रायमादर इति बुद्ध्या परिपाल्यमानेऽत्र मूर्च्छाऽभावत्त्वम्, धर्म्मोपकरणेऽपि रजोहरणादौ प्राणिरक्षाहेतुप्रमार्जनादिक्रियासाधने धार्यमाणेऽपि निर्ममत्त्वं प्रतीतम्।

'बंभं' इति ब्रह्म ब्रह्मचर्यं मैथुनवर्जनमितियावत्, यद्यपि मनोज्ञाऽमनोज्ञविषयरागविरागत्यागो ब्रह्मचर्यं, बृहत्त्वादात्मा ब्रह्मा, तस्य वृत्तिरात्मनि ब्रह्मचर्यमाख्यातं, ब्रह्मणि चरणमात्मारामत्त्वमरक्तद्विष्टाऽऽत्मनि व्यवस्थानमिति वचनात्, तथापि मैथुनवर्ज्जनमेव प्रधानत्त्वेन ब्रह्मचर्यम्, तत्परिपालनाय भगवद्भिर्वसतिकथानिषद्येन्द्रियकुड्यंतरपूर्वक्रीडितप्रणीताऽऽहारातिमात्रभोजनविभूषणाऽऽख्यगुप्तिनवकप्रतिपादनाद् गुरुकुलवासनियमनाच्चेति, तथा च भाष्यम्;—व्रतपरिपालनाय ज्ञानाऽभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यमस्वातन्त्र्यं गुर्वधीनत्त्वं गुरुनिर्देशस्थायित्त्वमित्यर्थ" ब्रह्मचर्यार्थं गुरुकुलवासोऽवश्यमुपादेयः, यतो 'नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति' ।१।

गुरुविरहितस्य हि परिणामवैचित्र्याद्विकथादिदोषादसज्जनसम्पर्कात् सद्य एव मोक्षमार्गाद् भ्रंशः स्यात्, तस्मादाप्रा-णितादृ गुरुकुलवासः श्रेयः, गुरुकुलवासेन वा स्वतंत्रीकृतस्य ज्ञानदर्शनचरणव्रतभावनागुप्त्यादिपरिवृद्धिः, अत एव साधोर्द्धि-संगृहीततत्वमाचार्योपाध्यायाभ्यां निर्ग्रन्थ्यास्तु प्रवर्त्तिनी संगृहीतत्त्वं चेत्यलमतिविस्तरेण । इतिदशविधो यतिधर्म्मः ॥ २९ ॥

साम्प्रतं गाथायुगलेन क्रमप्राप्ता भावना नामग्राहमाचष्टे;–

पढममणिच्चमसरणं, संसारे एगया य अण्णत्तं। असुइत्तं आसव, संवरे य तह णिज्जरा नवमी ॥३१॥

लोगसहावो बोही, य दुल्लहा धम्मस्स साहगा अरिहा । एयाओ भावणाओ भावेयव्वा पयत्तेणं ॥३२॥

टीका;—' पढमं ' इति, गाथाक्षरार्थस्सुगमः । ननु भावनेति शब्दस्य कोऽर्थः ? उच्यते;–इष्टवियोगाऽनिष्टसंयोगादि-प्रसङ्गेषु मा भूत् आत्मनि दौस्थ्यमिति चित्तस्थिरीकरणार्थं भाव्यन्ते अनुप्रेक्ष्यन्त इति भावना अनुप्रेक्षा इत्यर्थः । तत्र शरी-रशय्याऽऽसनवस्त्रादीनि बाह्याऽभ्यंतराणि द्रव्याणि सर्वसंयोगाश्चाऽनित्याः, " तडित्तरलजीवितं, क्षणदृष्टं यौवनं, जरारोगभ-ङ्गुरं शरीरं, सन्ध्यारागाऽस्थिरं रूपम्, वियोगपर्यवसानाः क्षणमात्ररमणीया इष्टसंयोगाः, कुशाग्रोदकविन्दुचञ्चला लक्ष्म्यः " एवं चिन्तयत आत्मनस्तेषु बाह्याऽभ्यन्तरसंयोगेष्वभिष्वङ्गो न भवति, तद्वियोगजं दुःक्खमपि न स्यादिति प्रथमाऽनित्यभावना १ । शारीरमानसाऽनेकदुःक्खदंदह्यमानस्य प्राणिसार्थस्य शरणं भयाऽपहारि स्थानं तदभावोऽशरणता, यथा निराश्रये जनवि-रहिते वनस्थलीतले बलवता क्षुधालुनाऽऽमिषैषिणा सिंहेनाऽभ्याहतस्य मृगशिशोः शरणं न विद्यते एवं जन्मजरामरणव्याधि-

प्रियविप्रयोगाऽप्रियसंप्रयोगेप्सिताऽलाभदारिद्र्यदौर्भाग्यदौर्मनस्यमरणादिसमुत्थेन दुःखेनाऽभ्याहतस्य जन्तोस्संसारेऽर्हन्तमृते शरणं न विद्यते किञ्चिदिति चिन्तयेत्, एवं नित्यमशरणोऽस्मीति चिन्तयतो नित्योद्विग्नस्य भव्याऽऽत्मनः सांसारिकेषु भावेष्वभिष्वङ्गो न भवति, अर्हच्छासनमेव परं शरणमित्यशरणभावना २ ॥ 'संसारो' इति, संसरणं संसारः, संसरन्ति वा पर्यटन्ति अनादिकर्मसन्तानतन्तुसङ्घातबद्धा जन्तवो नारकतिर्यङ्नराऽमरपर्यायैरस्मिन्निति संसारः, तत्स्वरूपपर्यालोचनम्—अनादौ संसारे नरकतिर्यग्योनिमनुष्याऽमरभवग्रहणेषु चक्रवत् परावर्त्तमानस्य जन्तोः सर्वे एव स्वजनाः परजना वा, न हि स्वजनपरजनयोर्व्यवस्था विद्यते, माता हि भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति, भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति, भार्या भूत्वा माता दुहिता भगिनी च भवति, दुहिता भूत्वा माता भार्या भगिनी च भवति, तथा पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति, पुत्रो भूत्वा पिता भ्राता पौत्रश्च भवति, पौत्रो भूत्वा पिता भ्राता पुत्रश्च भवति। भर्त्ता भूत्वा दासो भवति, दासो भूत्वा भर्त्ता भवति। शत्रुर्भूत्वा मित्रं भवति, मित्रं भूत्वा शत्रुर्भवति पुमान् भूत्वा स्त्री भवति नपुंसकं च, स्त्री भूत्वा पुमान् नपुंसकं भवति, नपुंसकं भूत्वा स्त्री पुमांश्च भवति एवं चतुरशीतियोनिप्रमुखशतसहस्रेषु रागद्वेषमोहाभिभूतैर्जन्तुभिरनिवृत्तविषयतृष्णैरन्योऽन्यभक्षणाऽभिघातवधबन्धाऽभियोगाऽऽक्रोशादिजनितानि तीव्राणि दुःखानि प्राप्यन्ते, अहो द्वन्द्वाऽऽरामः[1] कष्टस्वभावः संसार इति चिन्तयेत्, 'समस्तलोकाऽऽकाशेऽपि नानारूपैः स्वकर्म्मतः। वालाग्रमपि तन्नास्ति यन्न स्पृष्टं शरीरिभिः' । इति ध्यानपरस्य संसारभयोद्विग्नस्य निर्वेदो भवति, निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय घटत इति

[1] द्वन्द्वेषु शीतोष्णसुखदुःखादिरूपेष्वारमणं यस्मिन्निति ।

तृतीया संसारभावना ॥ ३ ॥

'एगया य' इति एकता, एकोऽसहायस्तद्भाव एकता, एक एवाऽहं न मे कश्चित्स्वः परो वा विद्यते, एक एवाहं जाये, एक एवाहं म्रिये, न मे कश्चित्स्वजनसंज्ञः परजनसंज्ञो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति प्रत्यंशहारी वा भवति, एक एवाऽहं स्वकृतकर्म्मफलमनुभवामीति चिन्तयेत्, एवं ह्यस्य चिन्तयतः स्वजनसंज्ञकेषु स्नेहानुरागप्रतिबन्धो न भवति परसंज्ञकेषु च न द्वेषाऽनुबन्धः, ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव यतत इत्येकत्त्वाऽनुप्रेक्षा उक्तञ्च;—एकः पापात् पतति नरके याति पुन्यात् स्वरेकः,पुन्यापुन्यप्रचयविगमात् मोक्षमेकः प्रयाति। एवं ज्ञात्वा चिरमवितथां निर्ममत्त्वस्य हेतो-रेकत्त्वाख्यामविहतधियो भावनां भावयन्तु॥१॥३॥ 'अन्नत्तं' इति, अन्योभिन्नस्तद्भावोऽन्यत्त्वम्, तदन्यत्त्वभावना, शरीरव्यतिरेकेणात्मानमनुचिन्तयेत्, अन्यच्छरीरमन्योऽहम्, इन्द्रियगोचरं शरीरमतीन्द्रियोऽहम्, अनित्त्यं शरीरं नित्योऽहम्, अज्ञं शरीरं ज्ञोऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरमनाद्यनन्तोऽहम्, बहूनि च मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः, स एवायमहमन्यस्तेभ्य इत्यनुचिन्तयेत्, एवं हि चिन्तयतः शरीरप्रतिबन्धो न भवतीति अन्यश्च शरीरान्नित्योऽहमिति निःश्रेयसे संघटत इत्यन्यत्त्वाऽनुप्रेक्षा तथा चोक्तम्;—'ममेतिमतिमाश्रिताः परतरेऽपि वस्तुन्यहो, निबध्य दधतेतरां स्वमिह कोशकारा इव। विविच्य तदिदं मुहुर्वितथभावनावर्जनाद्, भजेत ममताच्छिदे सततमन्यत्त्वभावनाम्' ॥ १ ॥ ४ ॥ 'असुइत्तं' इति शुचि मलरहितं न शुचि अशुचि, तद्भावोऽशुचित्त्वम्, तच्चैवम्;-अशुचि खल्विदं शरीरमिति चिन्तयेत्, तत्र तावच्छरीरस्याऽऽद्यं कारणं शुक्रं शोणितं च, तदुभयमत्यन्ताऽशुचि, तद्यथा-कवलाऽऽहारो हि ग्रस्तमात्र एव श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतोऽत्यन्ताऽशुचिर्भवति, ततः पित्ता-

शयं प्राप्य पच्यमानोऽम्लीकृतोऽशुचिरेवभवति, पक्वो वाय्वाशयं प्राप्य वायुना विभज्यते पृथक् खलः रसः, खलान् मूत्रपुरीषादयो मलाः प्रादुर्भवन्ति, रसाच्छोणितं, शोणितान्मांसं, मांसान्मेदः, मेदसोऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जाभ्यश्च शुक्रं परिणमतीति, सर्वं चैतत् श्लेष्मादिशुक्रान्तमशुचिर्भवति, एतेषामशुचिद्रव्याणां पदं कायः, ततः तस्मिन् कायेऽशुचित्त्वस्य को विवादः ? पुरुषाणां नेत्र–श्रोत्र–नासा–मुख–पायू–पस्थेभ्यो नवभ्यः स्त्रीणां तु पयोधरयुगलयोनिसहितेभ्यो द्वादशभ्यः स्रोतोभ्यो निरन्तरमामगन्धि रसः स्यन्दते, एतादृशेऽपि काये यः शौचसङ्कल्पः स केवलं मोहविजृम्भितम्, स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासयुक्तिमाल्यादिभिरपि अस्य शरीरस्याऽशुचित्त्वमशक्यप्रतिकारं खलु, सुरभिद्रव्याण्यपि अशुचिशरीरसम्पर्काद्दुर्गन्धीनि जायन्ते, तस्मादशुचि शरीरमिति चिन्तयतो भव्याऽऽत्मनः शरीरनिर्वेदो भवति, निर्विण्णश्च शरीरप्रहाणाय घटत इत्यशुचित्त्वभावना उक्तश्च;—शरीरकस्यैवमशौचभावनां मदाऽभिमानस्मरसाददायिनीम् । विभावयन् निर्ममता महाभरं वोढुं दृढस्स्याद् बहुनोदितेन किम् ? ॥ १ ॥ ६ ॥ 'आसव' इति, आश्रूयते कर्म्मोपादीयते येन स आश्रव । इन्द्रियादिप्राग्व्याख्यातस्वरूपः, 'आसव' इति विभक्तिको निर्देशः । इहाऽमुत्राऽपाययुक्तान् महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णान् अकुशलाऽऽगमकुशलनिर्गमद्वारभूतानिन्द्रियादीनाश्रवान् जीवस्याऽऽत्मधनलुम्पकत्वेन चिन्तयेत्, तद्यथा;—स्पार्शनेन्द्रियप्रसक्तचित्तः सिद्धोऽनेकविद्याबलसंपन्नोऽप्याकाशगोऽष्टाङ्गमहानिमित्तपारगो गार्ग्यः सत्यकिर्निधनं जगाम । तथा स्पर्शनमैथुनसुखप्रसङ्गाहितगर्भाऽश्वतरी प्रसवकाले प्रसवितुमशक्नुवन्ती तीव्रदुःक्खाभिहताऽवशा मरणमभ्युपैति । स्वेच्छाविहारिणो मदोत्कटा बलवन्तो हस्तिनोऽपि हस्तिबन्धकीषु स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्तचेतस्का ग्रहणमुपगच्छन्ति तीव्राणि दुःक्खान्यनुभवन्ति च, एवं सर्वे एव स्पर्शनेन्द्रियाऽऽसक्ता इहामुत्र च

वे निपातमृच्छन्ति। तथा रसनेन्द्रियप्रसक्ताः मांसपेशिलुब्धश्येनवत् बडिशामिषगृद्धमत्स्यवद् हेमन्तोद्भवशीतघनीभूतघृतकुम्भ-प्रवेष्टमूषकवद् विनिपातं प्रयान्ति। तथा घ्राणेन्द्रियप्रसक्ता औषधिगन्धलुब्धपन्नगवत् पुष्पपरागरक्तमधुकरवन्निधनं यान्ति। तथा चक्षुरिन्द्रियप्रसक्ताः स्त्रीदर्शनप्रसङ्गादर्जुनकचौरवद् दीपाऽऽलोकलोलपतङ्गवद्विनिपातमृच्छन्ति। तथा श्रोत्रेन्द्रियप्रसक्ता गीतसंगीतध्वनिलोलमृगवद् विनिपातं गच्छन्ति। एवं हि चिन्तयन्नास्रवनिरोधाय घटत इत्यास्रवाऽनुप्रेक्षा। उक्तञ्च;—'मनोवाक्कायकर्म्माणि योगाः कर्म्मशुभाऽशुभम्। यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्त्तिताः' ॥ १ ॥ ७ ॥ 'संवरो' इति व्याख्यायमानलक्षणो जन्मजरामरणक्लेशादिनिबन्धनपापपटलोपार्जननिवारणहेतुर्ध्यायमानः संवरः, सर्वे ह्येते आस्रवदोषाः संवृताऽऽत्मनो न भवन्तीति चिन्तयेत्, एवञ्च संवरायैव मतिर्घटत इति संवरभावना, उक्तञ्च;—'एवमाश्रवनिरोधकारणं संवरः प्रकटितः प्रपञ्चतः। भावनागणशिरोमणिस्त्वयं भावनीय इह भव्यजन्तुभिः' ॥ १ ॥ ८ ॥ 'तह णिज्जराणवमी' इति, तथा निर्जरा नवमी भावना, द्वादशभावनानां मध्ये संवरभावनां यावदष्टभावनाः प्राक् प्रकीर्त्तिता इयञ्च नवमी निर्जरा भावनेत्यर्थः। निर्जरा वेदना विपाक इति पर्यायाः, तत्र निर्जरणं निर्जरा आत्मप्रदेशेभ्योऽनुभूतरसकर्म्मपुद्गलपरिशाटः, सा निर्जरा द्वेधा, सकामनिर्जरा अकामनिर्जरा च, तत्र 'निर्जरा मे भूयाद्' इत्याभिलाषेण युक्ता सकामा, न पुनरिहलोकपरलोक-फलादिकामेन युक्ता, तस्याः 'नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा' इत्यादिना निषिद्धत्त्वात्, सा च सकामनिर्जरा यतीनां विज्ञेया, ते हि निर्जरापरमकारणं तपः कर्मक्षयार्थं तप्यन्ते। अन्या तु कर्मक्षयलक्षणफलनिरपेक्षा अकामनिर्जरा यतिव्यति-रिक्तानां नरकतिर्यङ्मनुष्याऽमराणां विज्ञेया। अस्मिन् भावनाप्रकरणे तु सकामनिर्जरा गुणतोऽनुचिन्तनीया, एवमनु-

चिन्तयन् कर्म्मनिर्जरणायैव घटत इति नवमी निर्ज्जराऽनुप्रेक्षा । ९ ।

'लोगसहावे' इति लोक्यते दृश्यते केवलज्ञानचक्षुषा तीर्थकरादिभिरिति लोकः पञ्चाऽस्तिकायाऽऽत्मकः । तदुक्तं;— 'धर्म्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां यत्र भवति तत्क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाऽऽख्यम्' ॥ १ ॥ कटिस्थकरवैशाखसंस्थान उत्पत्तिस्थितिव्ययाऽऽत्मक पञ्चाऽस्तिकायमय ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदभिन्नश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणो लोकः । तत्र किञ्चिदूनसप्तरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वलोकः, किञ्चित्साधिकसप्तरज्जुमानोऽधोलोकः, अष्टादशयोजनप्रमितस्तिर्यग्लोकः, मल्लकसमुद्गकाकृतिरूर्ध्वलोकः, अधोमुखमल्लकसंस्थानोऽधो लोकः, स्थालाऽऽकारस्तिर्यग्लोकः, इह चोर्ध्वाऽधस्तिर्यग्लोकव्यवस्था मेरुमध्यगतोर्ध्वाऽधोऽष्टरुचकप्रदेशापेक्षया बोद्धव्या, यदाहुः—"अट्ठपएसो रुयगो तिरियलोगम्मि मज्झयारंमि । एस पहवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं" ॥ १ ॥ तत्र रुचकादुपरि अधश्च नव नव योजनशतानि तिर्यग्लोक इत्युक्तेऽष्टादशयोजनप्रमाणः, तिर्यग्लोकादधो नवयोजनशतेन सप्तरज्जुप्रमाणोऽधो लोकः, तत्र रत्नप्रभाशर्कराप्रभावालुकाप्रभापङ्कप्रभाधूमप्रभातमःप्रभातमस्तमप्रभाख्यगोत्राऽभिधानाः घर्म्मा-वंशा-शैलाऽञ्जना-रिष्टा-मघा-माघवती-संज्ञाः सप्तपृथिव्यः घनोदधिघनवाततनवाताऽऽकाशवलयपरिवेष्टिताः । तत्र रत्नप्रभायां पृथिव्यामशीतिसहस्राधिकयोजनलक्षबाहल्यायामुपर्यधश्च योजनसहस्रं मुक्त्वा मध्येऽष्टसप्ततिसहस्राऽधिके योजनलक्षे भवनपतीनां भवनानि, ते चाऽसुर-नाग-विद्युत्-सुपर्णाऽग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः चूडामणि-फणि-वज्र-गरुड-घटाऽश्व-वर्धमान मकर-सिंह-हस्ति-चिन्हाः दक्षिणोत्तरदिग्व्यवस्थिताः प्रतिनिकायदक्षिणोत्तरदिग्विभागमाश्रित्य इन्द्रद्वयापेक्षया इन्द्रविंशतिस्वामित्वसमलंकृताश्चेति अस्यामेव रत्नप्रभायामुप-

रेतनयोजनसहस्रस्याध उपरि च योजनशतं मुक्त्वा मध्येऽष्टासु योजनशतेष्वष्टविधानां पिशाचभूतयक्षराक्षसकिन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वाणां कदम्बवृक्षसुलसवृक्षवटवृक्षखट्वाङ्गाऽशोकवृक्षचम्पकवृक्षनागवृक्षतुम्बरुवृक्षचिन्हानां तिर्यग्लोकवासिनां व्यन्तराणां नगराणि, तेष्वपि दक्षिणोत्तरदिग्व्यवस्थितेषु द्वौ द्वाविन्द्रौ सर्वसंख्यया षोडश। रत्नप्रभायामेव प्रथमस्य शतस्याध उपरि च दशदश योजनानि मुक्त्वा मध्येऽशीतौ योजनेषु 'अणपन्निअ पणपन्निअ' प्रभृतयस्तथैव दक्षिणोत्तरदिग्व्यवस्थिता अष्टौ व्यन्तरनिकायाः, तथैव द्वौ द्वाविन्द्रौ।

तथा रत्नप्रभायाः पृथिव्याः समतलादुपरि सप्तसु नवत्यधिकेषु योजनशतेषु ज्योतिषामधस्तलप्रदेशः, तदुपरि दशयोजनेषु सूर्यः, तदुपर्यशीतियोजनेषु चन्द्रः तदुपरि विंशतियोजनेषु तारा ग्रहाश्च, एवमयं ज्योतिर्लोको दशोत्तरं योजनशतं बाहल्येन, एकादशभिर्योजनशतैरेकविंशत्युत्तरैर्जम्बूद्वीपस्थमेरुमस्पृशन् सर्वासु दिक्षु मण्डलिकया व्यवस्थितं ज्योतिश्चक्रं ध्रुववर्जं भ्राम्यति, लोकान्तं च एकादशभिर्योजनशतैरेकादशोत्तरैरस्पृशन् मण्डलिकया तिष्ठति। अत्र सर्वोपरि किल स्वातिनक्षत्रम्, सर्वेषामधो भरणीनक्षत्रम्, सर्वदक्षिणो मूलः सर्वोत्तरश्चाभिचिः। तत्र जम्बूद्वीपे द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यौ, लवणसमुद्रे चत्वारश्चन्द्राः सूर्याश्च, धातकीखण्डे द्वादशचन्द्राः सूर्याश्च, कालोदे द्विचत्वारिंशचन्द्रा सूर्याश्च, पुष्करवरार्धे द्वासप्ततिश्चन्द्राः सूर्याश्च, एवं मनुष्यलोके द्वात्रिंशंचन्द्रशतं सूर्यशतं च भवति, अष्टाशीतिर्ग्रहाः अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि षट्षष्टिसहस्राणि नवशतोत्तरपञ्चसप्तत्यधिकानि कोटाकोटिप्रमाणानि तारकाणि चैकैकस्य चन्द्रमसः परिग्रहः। तत्र एकषष्टिभागीकृतस्य योजनस्य षट्पञ्चाशद्भागा आयामविष्कम्भाभ्यां

१ मेरुमध्यगताष्टरुचकप्रदेशाऽपराभिधानसमभूतला पृथ्वी तदेव समतलम् ॥

चन्द्रविमानम्, अष्टचत्वारिंशद्भागाः सूर्यविमानं, ग्रहाणामर्धयोजनं, नक्षत्राणां गव्यूतं, आयुषा सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्धक्रोशः, सर्वजघन्यायाः पञ्चधनुःशतानि, बाहल्यं तु सर्वेषामायामस्यार्धम्। एते च पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमिते मनुष्यक्षेत्रे भवन्ति। चन्द्रादिविमानवाहनानि च पुरतः सैंहाः, दक्षिणतो गजाः, अपरतो वृषभाः, उत्तरतोऽश्वाः ते चाऽभियोगिकदेवाश्चन्द्र-सूर्ययोः प्रत्येकं षोडशसहस्राणि भवन्ति, ग्रहाणामष्टौ, नक्षत्राणां चत्वारि, तारकाणां द्वे, ते च स्वयमेव प्रवृत्तगतीनामपि चन्द्रादीनामाभियोग्यकर्मवशात्तत्रोपतिष्ठन्ति। मानुषोत्तरात् परतः पञ्चाशता योजनसहस्रैः परस्परमन्तरिताः सूर्यान्तरिताश्चन्द्राः चन्द्रान्तरिताः सूर्याः मनुष्यक्षेत्रीयचन्द्रसूर्यप्रमाणादर्धप्रमाणा यथोत्तरं क्षेत्रपरिधिवृद्ध्या संख्यया वर्धमानाः शुभलेश्या ग्रहनक्षत्रतारापरिवारा घण्टाकारा असंख्येया आस्वयंभूरमणाल्लक्षयोजनान्तरिताभिः पङ्क्तिभिस्तिष्ठन्तीति।

मध्यलोके तु जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्रा असङ्ख्याता द्विगुणद्विगुणविस्ताराः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः। प्रथमो जम्बूद्वीपः, अन्त्यः स्वयम्भूरमणसमुद्रः, जम्बूद्वीपमध्ये मेरुः काञ्चनस्थालमिव वृत्तो योजनसहस्रमधो धरणितलमवगाढो, नवनवतियोजनसहस्रमुच्छ्रूतो दशयोजनसहस्राणि सातिरेकनवत्यधिकानि कन्दे विस्तृतो, धरणितले दशयोजनसहस्राणि विस्तृतः उपरि योजनसहस्रविस्तृतः, त्रिकाण्डः, त्रैलोक्यव्यवस्थितः, चतुर्भिर्वनैर्भद्रशालनन्दनसौमनसपाण्डुकैः परिवृतः। तत्र शुद्धपृथिव्युपलवज्रशर्कराबहुलं योजनसहस्रमेकं प्रथमं काण्डं, द्वितीयं त्रिषष्टियोजनसहस्राणि रजतजातरूपाङ्कस्फटिकबहुलं, तृतीयं षट्त्रिंशद्योजनसहस्राणि जाम्बूनदबहुलं, वैडूर्यबहुलाऽस्य चूलिका चत्वारिंशद्योजनानि उच्छ्रयेण, मूले द्वादश विष्कम्भेण, मध्येऽष्टौ, उपरि चत्वारीति। मेरोर्मूलभूमौ वलयाकृति भद्रशालवनं, भद्रशालवनात् पञ्चभ्यो योजनश-

तेभ्य ऊर्ध्वं पञ्चयोजनशतविस्तारं मेखलायां वलयाकृति नन्दनवनं, ततः सार्धद्विषष्टियोजनसहस्रेभ्य ऊर्ध्वं द्वितीयमेखलायां पञ्चयोजनशतविस्तारं वलयाकृति सौमनसं वनं, ततोऽपि षट्त्रिंशद्योजनसहस्रेभ्य ऊर्ध्वं तृतीयमेखलायां चतुर्नवत्यधिकचतुर्योजनशतविस्तारं वलयाकृति मेरोः शिरसि पाण्डकवनम् ॥

जम्बूद्वीपे सप्तवर्षाणि, तत्र दक्षिणतो भरतक्षेत्रं, तदुत्तरतो हैमवतं, ततोऽपि हरिवर्षं, ततोऽपि विदेहाः ततोऽपि रम्यक्क्षेत्रम्, ततोऽपि हैरण्यवतं, ततोऽप्यैरावतमिति । क्षेत्रविभागकारिणस्तु हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः । तत्र भरते गङ्गासिन्धू महानद्यौ, हैमवते रोहितांशारोहिते, हरिवर्षे हरिकान्ताहरिते, महाविदेहे शीताशीतोदे, रम्यके नारीनरकान्ते, हैरण्यवते सुवर्णकूलारूप्यकूले, ऐरवते रक्तारक्तोदे । प्रथमाः पूर्वगा द्वितीयाः पश्चिमगाः, तत्र चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृते प्रत्येकं गङ्गासिन्धू, यथोत्तरं द्विगुणनदीपरिवृते द्वे द्वे नद्यौ शीताशीतोदाभ्यामर्वाक्, ते तु प्रत्येकं द्वात्रिंशत्सहस्राधिकपञ्चलक्षनदीपरिवृते । उत्तरास्तु दक्षिणाभिस्तुल्याः । भरतक्षेत्रं विष्कम्भतः पञ्चयोजनशतानि षड्विंशानि एकोनविंशतिभागीकृतस्य योजनस्य षड्भागाः, तद्द्विगुणविष्कम्भा यथोत्तरं वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः । उत्तरा दक्षिणतुल्याः ।

जम्बूद्वीपस्य प्राकारभूता वज्रमयी अष्टयोजनोच्छ्राया जगती, द्वादशयोजनान्यस्या मूले विष्कम्भः, मध्येऽष्टौ योजनानि, उपरि चत्वारि योजनानि, तदुपरि द्विगव्यूत्युच्छ्रायो जालकटको विद्याधरक्रीडास्थानम् । तस्याप्युपरि पद्मवरवेदिका देवभोगभूमिः । अस्याश्च जगत्याः पूर्वादिषु दिक्षु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजिताऽऽख्यानि चत्वारि द्वाराणि ॥

तथा जम्बूद्वीपपरिक्षेपी तद्द्विगुणविस्तारः योजनसहस्रावगाढो मध्ये दशसहस्रविस्तारे षोडशयोजनसहस्रोच्छ्रायशिखरो

लवणोदः समुद्रः। लवणोदधिपरिक्षेपी तद्द्विगुणो धातकीखण्डः धातकीखण्डपरिक्षेपी अष्टयोजनलक्षविष्कम्भः कालोदः समुद्रः। कालोदपरिक्षेपी तद्द्विगुणविस्तारः पुष्करवरद्वीपः, तदर्धं यावन्मानुषं क्षेत्रम्। ततः परं मानुषोत्तरो नाम पर्वतो मानुषलोकपरिक्षेपी महानगरप्राकारवृत्तः पुष्करवरद्वीपार्धविनिविष्टः काञ्चनमयः सप्तदशयोजनशतान्येकविंशत्युच्छ्रितः चत्वारि योजनशतानि त्रिंशानि क्रोशं चाधो धरणितलमवगाढो योजनसहस्रं द्वाविंशमधस्ताद्विस्तृतः सप्तयोजनशतानि त्रयोविंशानि मध्ये चत्वारि योजनशतानि चतुर्विंशान्युपरि। न कदाचिदस्मात्परतो मनुष्या जायन्ते म्रियन्ते वा। येऽपि चारणविद्याधरर्द्धिप्राप्ता मनुष्यास्तमुल्लङ्घ्य परतोगतास्तेऽपि तत्र न म्रियन्ते। अतएव मानुषोत्तर इत्युच्यते। न च तत्परो बादराऽग्निमेघविद्युन्नदीकालपरिवेषादयः। मानुषोत्तरादर्वाक् पुनर्जन्मतो मनुष्या पञ्चचत्वारिंशत्क्षेत्रेषु सान्तरद्वीपेषु भवन्ति, संहरणविद्यार्द्धियोगात्तु सर्वेष्वर्द्धतृतीयेषु द्वीपेषु समेर्वादिशिखरेषु समुद्रद्वये चेति॥

मानुषोत्तरात्परतस्तु पुष्करवरद्वीपस्यार्धं द्वितीयम् पुष्करवरद्वीपात् परतस्तत्परिक्षेपी द्वीपद्विगुणविस्तारः पुष्करोदः समुद्रः, ततो वारुणिवरद्वीपसमुद्रौ, क्षीरवरद्वीपसमुद्रौ, घृतवरद्वीपसमुद्रौ, इक्षुवरद्वीपसमुद्रौ च भवतः। अष्टमो नन्दीश्वरद्वीपः, स च चतुरशीतिलक्षोपेतत्रिषष्टिकोट्यधिकयोजनकोटिशतप्रमाणवलयविष्कम्भो विविधविन्यासोद्यानवान् देवलोकप्रतिस्पर्द्धी जिनेन्द्रपूजाव्यापृतदेवसंपाताभिरुचिरः स्वेच्छाविविधक्रियादेवसंभोगरम्यः। नन्दीश्वरद्वीपपरिक्षेपी नन्दीश्वरः समुद्रः, ततः परमरुणो द्वीपः अरुणोदः समुद्रः, ततोऽरुणवरो द्वीपः, अरुणवरः समुद्रः, ततोऽरुणभासो द्वीपः, अरुणभासः समुद्रः, ततः कुण्डलो द्वीपः कुण्डलोदः समुद्रः, ततो रुचको द्वीपः, रुचकः समुद्रः, एवं प्रशस्तनामानो द्विगुणमाना द्वीपसमुद्राः, अन्त्यः स्वयंभूरमणः

समुद्रः ॥ तथा जम्बूद्वीपे जघन्येन चत्वारस्तीर्थकृतः चक्रवर्त्तिनो बलदेवा वासुदेवाश्च सदा भवन्ति । उत्कर्षेण चतुस्त्रिंश ज्जिनाः त्रिंशच्च चक्रिणः । धातकीखण्डे पुष्करार्धे च द्विगुणाः ॥

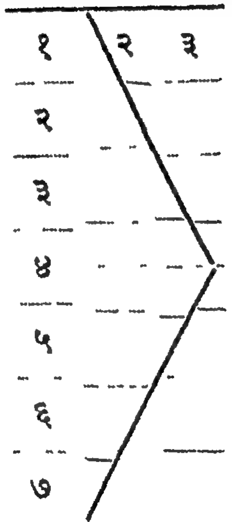
तैर्यग्लोकादूर्ध्वं नवयोजनशतोनसप्तरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वलोकः । तत्र सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्र सहस्रारानतप्राणतारणाच्युता द्वादश कल्पाः, तदुपरि नव ग्रैवेयकाः, तदुपरि विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानि विमानानि प्राक्क्रमात्, मध्ये सर्वार्थसिद्धम् । तदुपरि द्वादशयोजनेषु पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षायामविष्कम्भा ईषत्प्राग्भारा नाम पृथ्वी, सा सिद्धशिला, ततोऽप्युपरि गव्यूतत्रयादूर्ध्वं चतुर्थगव्यूतषष्ठभागे आलोकान्तात् सिद्धाः । तत्र धरणितलात् समभागात् सौधर्मेशानं यावत् सार्धरज्जुः । सनत्कुमारमाहेन्द्रं यावत् सार्धं रज्जुद्वयं, सहस्रारं यावत् पञ्च रज्जवः, अच्युतं यावत् षट् रज्जवः, लोकान्तं यावत् सप्तरज्जवः ॥ तत्र प्रथमे कल्पे घनोदधिप्रतिष्ठाने, तदुपरि त्रयो वायुप्रतिष्ठानाः, ततः परं त्रयो घनोदधिघनवातप्रतिष्ठानाः, तदुपर्याकाशप्रतिष्ठानाः ॥ एवमयमधस्तिर्यगूर्ध्वभेदो लोकः, अस्य च मध्ये रज्जुप्रमाणाऽऽयामविष्कम्भा ऊर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्ज्वात्मिका त्रसनाडी, त्रसाः स्थावराश्च जीवा अत्र भवन्तीति कृत्वा, त्रसनाड्या बहिः स्थावरा एव जीवा भवन्तीति ॥

चतुर्दशरज्जुप्रमाणोऽयं लोकः उच्छ्रयेण विज्ञेयः, अन्यथा अधस्तादेशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोकमध्ये एकरज्जुविस्तरः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्णः उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः, शेषस्थानेष्वनियतविस्तरः, अयं लोकः मतिपरिकल्पनया घनीक्रियते तदा आयामविष्कम्भबाहल्यैः सप्तरज्जुप्रमाणः । कथं च घनो विधीयते इति जिज्ञासा लोकप्रकाशशतकादिभ्यः पूरणीया । अत्र तु प्रसङ्गसङ्गतेराकृतय एव प्रदर्श्यन्ते, ताश्चेमाः—

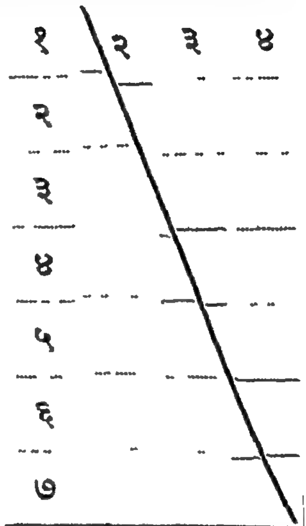
॥ चतुर्दशरज्जुपरिमितो लोकः ॥

त्रसनाडी . ...आयाम विष्कम्भाभ्यां रज्जुपरि मेता–उच्छ्रयेनचतुर्दशरज्जुपरि मेता च ॥

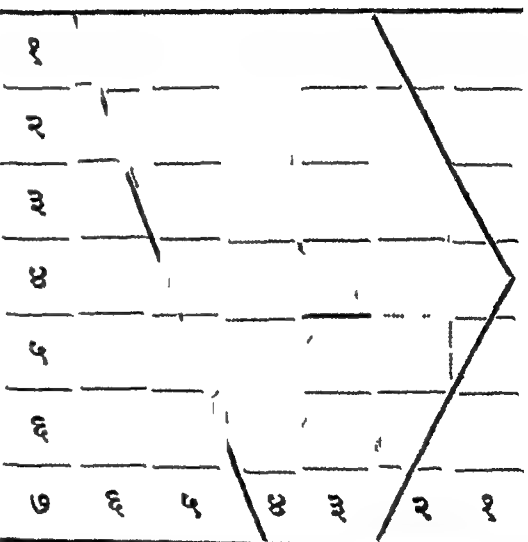
घनीकृतोर्ध्वलोकः सप्तरज्जू-
च्छ्रितस्त्रिरज्जुविस्तृतः ॥



घनीकृतोऽधोलोकस्सप्तरज्जू-
च्छ्रितश्चतूरज्जुविस्तृतः ॥



घनीकृतो लोकः सर्वतः सप्तरज्जुपरिमितः ॥



अयं लोक उक्तस्वरूपो न केनाऽपि प्रकृतीश्वरविष्णुब्रह्मपुरुषप्रभृतीनामन्यतमेन विहितः। प्रकृतेरचेतनत्त्वात् कर्तृत्त्वाऽनुपपत्तेः, ईश्वरादीनां च न कर्तृत्त्वं प्रयोजनाऽभावात्। क्रीडा प्रयोजनमिति चेन्न, क्रीडायाः कुमारकाणामिव रागिणामेव संभ-

कृपया प्रवृत्तिरितिचेत्
वात्, क्रीडासाध्यायाश्च प्रीतेस्तेषां शाश्वतिकत्वात्, क्रीडानिमित्तायां तु प्रीतौ तेषां पूर्वमवृत्तप्रसङ्गः । कृपया प्रवृत्तिरितिचेत् सुख्येव सर्गस्स्यात् न दुःखी; कर्म्मापेक्षः सुखदुःखमयः सर्ग इति चेत् तर्हि कर्म्मैव कारणमस्तु, कर्म्मापेक्षत्वे तेषां स्वातन्त्र्यविघातः । कर्म्मजन्ये च भावानां वैचित्र्ये किमीश्वरादिभिः प्रयोजनम् ? अथ प्रयोजनमन्तरेणैव तेषां सर्गक्रमस्तदयुक्तं, न बालोऽपि प्रयोजनमन्तरेण किञ्चित्करोति, तस्मान्न केनचिदयं लोको निष्पादित इति । न च केनचिदयं ध्रियते, शेषकूर्मवराहादयस्तस्य धारका इति चेत्तेषामपि किं धारकमिति वाच्यं, आकाशमिति चेत् तस्याऽपि किं धारकं ? स्वप्रतिष्ठमेवेदमिति चेत् लोकोऽपि तथाऽस्तु एवं च सति केनचिदनुत्पादितत्वात्स्वयंसिद्धः, केनचिदधृतत्वान्निराधारः, आकाशे एव प्रतिष्ठित इत्यर्थः ॥ ननु लोकभावनाया भावनात्त्वं कथं भवेत् ? उच्यते, इतोऽपि निर्ममत्वं स्यात् तद्यथा—“ स्वहेतौ चेद्भावे, मनो रज्यन्मुहुर्मुहुः । लोकभावनयाऽत्यर्थं वैप्रर्कर्णं विधीयते ॥ १ ॥ भूद्वीपसागरादीने धर्मध्यानस्य गोचरः इत्युक्तं ध्यानशतके नरैं तल्लोकभावनाम् ॥ २ ॥ जिनोक्ते लोकरूपे च संवादिनि विनिश्चिते । अर्हन्द्रिये मोक्षमार्गेऽथाधत्ते प्रत्ययं जनः ” ॥ ३ ॥ इति लोकस्वभावभावना ॥ १० ॥

‘बोहि दुल्लहा’ इति, बोधिः प्रेत्य जिनधर्म्मावाप्तिः, दुर्लभा दुष्प्रापा, अनादौ संसारे नरकादिषु तेषु भवग्रहणेष्वनन्तकृत्वः परिवर्त्तमानस्य जन्तोर्विविधदुःखाभिहतस्य मिथ्यादर्शनाद्युपहतमतेर्ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायोदयाभिभूतस्य सम्यग्दर्शनादिविशुद्धो बोधिर्दुर्लभो भवतीत्यनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य बोधिदुर्लभत्त्वमनुचिन्तयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न भवतीति बोधिदुर्लभत्त्वानुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

'धम्मस्स साहगा अरहा' दुर्गतिपतितप्राणिसार्थस्य समुद्धरणात्सुगतिस्थापनाच्च धर्मः श्रुतचारित्रभेदभिन्नः, तस्य साधको निष्पादकः कथको वेति, स च 'अर्हन्' इति अष्टमहाप्रातिहार्यपूजायाः सुरासुरेन्द्रविरचिताया अर्हत्त्वादर्हन्, स चोपलक्षणं गणधरादीनाम्, यदुक्तं "तित्थयरगणहरो, केवलिव्व पत्तेयबुद्धपुव्वधरो। पंचविहायारधरो दुल्लंभो आयरियओवि" ॥ १ ॥ अहो सम्यग्दर्शनद्वारः पञ्चमहाव्रतसाधनः द्वादशाङ्गोपदिष्टतत्त्वो गुप्त्यादिविशुद्धव्यवस्थानः संसारनिर्वाहको निःश्रेयसप्रापको धर्मो भगवता परमर्षिणाऽर्हता व्याख्यातः स्वयमनुष्ठितश्चेत्येवमनुचिन्तयेत्। एवं हि चिन्तयतोऽस्य धर्म्मबहुमानं तदनुष्ठाने च व्यवस्थानं जायते इति द्वादशी भावना ॥ १२ ॥ 'एयाओ भावणाओ, भावेयवा पयत्तेणं' इति, एता अनन्तरोदितस्वरूपा अनित्यादिभावना मोक्षमार्गाभिलाषुकैर्भव्यात्मभिः प्रमादादिदस्युपरिहारेण भावितव्या आत्मनि ध्येयविषयीकर्त्तव्या इत्यर्थः ॥ ३०–३१ ॥

भावना वर्णयित्वाऽथ क्रमागतं सामायिकादिभेदभिन्नं चारित्रद्वारं गाथायुगलेन विवर्णयिषुः सूत्रकारगाथायुगलमुपनिबध्नाति;—

सामाइयत्थपढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीअं। परिहारविसुद्धीअं, सुहुमं तह संपरायं च ॥ ३२ ॥
तत्तो अ अहक्खायं, खायं सव्वंमि जीवलोगम्मि। जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंति अयरामरं ठाणं ॥३३।

टीका—प्रथमं सामायिकचारित्रम्, द्वितीयं छेदोपस्थापनीयम्, तृतीयं परिहारविशुद्धिकं, तथा चतुर्थं सूक्ष्मसंपरायचारित्रम्। ततो यदाराध्य सुविहिताः साधवोऽजरामरं मोक्षं स्थानं गच्छन्ति तत् सर्वजीवलोके प्रसिद्धः यथाख्यातचारित्रं पञ्चममिति गाथाद्वयाऽक्षरार्थः ॥ व्यासार्थस्त्वेवम्;—समानां ज्ञानदर्शनचारित्राणामायो लाभः समायः, समाय एव सामा-

'संवरतत्त्वे सामायिकादि चारित्रम्॥

येकं, वैनयादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थे इकणू प्रत्ययः। यद्वा समो रागद्वेषविप्रमुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आये लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः, समस्यायः समायः, समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमणसंक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, समाय एव सामायिकं मूलगुणानामाधारभूतं सर्वसावद्यविरतिरूपं चारित्रं। यदाह वाचकमुख्यः;—'सामायिकं गुणानामाधारः खमिव सर्वभावानाम्। न हि सामायिकहीनाश्चरणादिगुणान्विता येन ॥ १ ॥ तस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम्। शारीरमानसानेकदुःखनाशस्य मोक्षस्य ॥२॥ यद्यपि च सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि छेदादिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते। प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवाऽवतिष्ठते 'सामायिकमिति'। तच्च सामायिकं द्विधा इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं भाविव्यपदेशान्तरत्वादित्वरं स्वल्पकालं, तच्च प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थे भरतैरवतेषु यावदद्यापि शैक्षस्य महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावद्विज्ञेयम्। आत्मनः कथां यावदास्ते यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः। यावत्कथमेव यावत्कथिकं एतच्च भरतैरवतेषु प्रथमचरमवर्जमध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तर्गतसाधूनां महाविदेहतीर्थकरमुनीनां चावसेयम्, तेषामुपस्थापनाया अभावात्, उक्तश्च;—'सव्वमिणं सामाइय छेयाइविसेसियं पुण विभिन्नं अविसेसं सामाइयचियमिह सामन्न सन्नाए ॥ १ ॥ सावज्जजोगविरइत्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च। इत्तरमावकहं ति य पढमं तिमजिणाणं ॥ २ ॥ तित्थेसु अणारोवियवयस्स सेहस्स थोवकालीयं। सेसाणमावकहियं तित्थेसु विदेहयाणं च ॥ ३ ॥" ननु च इत्वरमपि सामायिकं 'करोमि भदन्त ? सामायिकं 'यावज्जीवम्' इत्येवं यावदायुस्तावत्स्वीकृतं, तत उपस्थापना काले तत् परित्यजतः कथं न प्रतिज्ञाभङ्गः ? उच्यते,

ननु प्रागेवोक्तं–सर्वमेवेदं चारित्रमविशेषतः सामायिकं, सर्वत्राऽपि सर्वसावद्ययोगविरतेसद्भावात्, केवलं छेदादिविशुद्धिविशेषैः विशेष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते, ततो यथा यावत्कथिकं सामायिकं छेदोपस्थापनं च परमविशुद्धिविशेषरूपसूक्ष्मसंपरायपरिहारविशुद्धिप्रभृतिचारित्रावाप्तौ न भङ्गमास्कन्दति, तथेत्वरमपि सामायिकं विशुद्धिविशेषरूपछेदोपस्थापनावाप्तौ निर्बाधमेव, यदि हि प्रव्रज्यापरित्यागः स्यात्तर्हि तद्भङ्गमापद्यते, न तस्यैव विशुद्धिविशेषाऽवाप्तौ, उक्तञ्च;—"उत्तिक्खमओ भङ्गो जो पुण तं चिय करेइ सुद्धयरं। सन्नाभेत्तविसिट्ठं सुहुमं पि व तस्स को भङ्गो" ॥ १ ॥

'छेओवट्ठावणं' इति, तत्र पूर्वपर्यायस्य छेदेन उपस्थापना महाव्रतेष्वारोपणं यत्र चारित्रे तच्छेदोपस्थापनं भरतैरवतप्रथमचरमतीर्थकरतीर्थ एव नान्यत्र। तच्च द्विधा–सातिचारं निरतिचारं च, तत्रानतिचारमित्वरसामायिकस्य शैक्षकस्य यदारोप्यते, तीर्थान्तरं वा संक्रामतः साधोर्यथा श्रीपार्श्वनाथतीर्थाद्वर्द्धमानस्वामितीर्थं संक्रामतः पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ, सातिचारं पुनर्यन्मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतोच्चारणम्, उक्तञ्च "सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा। मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे" ॥ १ ॥ 'उभयं च' इति सातिचारं निरतिचारं स्थितकल्प इति प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थकाल इत्यर्थः ॥

'परिहारविसुद्धीयं' इति–तत्र परिहरणं परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिंश्चारित्रे तत् परिहारविशुद्धिकं, तच्च द्विधा निर्विशमानकं निर्विष्टकायिकञ्च, तत्र निर्विशमानका विवक्षितचारित्रासेवकाः, निर्विष्टकायिका आसेवितविवक्षितचारित्रकायिकाः, तदव्यतिरेकाच्चारित्रमपि एवमुच्यते। इह नवको गणः, तत्रैकः कल्पस्थितो वाचनाचार्यो गुरुकल्पः, चत्वारो निर्विशमानकास्तपःप्रपन्नाश्चत्वारश्चानुचारिणो वैयावृत्यकरकल्पा, यद्यपि सर्वेऽपि श्रुतातिशयसंपूर्णास्तथापि तथा कल्पत्वा-

कचित् स्व लेतादे प्रायश्चित्तं दातुं प्रमाणं,

तेषामेकः कश्चित् कल्पस्थितेऽवस्थाप्यते, अयमेव च तेषां परिहारकाणामत्रकल्पे एवमनुपरिहारिकाणामप्यपराधपदमापन्नानागयमेव विद्वान् प्रायश्चित्त-
यत् प्रायश्चित्तमसौ ददाति तत्तैर्वोढव्यमिति भावः, एवमनुपरिहारिकाणामप्यपराधपदमापन्नानागयमेव विद्वान् प्रायश्चित्त-
दाने प्रमाणम्, यदुक्तं बृहत्कल्पभाष्ये;—" पमाणं कप्पट्ठिओ तत्थववहारं ववहरित्तिए। अणुपरिहारियाणं पि पमाणं होइ से
भिऊ " ॥ १ ॥ अत्र " व्यवहारं " प्रायश्चित्तं ' व्यवहर्त्तुं ' दातुमिति भावः। निर्विशमानकानां चाऽयं तपोविशेषः, ग्रीष्म-
काले जघन्यमध्यमोत्कृष्टं चतुर्थपष्ठाष्टमभक्तलक्षणम्, पारणके चाऽऽचाम्लं, शिशिरे षष्ठाऽष्टमदशमभक्तरूपं जघन्यमध्यमो-
त्कृष्टं तपः, पारणके चाऽऽचाम्लं, वर्षासु अष्टमदशमद्वादशभक्तस्वरूपं तपो जघन्यमध्यमोत्कृष्टतया विज्ञेयम्, पारणके त्वाचा-
म्लमेव, शेषाः सहाय्यकारिणश्चानुपरिहारिणो नियताऽऽचाम्लभक्ताः, कल्पस्थितो वाचनाचार्योऽपि नियताऽऽचाम्लभ एव।
इत्थं च षण्मासान् कृत्वा परिहारिणोऽनुपरिहारित्वं प्रतिपद्यन्ते, अनुपरिहारिणश्च परिहारिणो भवन्ति, तेऽपि षण्मासांस्तत्तपो
विदधति। पश्चात्कल्पस्थित एकाक्येव षण्मासावधिकं तत्तपः प्रतिपद्यते, तस्य च शेषाऽष्टकमध्यादेव एकः कल्पस्थितो भवति,
अन्ये निःशेषा एको वा अनुपरिहारित्वं प्रतिपद्यते ॥ अथैते परिहारविशुद्धिकाः कस्मिन् क्षेत्रे काले वा भवन्ति? उच्यते,
इह क्षेत्रादिनिरूपणार्थं विंशतिद्वाराणि, तद्यथा;—क्षेत्रद्वारं[1], कालद्वारं[2], चारित्रद्वारं[3], तीर्थद्वारं[4], पर्यायद्वारं[5], आगमद्वारं[6],
वेदद्वारं[7], कल्पद्वारं[8], लिङ्गद्वारं[9], लेश्याद्वारं[10], ध्यानद्वारं[11], गणद्वारं[12], अभिग्रहद्वारं[13], प्रव्रज्याद्वारं[14], मुंडापनद्वारं[15], प्रायश्चित्तविधिद्वारं[16],
कारणद्वारं[17], निष्प्रतिकर्म्मद्वारं[18], भिक्षाद्वारं[19], बन्धद्वारं[20] च। तत्र क्षेत्रद्वारे द्विधा मार्गणा—जन्मतो सद्भावतश्च, यत्र क्षेत्रे जातस्तत्र
जन्मतो मार्गणा यत्र च कल्पे स्थितो वर्त्तते तत्र सद्भावतः। तत्र जन्मतः सद्भावतश्च पञ्चसु भरतेषु पञ्चस्वैरवतेषु न तु

महाविदेहेषु, न चैतेषु संहरणमस्ति येन जिनकल्पिका इव संहरणतः सर्वासु कर्म्मभूमिष्वकर्म्मभूमिषु वा प्राप्येरन्। कालद्वारे—अवसर्पिण्यां तृतीये चतुर्थे वारके जन्म, सद्भावः पञ्चमेऽपि, उत्सर्पिण्यां द्वितीये तृतीये चतुर्थे वा जन्म, सद्भावः पुनस्तृतीये चतुर्थे वा, नोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपे चतुर्थारकप्रविभागे काले न सम्भवन्ति, महाविदेहे तेषामसम्भवात्। चारित्रद्वारे—संयमद्वारेण मार्गणा, तत्र सामायिकस्य छेदोपस्थापनस्य च चारित्रस्य यानि जघन्यानि संयमस्थानानि तानि परस्परं तुल्यानि, समानपरिणामत्त्वात्, ततोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संयमस्थानान्यतिक्रम्योर्ध्वं यानि संयमस्थानानि तानि परिहारविशुद्धियोग्यानि, तान्यपि च केवलिप्रज्ञया परिभाव्यमानानि असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तानि प्रथमद्वितीयचारित्राऽविरोधीनि तेष्वपि सम्भवात्। उक्तञ्च—"तुल्ला जहन्नठाणे संजमठाणाइ पढमबिइयाणं। तत्तो असंखलोए गंतुं परिहारियट्ठाणा ॥ ९ ॥ तेवि असंखा लोगा अविरुद्धा चेव पढमबीयाणं। उवरिंपि तो असंखा, संजमठाणाउ दुण्हंपि" ॥ २ ॥ अत्र 'उवरिंपि' इति द्वितीयगाथार्द्धेन परिहारविशुद्धियोग्यसंयमस्थानेभ्य ऊर्ध्वमपि यानि संयमस्थानानि तेषां योग्यता प्रतिपादिता, तत्र परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्तिः स्वकीयेष्वेव संयमस्थानेषु वर्त्तमानस्य भवति न शेषेषु, यदा त्वतीतनयमधिकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो विवक्ष्यते तदा शेषेष्वपि संयमस्थानेषु भवति, परिहारविशुद्धिककल्पसमाप्त्यनन्तरमन्येष्वपि च चारित्रेषु सम्भवात्, तेष्वपि च वर्त्तमानस्यातीतनयमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्नत्त्वात्। उक्तञ्च—"सट्ठाणे पडिवत्ती अन्नेसु वि हुज्ज पुव्वपडिवन्नो। तेसु वि वट्टंतो सो तीयनयं पप्प वुच्चईउ ॥ १ ॥ तीर्थद्वारे;—परिहारविशुद्धिको नियतस्तीर्थे प्रवर्त्तमान एव भवति, न तूच्छेदेऽनुत्पत्त्यां वा तदभावे जातिस्मरणादिना। पर्यायद्वारे—पर्यायो

द्वेधा–गृहस्थपर्यायो यतिपर्यायश्च, एकैकोऽपि द्विप्रकारः, जघन्य उत्कृष्टश्च, तत्र गृहस्थपर्याये जघन्यत एकोनत्रिंशद्वर्षाणि यतिपर्यायो विंशतिः, द्वावपि चोत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटिप्रमाणौ। आगमद्वारे–अपूर्वागमं स नाधीते, यस्मात्तं कल्पमधिकृत्य प्रगृहीतोचितयोगाराधनत एव स कृतकृत्यतां भजते, पूर्वाधीतं तु विस्रोतसिकाक्षयनिमित्तं नित्यमेवैकाग्रमनाः सम्यक् प्रायोऽनुस्मरति। वेदद्वारे–प्रवृत्तिकाले नपुंसकवेदः पुरुषवेदो वा भवेत्, न स्त्रीवेदः, स्त्रियाः परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्त्यसम्भवात्। अतीतनयमधिकृत्य पुनः प्रतिपन्नश्चिन्त्यमानः सवेदो भवेदवेदो वा, तत्र सवेदः श्रेणिप्रतिपत्त्यभावे उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ वा क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तौ त्ववेद इति। कल्पद्वारे स्थितकल्प एवायं, नास्थितकल्पे 'ठिइकप्पम्मि वि नियमा' इति वचनात्, तत्राचेलक्यादिषु दशस्वपि स्थानेषु ये स्थिताः साधवस्तत्कल्पः स्थितकल्प उच्यते, ये पुनश्चतुर्षु शय्यातरपिण्डादिष्वस्थितेषु कल्पेषु स्थिताः शेषेषु चाऽऽचेलक्यादिषु षट्स्वस्थिताः तत्कल्पोऽस्थितकल्पः। लिङ्गद्वारे–नियमतो द्विविधेऽपि लिङ्गे भवति, तद्यथा द्रव्यलिङ्गे भावलिङ्गे च, एकेनाऽपि विना विवक्षितकल्पोचितसामाचार्ययोगात्। लेश्याद्वारे–तेजःप्रभृतिकासूत्तरासु तिसृषु विशुद्धासु लेश्यासु परिहारविशुद्धिकं कल्पं प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नः पुनः सर्वास्वपि कथञ्चिद्भवति, तत्राऽपीतरास्वविशुद्धलेश्यासु नात्यन्तसंक्लिष्टासु वर्त्तते, तथाभूतासु वर्त्तमानो न प्रभूतं कालमवतिष्ठते, किं तु स्तोकं, यतः स्ववीर्यवशाज्झटित्येव ताभ्यो व्यावर्त्तते, अथ प्रथमत एव कथं प्रवर्त्तते? कर्म्मवशात्। ध्यानद्वारे–धर्मध्यानेन प्रवर्त्तमानेन परिहारविशुद्धिकं कल्पं प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नः पुनरार्त्तरौद्रयोरपि भवति, केवलं प्रायेण निरनुबन्धः। गणद्वारे–जघन्यतस्त्रयो गणाः प्रतिपद्यन्ते, उत्कर्षतः शतसङ्ख्याः। पूर्वप्रतिपन्ना जघन्यत उत्कर्षतो वा शतशः। पुरुषगणनया जघन्यतः प्रतिपद्यमानाः सप्तविंशतिः, उत्कर्षतः

सहस्रं । पूर्वप्रतिपन्नाः पुनर्जघन्यतः शतशः उत्कर्षतः सहस्रशः । अन्यच्च यदा पूर्वप्रतिपन्नः कल्पमध्यादेको निर्गच्छति अन्यः प्रविशति तदोनप्रक्षेपे प्रतिपत्तौ कदाचिदेकोऽपि भवति पृथक्त्वं वा । अभिग्रहद्वारे—अभिग्रहाश्चतुर्विधाः, तद्यथा—द्रव्याभिग्रहाः क्षेत्राभिग्रहाः कालाभिग्रहाः भावाभिग्रहाश्च विचित्रा भवन्ति, तत्र परिहारविशुद्धिकस्यैतेऽभिग्रहा न भवन्ति, यस्मादेतस्य कल्प एव यथोदितरूपोऽभिग्रहो वर्त्तते । प्रव्रज्याद्वारे—नासावन्यं प्रव्राजयति कल्पस्थितिरेष इति कृत्वा । उक्तञ्च;—'पव्वाइए न एसो अन्नं कप्पट्ठिइत्ति काऊणं' । उपदेशं पुनर्यथाशक्ति प्रयच्छति मुंडापनद्वारेऽपि नासावन्यं मुण्डापयति, अथ प्रव्रज्याऽनन्तरं नियमतो मुण्डनमिति प्रव्रज्याग्रहणेनैव तद्गृहीतमिति किमर्थं पृथग्द्वारं? तदयुक्तं, प्रव्रज्याऽनन्तरं नियमतो मुंडनस्याऽसंभवात्, अयोग्यस्य कथञ्चिद्दत्तायामपि प्रव्रज्यायां पुनरयोग्यतापरिज्ञाने मुंडनायोगादतः पृथगिदं द्वारमिति । प्रायश्चित्तविधिद्वारे—मनसाऽपि सूक्ष्ममप्यतिचारमापन्नस्य नियमतश्चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमस्य, यत एष कल्प एकाग्रताप्रधानस्ततस्तद्भङ्गे गुरुतरो दोष इति । कारणद्वारे कारणं नामालम्बनं तत्पुनः सुपरिशुद्धं ज्ञानादिकं तच्चास्य न विद्यते येन तदाश्रित्याऽपवादपदसेविता स्यात्, एष हि सर्वत्र निरपेक्षः क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तं प्रारब्धमेव स्वं कल्पं यथोक्तविधिना समापयन्महात्मा वर्त्तते । निष्प्रतिकर्मताद्वारे—एष महात्मा निष्प्रतिकर्म्मशरीरोऽक्षिमलादिकमपि कदाचिन्नापनयति, न च प्राणान्तिकेऽपि व्यसने समापतिते द्वितीयपदं सेवते । भिक्षाद्वारे—भिक्षा विहारक्रमश्चास्य तृतीयस्यां पौरुष्यां भवति, शेषासु च पौरुषीषु कायोत्सर्गः, निद्राऽपि चाऽस्य अल्पा द्रष्टव्या, यदि पुनः कथमपि जङ्घाबलमस्य परिक्षीणं भवति तथाप्येकोऽविहरन्नपि महाभागो न द्वितीयपदमापद्यते, किन्तु तत्रैव यथाकल्पमात्मयोगान् विदधाति । एते च परिहारविशुद्धिका द्विविधाः, तद्यथा—इत्वरा

कल्पं गच्छं वा समुपयास्यन्ति ते इत्वराः, ये पुनः कल्पसमाप्त्यनन्तरमव्यव-
यावत्कथिकाश्च, तत्र ते कल्पसमाप्त्यनन्तरमेव कल्पं गच्छं वा समुपयास्यन्ति ते इत्वराः, ये पुनः कल्पसमाप्त्यनन्तरमव्यव-
धानेन जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते यावत्कथिकाः। उक्तञ्च 'इत्तरियथेरकप्पे जिणकप्पे आवकहियत्ति'। अत्र स्थविरक-
ल्पग्रहणमुपलक्षणं स्वे कल्पे वेति द्रष्टव्यम्। तत्रेत्वराणां कल्पप्रभावाद्देवमनुष्यतैर्यग्योनिककृता उपसर्गा सद्योघातिन
आतङ्का अतीव विषह्याश्च वेदना न प्रादुःषन्ति, यावत्कथिकानां संभवेयुरपि, ते हि जिनकल्पं प्रतिपत्स्यमाना जिनकल्पभाव-
मनुविदधति, जिनकल्पिकानां चोपसर्गादयः संभवन्तीति। उक्तञ्च—'इत्तरियाणुवसग्गा आयंका वेयणा न हवंति।
आवकहियाण भइया' इति।

'सुहुमं तह संपरायं च' इति, तत्र संपरैति पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः क्रोधादिकषायः, सूक्ष्मो लोभांशमात्राव-
शेषतया सम्परायो यत्र तत्सूक्ष्मसंपरायम्। इदमपि ससंक्लिश्यमानकविशुद्ध्यमानकभेदाद्द्विधा, तत्रोपशमश्रेणेः प्रच्यवमा-
नस्य संक्लिश्यमानकं, श्रेणिमारोहतो विशुद्ध्यमानकम्।

तत्तो य अहक्खायं खायं सव्वंमि जीवलोगम्मि' इति, ततः सूक्ष्मसंपरायचारित्रानन्तरं सर्वस्मिञ्जीवलोके अक-
षायत्वेन ख्यातं प्रसिद्धं अथाख्यातं चारित्रं भवति, अथ शब्दोऽत्र याथातथ्ये, आङ् अभिविधौ, आसमन्ताद्याथा-
तथ्येन ख्यातं कषायोदयाऽभावतो निरतिचारत्वात् पारमार्थिकरूपेण ख्यातमथाख्यातमिति। 'जं चरिऊण सुविहिया-
वच्चंति अयरामरं ठाणं' इति यदथाख्यातचारित्रं चरित्वा एकाग्रप्रणिधानेनाराध्य सुविहिताः सम्यग्दर्शनज्ञानचरणाराध-
नपरा जिनाज्ञानुयायिनोऽजरामरं जन्मजरामरणवर्जितं महानन्दपदं व्रजन्ति गच्छन्तीत्यर्थः एतदपि उपशामकक्षपकापेक्षया

द्विविधं, उपशमश्रेणीं प्रपन्नस्योपशान्तमोहगुणस्थानकवर्त्तिनः सर्वथा कषायाणामुपशान्तत्त्वादुदयाभावादान्तर्मुहूर्त्तस्थितिकमथाख्यातचारित्रम् । क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य क्षीणमोहादिगुणस्थानकवर्त्तिनः कषायाणां सर्वथा क्षीणत्त्वादुदयाभावाज्जघन्यत आन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकालं नमुत्कृष्टतश्च देशोनपूर्वकोटिप्रमाणमथाख्यातचारित्रं भवति, अत्र द्विविधेऽपि चारित्रे कषायाणामनुदयादथाख्यातत्वं भवति, परं प्रथमं कषायोदयाऽपेतमपि सत् सत्तायां कषायाणामस्तित्त्वात् श्रेणिप्रतिपातकालेऽधस्तनेषु गुणस्थानेषु उपशमक्रमेण कषायाणामुदयात् प्रतिपाति, द्वितीयश्चाऽप्रतिपाति, कषायाणां सर्वथा क्षीणत्त्वादप्रतिपाताच्च क्षपकश्रेणित इति । अथवोपशान्तमोह-क्षीणमोहगुणस्थानयोः छद्मस्थत्त्वात् तत्रस्थं अथाख्यातचारित्रं छद्मस्थाऽथाख्यातचारित्रम्, सयोगिकेवल्ययोगिकेवल्यवस्थायां तु केवलियथाख्यातचारित्रमिति द्वैविध्यमपि । ननु ' जं चरिऊण सुविहिया वच्चंति अयरामरं ठाणं ' इत्यनेन तु प्राग्व्यावर्णितस्वरूपाणां सामायिकादिचारित्राणां वैफल्यं प्रजायते, पुनरैदंयुगीनमुनिवराणां तत्तत्सामायिकादिचारित्राचरणसंगतलोच-विहारादिकष्टानुष्ठानमपि निष्फलत्त्वं याति, यतः कालमहिम्नैव परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसंपराय-अथाख्यातसंज्ञकाः संयमभेदाः साम्प्रतं न वर्त्तन्ते, साधवश्च मोक्षार्थं यतन्ते, मोक्षश्च प्रागुक्तरीत्या अथाख्यातचारित्रसाध्यः, तस्य च दुःषमारकदोषात् सांप्रतमभावः, ततः कथंकारमैदंयुगीनमुनीनां सामायिकादीनां सफलत्त्वं सङ्गच्छते ? अत्रोच्यते—यद्यपि मोक्षावाप्तिस्तु क्षीणकषायाथाख्यातचारित्रेणैव, नाप्युपशान्तकषायाथाख्यातसंयमेन तथापि सामायिकादिचारित्राणामात्मगुणप्रासादारोहणे सोपानकल्पत्त्वान्न तेषां निष्फलत्त्वम्, यथा सर्वथा प्रासादाधिरोहणं तु निःशेषसोपानमालाधिरोहणेन जायते, परं सर्वसोपानाधिरोहणसामर्थ्याऽभावे यावन्ति सोपानान्यधिरूढानि तावन्ति मूलसंख्यातो हीनानि भवन्ति, एव-

मत्रापि द्रष्टव्यम्, यावानात्मगुणाविर्भावो जातस्तावानधिरोहणाऽऽयासस्सफल एव, सिद्धान्तेऽपि सामायिकादीनां संयमानां प्राप्तिः प्रायः क्रमश एव प्रतिपादिता, यतो मिथ्यादृष्टयोऽपि केचन अन्तर्मुहूर्ताऽनन्तरं मोक्षं प्रतिपद्यन्ते तेऽपि क्षायोपशमिकभावयुक्तसामायिकचारित्रावाप्त्यनन्तरं क्रमशः सूक्ष्मसंपरायमथाख्यातसंयमं प्राप्नुवन्ति, एतेन षट्खण्डाधिपभरतचक्रीदृष्टान्तप्रतिपादनपुरस्सरं सामायिकादीनां निरुपयोगित्वं प्रजल्पतां वावदूकानां महामोहावर्त्तगर्त्तपतितानामज्ञाततत्त्वानां मतमपास्तं द्रष्टव्यमिति। चिरंतनाचार्यवरैरपि मेधाऽऽयुर्बलवैभवादिभिः समन्तात् परिहीयमाणेऽस्मिन् दुःषमाभिधाने करालकाले बाहुल्येन बकुशकुशीलसंज्ञकं चारित्रं प्रतिपादितं, सेवार्त्तसंहननोपेतत्वात् सांप्रतकालीनसाधूनां, कुतस्सूक्ष्मसंपरायादीनां सम्भावनाऽपि। अत्र प्रसङ्गसङ्गतेः पुलाकबकुशादीनां नामग्राहं लेशतो वर्णनं लिख्यते—पुलाको बकुशः कुशीलो निर्ग्रन्थः स्नातक इत्येते पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा भवन्ति। तत्र धर्मोपकरणादृते परित्यक्तबाह्याऽभ्यन्तरोपधयो निर्ग्रन्था इति निर्ग्रन्थसामान्यलक्षणं, अथ प्रत्येकमुच्यते-जिनोक्तादागमात् सततमप्रतिपातिनो ज्ञानानुसारेण क्रियाऽनुष्ठायिनो लब्धिमुपजीवन्तो निर्ग्रन्थपुलाकाः, बकुशः शबलः कर्बुर इत्यर्थः, शरीरोपकरणविभूषानुवर्त्तितया शुद्ध्यशुद्धिव्यतिकीर्णचरण इति, मोहनीयक्षयं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूषाऽनुवर्त्तिनः निर्ग्रन्थबकुशाः, तत्र शरीरे करचरणवदनप्रक्षालनमक्षिकर्णनासिकाद्यवयवेभ्यो विदूषिकामलाद्यपनयनं दन्तधावनलक्षणं केशसंस्कारं च देहविभूषार्थमाचरन्तः शरीरबकुशाः, उपकरणबकुशास्तु अकाल एव प्रक्षालितचोलपट्टकान्तरकल्पादिचोक्षवासःप्रियाः पात्रदण्डकाद्यपि तैलमात्रयोज्ज्वलीकृत्य विभूषार्थमनुवर्त्तमाना बिभ्रति, उभयेऽपि च ऋद्धियशस्कामाः, तत्र ऋद्धिं प्रभूतवस्त्रपात्रादिकां ख्यातिं च गुणवन्तो विशिष्टाः साधव इत्यादिप्रवादरूपां कामयन्ते, सातगौरवमाश्रिताः नार्त-

वाह्योरात्राऽभ्यन्तरानुष्ठेयासु क्रियास्वभ्युद्यताः सर्वदेशच्छेदार्हातिचारजनितशबलत्वेन युक्ता इत्यादिस्वरूपा नैर्ग्रन्थ्यबकुशाः। तथा कुत्सितं उत्तरगुणप्रतिषेवया सञ्ज्वलनकषायोदयेन वा दूषितत्वात् शीलं अष्टादशशीलाङ्गसहस्रभेदं यस्य स कुशील इति, एतेऽपि द्विविधाः, प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्च, तत्र ये नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अनियतेन्द्रियाः कथञ्चित् किञ्चिदेवोत्तरगुणेषु पिण्डविशुद्धिसमितिभावनातपःप्रतिमाभिग्रहादिषु विराधयन्तः सर्वज्ञाज्ञोल्लङ्घनमाचरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः, येषां तु संयतानामपि सतां कथञ्चित्सञ्ज्वलनकषाया उदीर्यन्ते ते कषायकुशीला इति। निर्गतो ग्रन्थान्मोहनीयाख्यात् निर्ग्रन्थः क्षीणकषाय उपशान्तकषायो वा, वीतरागच्छद्मस्था योगसंयमलक्षणेर्यापथप्राप्तास्ते निर्ग्रन्था इत्यर्थः। क्षालितसकलघातिकर्ममलपटलत्वात् स्नात इव स्नातः स एव स्नातकः, सयोगाः शैलेशीप्रतिपन्नाश्च केवलिनस्स्नातका इत्यर्थः।

उक्तस्वरूपाणां सामायिकादिचारित्राणां कियन्ति गुणस्थानकानि तत्प्रदर्श्यते—सामायिकचारित्रं प्रमत्तगुणस्थानकादारभ्य चतुर्दशगुणस्थानं यावत्, छेदोपस्थापनीयं प्रमत्ताऽप्रमत्तगुणस्थानसञ्ज्ञतं, परिहारविशुद्धिकमपि तथा, सूक्ष्मसंपरायाऽऽख्यं सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्त्ति, अथाख्यातं उपशान्तमोहादिषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु वर्त्तत इति॥ कालपरिमाणं तु तत्तच्चारित्रव्याख्याप्रसङ्गे प्रायः प्रदर्शितमेवातो भूयो न लिख्यते ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ एवं संवरतत्त्वस्य सप्तपञ्चाशद्भेदान् संक्षेपतो वर्णयित्वा गत्यादिमार्गणासु कियन्तो भेदा इति दिग्दर्शनं विधीयते—तत्रादौ नरकगत्यां समिति–गुप्ति–परीषह–यतिधर्म्म–चारित्राणामभावात् केवलमनित्यादिद्वादशभावनास्वरूपसंवरभेदाः केषाञ्चित्सम्यग्दृष्टिनारकाणां वर्तन्ते नाऽन्ये, यतो समित्यादयो भेदाः सर्वविरतिस्वाधीनाः, न च नरकगत्यां सर्वविरतिरिति समित्यादीनां तत्राऽभावः ॥ तिर्यग्गतावपि तथैव द्वादशभेदाः,

यद्यपि अत्र देशविरतेः सद्भावादपेक्षया समित्याद्यन्तर्गताः भेदाः केचिदागच्छन्ति परं विरतेरल्पत्वादत्र न विवक्षिता इति देवगतौ तथैव द्वादशभावनाभेदाः। मनुजगत्यां सर्वविरतिसद्भावात् सप्तपञ्चाशदपि घटन्ते॥ एकेन्द्रियमार्गणा संवरभेदशून्या, यतो देशसर्वसंयमाऽभावात्, समित्यादयो भेदास्तु न सन्ति, परं मनोयोगाऽभावाद् भावना अपि न वर्त्तन्त इति। एवं द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियमार्गणास्वप्यूह्यम्। पञ्चेन्द्रियमार्गणायां गर्भजमनुजमाश्रित्य पञ्चाशदपि॥ कायमार्गणाश्रित्य पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिमार्गणास्वेकेन्द्रियवत्, त्रसकायमार्गणायां पञ्चेन्द्रियमार्गणावत् सप्तपञ्चाशदपीति, एवमन्यास्वपि मार्गणासु स्वधिया परिभावनीयमिति संवरतत्त्वं समाप्तम्।

महानन्दपदाऽवारि-नैमित्तसंवरसुभेदव्याख्यातः। सद्योऽस्तु श्रमणसङ्घे संवरवरभक्तिहेवाकः। १।

इति संविग्नशाखीय-विद्वद्वृन्दावतंस-कुमतध्वान्ततरणि-मुनिचक्रचूडामणि-तपागच्छगगनदिनमणि-श्रीमन्-मुक्तिविजय (अपरनाम मूलचन्दजी) गणिपादपद्मचञ्चरीक-सर्वज्ञशासनगभस्तिमालि-निरवद्यचारित्रशालि-तपागच्छाचार्यपुरन्दरश्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरपट्टोदयाद्रिसहस्रांशु-अप्रमेयप्रभावप्रवचनप्रवीणचेतस्काऽनवद्यसंयमसेवाहेवाक-व्याख्याप्रज्ञाऽऽचार्यवर्य्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरविनेयरत्न-गीतार्थवर-पाठकप्रवरोपाध्यायपदाऽलङ्कृतश्रीमत्प्रतापविजयगणिशिष्याणुप्रवर्त्तकमुनिश्री-धर्म्मविजयविरचितायां नवतत्त्वप्रकरणस्य सुमङ्गलाटीकायां षष्ठं संवरतत्त्वं समाप्तम्॥



ज्ञानं मोहमहान्धकारलहरीसंहारसूर्योदयः, ज्ञानं दुर्जयकर्म्मकुञ्जरघटापञ्चत्त्वपञ्चाननः ॥
जीवाजीवविवेकविस्तरविधौ ज्ञानं परं लोचनं, मत्यादिप्रविभेदपञ्चकयुतं ज्ञानं समाराध्यताम् ॥१॥

नूतनकर्म्मागमनिरोधलक्षणं सप्तपञ्चाशद्भेदभिन्नं संवरतत्त्वं समाख्याय क्रमाऽऽयातं पुरातनकर्म्मक्षयोपायभूतं निर्ज्जरातत्त्वं व्याचिख्यासुराचार्यो निर्ज्जराभेदमात्रप्रतिपादिकां 'वन्धाऽविनाभाविनी निर्ज्जरा' इति विज्ञायाऽवसरसङ्गतं अग्रे वक्ष्यमाणस्वरूपं प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशाऽऽत्मकचतुर्भेदभिन्नं वन्धतत्त्वं च प्रतिपादयन्तीं गाथां रचयति;—

बारसविहं तवो नि–ज्जरा य बन्धो चउविगप्पो य। पयइ ठिइ अणुभाग–पएसभेएहिं नायव्वो ३४॥

१ ग्रन्थप्रणालिसरक्षणार्थमयं क्रम उपादत्तः, अन्यथा 'अणसणमुणोयरिया, पायच्छित्तं विणओ' इति गाथाद्वयव्याख्यानानन्तरमियं गाथा व्याख्येया इति ॥

टी —'बारसविहं' त्ति–निर्जरा द्वादशविधा, सा च तपोलक्षणा 'अणसणमूणोयरिया' 'पायच्छित्तं विणओ' इत्यादि गाथाभ्यां वक्ष्यमाणस्वरूपा, बद्धानामेव कर्म्मपुद्गलानां निर्ज्जरा आत्मप्रदेशेभ्यः परिशाटो नत्त्वबद्धानामिति कीदृशो बन्धः किंविकल्पक इति शिष्यपरिप्रश्नसमाधानार्थमाह–'बन्धो चउविगप्पो य' त्ति, आत्मप्रदेशैस्सह मिथ्यात्वादिनिमित्तोपात्तानां कर्म्मपरमाणूनां क्षीरनीरवद् वह्न्ययःपिण्डवद्वाऽभेदलक्षणसम्बन्धो बन्धः, स च चत्वारो विकल्पाः प्रकारा यस्येति चतुर्विकल्पः चतुर्भेदभिन्नः, के च ते चतुर्भेदा इत्याह–'पयइ' इत्यादि, प्रकृति–स्थिति–अनुभाग–प्रदेशभेदैस्स बन्धो ज्ञातव्य इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ विस्तरार्थस्त्वयम् ;–निर्ज्जरा नाम अनुभूतरसकर्म्मपुद्गलानामात्मप्रदेशेभ्यः क्रमेण परिशाटः, अयं च द्विधा भवति विपाकोदयतः प्रदेशोदयतश्च, तत्र विपाकोदयो रसोदयोऽनुभागोदय इति पर्यायाः, विपाकोदयो नाम मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरुपचितानां बन्धकालसहचारिकषायलेश्याविशेषनियमितजघन्योत्कृष्टस्थितिरसमन्दानुभावानां योगानुसारसंगृहीतप्रदेशानां क्षीरनीरवदात्मसात्कृतानां कर्म्मपुद्गलानां स्वाभाविकेनाऽऽबाधाकालक्षयेणोदीरणाकरणेन वोदयावलिकाप्रविष्टानां रसोदयपूर्वकानुभवनं विपाकोदयः। प्रदेशोदयः स्तिबुकसङ्क्रमाऽपरपर्यायः–मन्दोदय इत्यर्थः। अनुदयप्राप्तायाः कर्म्मप्रकृतेर्यत्कर्म्मदलिकं सजातीयप्रकृतावुदयप्राप्तायां समानकालस्थितौ सङ्क्रमयति सङ्क्रमय्य चानुभवति स प्रदेशाऽनुभवः, यथा मनुजगतावुदयप्राप्तायां शेषं गतित्रयं, एकेन्द्रियजातौ शेषजातिचतुष्टयमित्यादि। ननु मनुजगतेरेकेन्द्रियजातेश्च यदा विपाकोदयस्तदा शेषस्य गतित्रयस्य जातिचतुष्टयस्य च प्रदेशोदय उक्त इति ज्ञातं परं तस्यैव गतित्रयस्य जातिचतुष्टयस्य च तदा कथं न विपाकोदयः? इति चेदुच्यते;–विपाकोदयो द्विधा निरुध्यते, भवप्रत्ययतो गुणप्रत्ययतश्च, भवप्रत्ययतो यथा मनुजगत्यां विपाकोदयवत्याम-

न्यगतित्रयस्य विपाकोदयमाश्रित्य रोधः, न चैकस्मिन् भवे द्वयोर्गत्योर्विपाकोदयेन भवितव्यमिति, एवमेकेन्द्रियजातेर्यदा विपाकोदयस्तदा शेषजातिचतुष्टयस्य विपाकोदयमपेक्ष्य रोधः। गुणप्रत्ययतो यथा–क्षयोपशमसम्यक्त्वावस्थायां मिथ्यात्वमोहनीयस्य विपाकोदयमनुलक्ष्य रोधः। उभयत्राऽपि यस्य विपाकोदयस्तं विनाऽन्येषां प्रदेशोदयः। असत्कल्पनया यथा शतसमयप्रमाणाया मनुजगतेर्विपाकोदयो वर्त्तते, अत्र यदोदयावलिकाप्रथमसमयवर्त्तिकर्म्माणवो विपाकोदयमायान्ति तदा तत्समकालमेव सत्तायां गतस्य विपाकोदयकालमप्राप्तस्यावशेषस्य गतित्रयस्याऽपि प्रथमसमयगता कर्म्माणवः स्वानुभागमप्रदर्श्य पूर्वोक्तविपाकोदयवन्मनुजगतिप्रथमसमयगतकर्म्माणुभिस्सहोदयमायान्ति, अतस्तेषां त्रयाणां प्रदेशोदयो मनुजगतेश्च विपाकोदयः, एवमन्यत्राप्यूह्यम्। एतेन सङ्क्रमादिभिः पतद्ग्रहप्रकृतिसमानपरिणामानन्तरं सङ्क्रमावलिकामतीत्य यथा सङ्क्रान्तप्रकृतेर्नामुदयो बन्धान्यरूपेण सञ्जायते न तथा प्रदेशोदयावस्थायाम्। न च क्षयोपशमसम्यक्त्वावस्थायां मिथ्यात्वमोहनीयस्य यत्र प्रदेशोदयस्तत्र सर्वस्वघात्यगुणघातनस्वभावानां मिथ्यात्वमोहनीयसर्वघातिरसस्पर्धकानां प्रदेशोदयेऽपि कथं नु जिनाज्ञारुचित्वादिसम्यक्त्वगुणानामाविर्भाव इति वाच्यम्, तेषां सर्वघातिरसस्पर्धकप्रदेशानामध्यवसायविशेषेण मनाग्मन्दानुभावीकृतविरलवेद्यमानदेशघातिरसस्पर्धकेष्वन्तःप्रवेशितानां यथास्थितस्वबलप्रकटनासमर्थत्वात् सम्यक्त्वगुणाविर्भावे न काचिद्विप्रतिपत्तिः, प्रदेशोदयेन सह तद्गतरसस्य वेदनेऽपि रसस्य सूक्ष्मत्वात्, भक्षितैलाफलस्य कदल्यादिविकाराऽभाववदिति। गुणसङ्क्रमादिभिः सङ्क्रम्यमाणाः कर्म्मपरमाणवः सर्वथा यथा पर (पतद्ग्रह) प्रकृतितया परिणमय्य पर (पतद्ग्रह) प्रकृतिव्यपदेशमश्नुवते, न तथा स्तिबुकसंक्रमेण सङ्क्रान्ताः कर्म्माणवः सर्वथा परप्रकृतित्वेन व्यपदिश्यन्ते, किन्तु स्वव्यपदेशं रक्षित्वैव प्रागेवोदयवत्-

स्वजातीयप्रकृतेः स्थित्या समानां स्थितिं विधाय तत्समस्थितिकायाः स्वजातीयपरप्रकृतेः विपाकोदयेन सहोपभुज्यन्ते केचित्तु प्रदेशोदयमापन्नेषु कर्म्मसु केवलं प्रदेशानामुदय इति प्रदेशोदय इति विग्रहमाश्रित्य रसाभावं मन्यन्ते परमसङ्गतं तद् ः प्रदेशोदयावस्थायामपि रससद्भावोऽवश्यं वेद्यते, अन्यथा क्षयोपशमसम्यक्त्वाऽवस्थायां मिथ्यात्त्वमोहनीयस्य प्रदेशोदयः, सम्यक्त्वमोहनीयस्य च विपाकोदयः कथं संघटते ? न च सम्यक्त्वमोहनीयस्य विपाकोदयान् मिथ्यात्त्वमोहनीयस्य प्रदेशोदयो भिन्नकालीनः, यदा सम्यक्त्वमोहनीयस्य विपाकोदयः तदैव मिथ्यात्त्वमोहनीयस्य प्रदेशोदयः, तस्यां चाऽवस्थायां रसो वेद्यते "तं कालं बीयठिई, तिहाणुभागेण देसघाइत्थ । सम्मत्तं समिस्सं मिच्छत्तं सव्वघाईओ" ॥१॥ इति कर्मप्रकृतिवचनात् । यत्स्वरूपेण या प्रकृतिर्बद्धा तत्स्वरूपेण स्वविपाकमप्रदर्श्य उदयवत्या समानकालस्थितिकया प्रकृत्या सह यद्वेदनं स प्रदेशोदय इत्याशयः, अत्र बहुचर्चा, परमप्रस्तुतत्त्वाद् विस्तरभयाच्च न चर्च्यते, जिज्ञासुभिः कर्म्मप्रकृतिपञ्चसङ्ग्रहादयो विलोकनीयाः । अथ प्रकृतमनुस्रियते—एवं पूर्वोक्तरीत्या प्रदेशोदयविपाकोदयाभ्यां जायामाना निर्ज्जरा सकामाऽकामभेदाभ्यां द्विविधा, यद्यप्युभयत्र कर्म्मपरिशाटस्तथापि वक्ष्यमाणरीत्या कारणभेदात् कार्यभेदो ज्ञेयः । तत्र सह कामेन वर्त्तत इति सकामा, 'अनेनाऽनुष्ठानेन तपसा वा मे कर्म्मक्षयो भूयाद्' इतिलक्षणाऽभिलापा यस्यां सा सकामा सम्यग्दृष्टिदेशविरतसर्वविरतादीनाम् । अकामा तु कर्म्मक्षयलक्षणफलनिरपेक्षा सम्यग्दृष्टिव्यतिरिक्तानामेकेन्द्रियादीनां विज्ञेया, तथाहि;—एकेन्द्रियाः पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ताः शीतोष्णवर्षाजलाग्निशस्त्राद्यभिघातच्छेदभेदादिनाऽसद्वेद्यं कर्माऽनुभूय नीरसं कर्म स्वाऽऽत्मप्रदेशेभ्यः परिशाटयन्ति, विकलेन्द्रियाश्च क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिभिः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च छेदभेददाहशस्त्रादिभिः, नारकाश्च

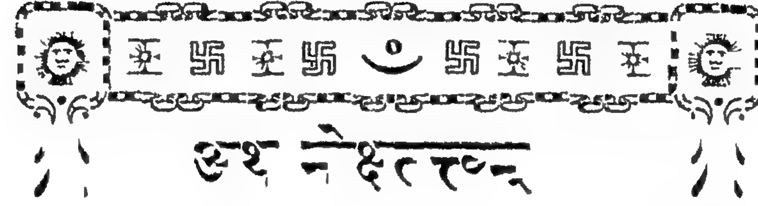
त्रिविधया वेदनया, मनुष्याश्च क्षुत्पिपासाव्याधिदारिद्र्यादिना, देवाश्च पराभियोगकिल्बिपत्वादिनाऽसद्वेद्यं कर्म्माऽनुभूय स्वप्रदेशेभ्यः परिशाटयन्ति, इत्येषामकामनिर्ज्जरा, निर्ज्जरायां सत्यामपि निर्ज्जरायाः परम्परस्य मोक्षफलस्य नावाप्तिरित्यकामा । इयमेव द्विभेदभिन्ना निर्ज्जरा तत्त्वार्थादिषु संज्ञान्तरेण व्याख्याता, तद्यथा;–अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला च, तत्र बुद्धिः कर्म शाटयामीत्येवंलक्षणा पूर्वा आदौ यस्यामिति बुद्धिपूर्वा, न बुद्धिपूर्वा अबुद्धिपूर्वा, इयमबुद्धिपूर्वा नरकादिषु कर्म्मपरिशाटलक्षणा-निर्ज्जराऽवद्यतोऽनुचिन्तनीया, नहि तादृशा निर्ज्जरया मोक्षः शक्योऽधिगन्तुमिति, यस्मादुपभुज्याऽपि तत् कर्म्मफलं पुनर्बन्धकत्वात् पुनः संसृतावेव भ्रमितव्यम् । यतोऽबुद्धिपूर्विकायां निर्ज्जरायां नहि नारकादिभिः तपः परीपहजयो वा मनीषित इति। कर्म्म शाटयामि तपसा परीपहजयेण वेत्यात्मिका बुद्धिः पूर्वा यस्यां सा कुशलमूलाभिधाना, कुशलं क्रमेण महानन्दपदप्राप्तिलक्षणं मूलं यस्या इत्यर्थः, सा च कुशलमूलाभिधाना शुभाऽनुबन्धिनी निरनुबन्धिनी वा, यतस्तादृशो विपाकः शुभमनुबध्नाति निर्ज्जरां च विधत्ते, शुभाऽनुबन्धश्च अमरेषु तावदिन्द्रसामानिकादिप्राप्तिलक्षणः, मनुजेषु च चक्रवर्तिबलदेवमहामण्डलिकादिपदानि लब्ध्वा पुन्यानुबन्धिपुन्यत्त्वात् पारम्पर्येण मुक्तिलाभस्वरूपः तपःपरीपहजयकृतो विपाकः सकलकर्म्मक्षयलक्षणः निरनुबन्धत्त्वात् साक्षान्मोक्षायैव जायते। ननु च यदि बुद्धिपूर्वा शुभाऽनुबन्धिनी निर्ज्जरा देवादिफलप्रदायिनी तत आगमेन सह विरोधः ' नो इह लोगट्ठियाए तवमहिट्ठेज्जा ' इत्यादि दशवैकालिकवचनप्रामाण्यात्, भण्यते, नैवं, यतो न मुमुक्षुणा देवादिफलमिष्टं, स हि तु मोक्षार्थमेव घटते, यदन्तरालिकं फलं देवत्त्वादि तदानुपङ्गिकम् इक्षुवनसेके तृणादिसेकवत्, मनीषितं तु तेन तपःपरीपहजयाभ्यां मोक्षः प्राप्य इति । ननु सकामाऽकामभेदाभ्यां क्षयमुपगतानां कर्म्मणां सत्यपि बन्धसादृश्ये

मोक्षतत्त्वे सत्पदादि-द्वाराणि।

मित्येकं द्वारम्। तथा 'द्रव्यप्रमाणं' द्रव्याणां प्रस्तुतानां सिद्धाख्यानामेव प्रमाणं प्रमितिः तद् द्वितीयं द्वारम् 'चः' समुच्चये, तथा 'क्षेत्रं' इति, गाथानुकूल्यार्थमनुस्वारस्य लोपः, 'क्षि निवासे' इतिवचनात् क्षियन्ति निवसन्त्यवगाहन्ते जीवद्रव्याणि यत्रेति क्षेत्रमाकाशम्, तच्च प्रस्तावात्सिद्धावगाहरूपं वाच्यम्, इदं तृतीयं द्वारम्। 'फुसणा य' इति स्पर्शना, 'चः' समुच्चये, सिद्धानां स्पर्शना वाच्येति चतुर्थम् क्षेत्रस्पर्शनयोश्चाऽयं विशेषः—यदवगाढं तत्क्षेत्रम्, यच्चानवगाढमपि स्पृष्टं तत्र स्पर्शना तथा च परमाणुक्षेत्रस्पर्शनाविषये निर्युक्तिकृतोक्तं—"एगपएसोगाढं सत्तपएसा य से फुसणा" इति। कालः साद्यपर्यवसितरूपः सिद्धानां वक्ष्यमाण इति पञ्चमं द्वारम् 'अन्तरं, व्यवधानं, तच्च सिद्धानामस्ति नास्ति वेति प्ररूपणीयं तत्षष्ठम्। ततो भागद्वारं सप्तमं, कतिथे भागे शेषजीवानां सिद्धा इति तथा भावः क्षायिकादिः, तन्मध्ये कस्मिन् भावे सिद्धा इत्यष्टमं द्वारम् 'अल्पबहुत्वं चैव' पुंस्त्रीनपुंसकसिद्धापेक्षया तेषामल्पबहुत्वं चिन्त्यमिति नवममनुयोगद्वारमिति। अत्राऽयमाशयः—'चउदसचउदस' इति द्वितीयगाथायां 'नव भेया कमेणेसिं' इति प्रतिज्ञेन मोक्षस्य नव भेदा उक्ताः, यथा जीवाऽजीवादितत्त्वानां चतुर्दशप्रमुखा भेदाः प्राक् प्रतिपादितास्तथा न इमे नव भेदा भेदत्वेन युक्ताः, अत्र त्वनुयोगद्वाराण्येव भेदा विज्ञेया इति। न केवलं मोक्षस्यैवेमान्यनुयोगद्वाराणि, किन्तु यस्य कस्यचिदपि सद्भूतपदार्थस्यानन्तरोक्तानि सत्पदादिद्वाराणि व्याख्याङ्गानि। यथा शङ्कते परः—किं मोक्षोऽस्ति नास्ति वा? यतोऽर्थापेक्षयाऽविद्यमाना अपि शशविषाणवन्ध्यापुत्राकाशपुष्पप्रमुखाः शब्दा लोके प्रवर्त्तमाना दृष्टाः, वाच्यापेक्षया सद्भूता अपि घटपटाद्याः शब्दाः प्रवर्त्तमाना दृश्यन्ते, तत्किमयं मोक्षशब्दः सत्यर्थे उतासतीति प्रवृत्तः? इति प्रश्नयति। आचार्य आह—अस्ति मोक्षः शुद्धपदत्वा-

१४४॥

ॐ



अथ मोक्षतत्त्वम्

यद्भावाऽमयनाशनं भवतरुच्छेदाऽसिधारानिभम्, यच्चाऽशेपहर्षकदोषदमनं कामार्त्तिखेदाऽपहम् ।
यस्माल्लब्धिनिधानसिद्धिवनिता आयान्ति स्वैरं वरा-स्तीर्थेशैर्विहितं स्वयं निगदितं संराध्यतां तत्तपः ॥१॥

वन्धविधानाऽनन्तरं ' मोक्खो कम्माभावो ' ' कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः ' इत्यादिवचनाद् बद्धस्य कर्मणः सर्वथा क्षयः स एव मोक्षः, इत्यतो निखिलसम्यग्दृष्टिसाध्यत्त्वाच्च सर्वान्तिमं मोक्षतत्त्वं वक्तुकामो ग्रन्थकारस्तद्विपयकनवानुयोगद्वार-प्रतिपादिकां गाथामाह;—

संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्त फुसणा य । कालो अंतरभागो भावे अप्पाबहु चेव ॥ ४३ ॥

टीका;—' संतपयपरूवणया ' इति, सत्पदप्ररूपणमेव सत्पदप्ररूपणा, गत्यादिमार्गणाद्वारेपु सिद्धानां सत्ता निरूपण-

N A V A T A T T V A

S U M A N G A L A

च समर्थैरे समाप्तं बन्धत्तत्त्वम् ४२ ।

संख्याय बन्धतत्त्वं यदर्जितं भं मया तेन बन्धविधिं विज्ञायाऽबन्धके भवतु भव्यौघः । १ ॥

इत्याराध्यपादाऽऽचार्यवर्य्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरविनेयावतंसपाठकप्रवरोपाध्यायपदालङ्कृतश्रीमत्प्रताप-विजयगणिवरान्तिपत्प्रवर्त्तकमुनिश्रीधर्मविजयविरचितायां नवतत्त्वसुमङ्गलायामष्टमं बन्धतत्त्वं समाप्तम् ॥

एकैको ह्यात्मप्रदेशोऽनन्ताऽनन्तैः कर्मप्रदेशैर्बद्ध इति ७। 'अनन्ताऽनन्तप्रदेशाः' इति, अनन्ते राशौ भूयोऽनन्तपुद्गलप्रक्षेपादथवाऽनन्तराशिर्भूयोऽप्यनन्तेन गुणितोऽनन्तानन्त इति व्यपदेशमश्नुते, ते चात्मन एकैकस्मिन् प्रदेशे ज्ञानावरणादिपुद्गला अनन्तानन्तप्रदेशाः स्कन्धाः कर्मवर्गणायोग्या बध्यन्ते, अयोग्यास्तु न बन्धमुपयान्तीति ८। प्रदेशबन्धविषयकोऽन्योऽप्यनुयोगो कर्मग्रन्थकर्मप्रकृत्यादिषु दृश्यते, तस्यायं संक्षेपः—इहाष्टविधबन्धकेन जन्तुना यदेकेनाध्यवसायेन वैचित्र्यतागर्भेण गृहीतं दलिकं तस्याष्टौ भागा भवन्ति, सप्तविधबन्धकस्य सप्तभागाः, षड्विधबन्धकस्य षड्भागाः, एकविधबन्धकस्यैको भागः। तत्र यदाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविधबन्धको जन्तुर्भवति तदा शेषकर्मस्थित्यपेक्षयाऽऽयुषोऽल्पस्थितित्वेन गृहीतस्य तस्यानन्तस्कंधात्मककर्मद्रव्यस्यांशः सर्वस्तोकः, ततो नाम्नि गोत्रे च तुल्यस्थितित्वेन स्वस्थाने द्वयोरपि समो भागः, आयुष्कभागाऽपेक्षया विशेषाधिकः। ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणाऽन्तरायाणां तुल्यस्थितिकत्वात् स्वस्थाने त्रयाणामपि समोंऽशः, नामगोत्रापेक्षया विशेषाधिकः, ज्ञानदर्शनावरणान्तरायापेक्षया मोहनीये विशेषाधिकः, ततो वेदनीयस्य सर्वतो विशेषाधिकः। वेदनीयस्य कर्मणः स्थित्या अल्पत्वेऽपि भागस्य यत्सर्वतो विशेषाधिकत्वं तत्र किं बीजमिति चेदुच्यते;—सुखदुःखजननस्वभावं वेदनीयं कर्म, तद्भावपरिणताश्च पुद्गलाः स्वभावात्प्रचुरा एव सन्तः स्वकार्यं सुखदुःखरूपं व्यक्तं कर्तुं समर्थाः, शेषकर्मपुद्गलाः पुनः स्वल्पा अपि स्वकार्यं निष्पादयन्ति। दृश्यन्ते च पुद्गलानां स्वकार्यजननेऽल्पबहुत्वकृतं सामर्थ्यवैचित्र्यं, यथा स्वल्पमपि विषं मारणादिकार्यं साधयति, लेष्टुकादिकं तु प्रचुरमित्येवमिहापि उपनयः कार्यः, वेदनीयमृते शेषाणामायुष्कादीनां स्थित्यनुसारेण भागस्य हीनाधिक्यं विज्ञेयम् उत्तरप्रकृतीनां भागस्य हीनाधिक्यमन्यतोऽवसेयमिति। इति प्रदेशबन्धस्य संक्षेपः, तस्मिन्

सर्वदिक्प्रदेशैरिति ? २ सोऽपि बन्धः किं सर्वजीवानां तुल्यः आहोस्वित् कुतश्चिन्निमित्तादतुल्यः ? ३। किंगुणाः केवलाः, पुद्गला बन्धास्पदं भवन्ति ? ४। यत्र चाकाशदेशे व्यवस्थिताः पुद्गलास्तत्रैवावगाढा ये जीवप्रदेशाः किं तेषामेव पुद्गलानां तत्र बन्धः, आहोस्विज्जीवप्रदेशावगाढगगनदेशव्यतिरिक्तप्रदेशवर्त्तिनोऽपि बध्यन्ते ? ५ किंवा स्थितिपरिणता बध्यन्ते अथवा गतिपरिणताः ? ६ ते च किमात्मना सर्वप्रदेशेषु अथैकदेशे श्लिष्यन्ति ? ७। स्कंधा वा किं संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशा बध्यन्ते, उताऽनन्ताऽनन्तप्रदेशा इति ? ८। एषामष्टानां प्रश्नानां पूर्वोक्तसूत्रस्य अष्टावयवानाश्रित्य निराकाङ्क्षकरणम्, तद्यथा;—'नामप्रत्ययाः' इति, ज्ञानावरणाद्यन्तरायपर्यवसानानामन्वर्थसंज्ञानां कर्मणां कारणानि पुद्गला भवन्तीत्यर्थः, अथवा 'किंप्रत्यया' इति विग्रहे योगा औदारिकादिशरीरनामकर्मलक्षणास्तन्निमित्ताः पुद्गला बन्धमायान्ति, अथवौदारिकादिबन्धननामनिमित्ताः पुद्गला बन्धमायान्तीति १। 'सर्वतः' इति, सर्वा दिक्षु आत्मावधिकासु व्यवस्थितान् पुद्गलानादत्ते अथवा सर्वत इति सर्वैरात्मप्रदेशैः पुद्गलान् गृह्णाति २। 'योगविशेषात्' इति, नापि सर्वेषां बन्धकानां सम्बन्धस्तुल्यः, कुतः ? योगविशेषात्, आत्मना युज्यत इति योगः, कायादिचेष्टा, योगानां विशेषः तीव्रमन्दादिको भेदस्तस्मात्तुल्यबन्धाऽभाव इति ३। 'सूक्ष्माः' इति, सूक्ष्मपरिणतिरूपाः कर्मवर्गणायोग्या एव बध्यन्ते, न बादरपरिणतिभाजः, ४। 'एकक्षेत्रावगाढाः' इति, एकस्मिन्नभिन्ने क्षेत्रे जीवप्रदेशैस्सह येऽवगाढास्ते बध्यन्ते, च वर्त्तमानास्ते रागादिस्नेहगुणयोगादात्मनि लगन्ति, न क्षेत्रान्तरावगाढा इति ५। 'स्थिताः' इति, स्थितिपरिणामपरिणताः स्थिता एव बध्यन्ते, न गतिपरिणताः, ते गतिपरिणामविशेषादात्मनि श्लिष्यन्त इति ६ 'सर्वात्मप्रदेशेषु' इति, सर्वप्रकृतिपुद्गलाः सर्वात्मप्रदेशेषु बध्यन्ते,

बन्धतत्त्वे प्रदेश-बन्धः।

बन्धमायान्ति तासामपि तथास्वाभाव्यात् जघन्यतोऽपि द्विस्थानक एव रसो बन्धमायाति, नैकस्थानक इति। पुना रसमधिकृत्य द्विविधाः प्रकृतयः, घातिन्यः, अघातिन्यश्च। घातिनीष्वपि सर्वघातित्वदेशघातित्वापेक्षया द्विविधत्त्वम्, तत्र याः प्रकृतयः स्वविषयं कात्स्न्र्येन घ्नन्ति ताः सर्वघातिन्यः केवलद्विकमाद्यद्वादशकषाया मिथ्यात्वं निद्रापञ्चकञ्चेति विंशतिः। एता हि प्रकृतयो यथायोगमात्मघात्यं गुणं सम्यक्त्वं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं वा सर्वात्मना घातयन्तीति। स्वविषयं देशतो घ्नन्ति ता देशघातिन्यः ज्ञानावरणचतुष्कदर्शनावरणत्रिक(सम्यक्त्वमिश्रमोहनीय)सञ्ज्वलनचतुष्कहास्यादिषट्क वेदत्रिकाऽन्तरायपञ्चकलक्षणाः पञ्चविंशतिप्रकृतयः। शेषा अघातिन्यः। अघातिनीनामपि तासां सर्वदेशघातिप्रकृतिसम्पर्कात्तद्रसविपाकोपदर्शकत्त्वं भवतीति। अत्र सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां वा प्रकृतीनां यानि चतुःस्थानकरसानि त्रिस्थानकरसानि वा स्पर्धकानि तानि नियमतः सर्वघातीनि भवन्ति, द्विस्थानकरसानि तु सर्वघातिनीनां सर्वघातिन्येव, देशघातिनीनां तु कानिचित्सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनीत्येवं मिश्राणि, एकस्थानकरसानि च देशघातिनीनामेव भवन्ति, तानि च देशघातिन्येव। अत्रानुभागबन्धे जीवपुद्गलभवक्षेत्रविपाकादिकमधिकृत्यान्योऽपि विशेषोऽस्ति, दिङ्मात्रमत्र दर्शितं, विस्तरस्तु बन्धशतकादिभ्योऽवसेयः॥

अथ प्रदेशबन्धस्संक्षेपतो भाव्यते, तस्मिन् विषये श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रे "नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः (अ० ८, सूत्र २५)" इति सूत्रं, तत्राष्टौ प्रश्नाः;—कस्य प्रत्ययाः कारणीभूताः के प्रत्यया वा पुद्गला बध्यन्ते? इत्येकः प्रश्नः १। जीवोऽपि तान् बध्नानः पुद्गलान् किमेकेन दिक्प्रदेशेन बध्नात्युत

दिरसा इह यथोत्तरमनन्तगुणा द्रष्टव्याः अत्र च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणानि पुरुषवेदश्चत्वारः सञ्ज्वलनाः प विधमन्तरायं चेति सप्तदशप्रकृतय एकद्वित्रिचतुःस्थानकपरिणताः प्राप्यन्ते बन्धमधिकृत्य। तत्र यावन्न श्रेणिप्रतिपत्तिस्तावदासां सप्तदशप्रकृतीनां यथाध्यवसायं द्विस्थानकस्य त्रिस्थानकस्य चतुःस्थानकस्य वा रसस्य बन्धः। श्रेणिप्र पत्तौ त्वनिवृत्तिबादराद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु तदनन्तरमेतासामशुभत्वादत्यन्तविशुद्धाध्यवसाययोगेनैकस्थानकस्यैव रसस्य बन्ध इत्येता बन्धमधिकृत्य चतुःस्थानपरिणताः प्राप्यन्ते शेषास्तु शुभा अशुभा वा द्विस्थानकरसास्त्रिस्थानकरसाश्चतुःस्थानकरसाश्च प्राप्यन्ते, न तु कदाचनाप्येकस्थानकरसाः। यत उक्तानां सप्तदशव्यतिरिक्तानां हास्याद्यानामशुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धयोग्या शुद्धिरपूर्वकरणप्रमत्ताप्रमत्तानां न भवति, यदा त्वेकस्थानकरसबन्धयोग्या परमप्रकर्षप्राप्ता शुद्धिरनिवृत्तिबादराद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतो जायते तदा बन्धमेव न ता आयान्तीति न तासामेकस्थानको रसः। न च यथा श्रेण्यारोहेऽनिवृत्तिबादराद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु परतोऽतिविशुद्धत्वान्मतिज्ञानावरणादीनामेकस्थानकरसबन्धस्तथा क्षपकश्रेण्यारोहे सूक्ष्मसम्परायस्य चरमद्विचरमसमयादिषु वर्त्तमानस्यातीव विशुद्धत्वात् केवलद्विकस्य सम्भवद्बन्धस्यै थानकरसबन्धसम्भवः कथं न भवतीति शङ्कनीयं, स्वल्पस्यापि केवलद्विकरसस्य सर्वघातित्वात्, सर्वघातिनां च जघन्यपदेऽपि द्विस्थानकरसस्यैव सम्भवात्। शुभानामपि प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टे नैकस्थानकरसं बध्नाति, मनाग्विशुध्यमान एव तद्बन्धसम्भवात्, अतिसंक्लिष्टे मिथ्यादृष्टौ तद्बन्धासम्भवात्, संक्लेशोत्कर्षे च शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धसम्भावनानवकाशात्। यास्त्वतिसंक्लिष्टेऽपि मिथ्यादृष्टौ नरकगतिप्रायोग्या वैक्रियतैजसाद्याः भप्रकृतयो

ग्रहणसमये एव तेषां लेश्यासहचरितकाषायिकेणाध्यवसायेन सर्वेभ्योऽप्यनन्तगुणा रसाविभागा आपद्यन्ते, ज्ञानावारकत्वादि विचित्रस्वभावता च, अचिन्त्यत्वाज्जीवानां पुद्गलानां च शक्तेः, न चैतदनुपपन्नं, तथा दर्शनात्, यथा शुष्कतृणादिपरमाणवोऽत्यन्तनीरसा अपि गवादिभिर्गृहीताः सन्तो विशिष्टक्षीरादिरसरूपतया सप्तधातुरूपतया च परिणमन्त इत्येतदुक्तं प्रायः।

इहानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानां शुभाऽशुभभेदाभ्यां संक्लिश्यमानविशुध्यमानभेदाभ्यां वा द्विविधत्वं, तत्र शुभैः क्षीरखंडरसोपममाह्लादजनकमनुभागं कर्मपुद्गलानामाधत्ते, निंबघोषातकीरसोपमं चाऽशुभैः। ते च शुभा अशुभा वा अनुभागबन्धाध्यवसायाः प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, केवलं क्षपकश्रेण्यारोहणनिबन्धनभूतानुभागबन्धाध्यवसायस्थानाऽपेक्षया शुभाऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामाधिक्यं, यतो यानेवानुभागबन्धाध्यवसायान् क्रमशः स्थापितान् संक्लिश्यमानः क्रमेणाधोऽध आस्कन्दति, तानेव विशुध्यमानः क्रमेणोर्ध्वोर्ध्वमारोहति, ततो यथा प्रासादादवतरतो यावन्ति सोपानस्थानानि भवन्ति तावन्त्येवारोहतोऽपि, तथात्रापि यावन्त एव संक्लिश्यमानस्याऽशुभाध्यवसायास्तावन्त एव विशुध्यमानस्यापि शुभाध्यवसायाः, केवलं क्षपकश्रेणिगतेष्वध्यवसायेषु वर्त्तमानः क्षपकश्रेणिमारोहति तेभ्यः पुनर्न निवर्तते, तस्य प्रतिपाताऽभावात्, अतस्तदपेक्षया विशेषाधिकाः शुभाध्यवसायाः। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानकैरुत्पाद्यमानो रसो यद्यप्यनन्तभेदभिन्नस्तथापि स्पष्टार्थं विभागचतुष्कं तस्योपन्यासस्तद्यथा;—एकस्थानको द्विस्थानकस्त्रिस्थानकश्चतुःस्थानक इति। तत्र स्वाभाविको यो रसः सैकस्थानकः, द्वयोः कर्षयोरावर्त्तितयोर्य एकः कर्षोऽवशिष्यते तदुपमो द्विस्थानकः, त्रयाणां कर्षाणामावर्त्तितानां य एकः कर्षोऽवशिष्यते तदुपमस्त्रिस्थानकः, चतुर्णां कर्षाणामावर्त्तने कृते सत्युद्धरितैककर्षोपमश्चतुःस्थानकः। एकस्थानका-

निखिलैरपि तैरध्यवसायस्थानैरेका स्थितिर्निर्वर्त्यत इत्यर्थः ः समयाधिकां जघन्यां स्थितिं यानि निर्वर्त्तयन्ति तान्यप्य-संख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यानि, केवलं पूर्वेभ्यो विशेषाधिकानि। एवं यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धनिर्वर्त्तकानि तान्यपि असंख्येय-लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्तीत्यर्थः इति संक्षेपतः स्थितिबन्धः।

यद्यपि ग्रन्थकारमहर्षिभिर्मूलगाथाभिर्यथा प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धौ भावितौ न तथाऽनुभागप्रदेशबन्धौ, तथापि बन्धतत्त्वविवरणप्रसङ्गे तयोरपि वर्णनं दातुं समुचितमित्यवसरसङ्गतिन्यायेन तयोरनुभागप्रदेशबन्धयोरपि संक्षेपो भाव्यते;—

इह गम्भीरापारसंसारसरित्पतितमध्यविपरिवर्त्ती रागादिसचिवो जन्तुरभव्यानन्तगुणसिद्धानन्तभागकल्पैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति, यथा च योगानुसारबध्यमानकर्मस्कन्धेषु तत्समयवर्त्तिस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैः स्थितिप्रमाणं निर्वर्त्यते जीवेन तथा तत्समयवर्त्ति लेश्यासहचारिकषायोदयरूपानुभागबन्धाध्यवसायस्थानैर्बध्यमानकर्मस्कंधेषु शुभाऽशुभविपाकोत्पादकरसांशा अपि उत्पाद्यन्ते तत्रैकस्मिन् कर्मस्कन्धे प्रतिपरमाणु यः सर्वजघन्यो रसः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसभागान् प्रयच्छति, अन्यस्तु कर्मपरमाणुस्तानविभागानेकाधिकान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानपि द्व्यधिकान्, अन्यस्तु तानपि त्र्यधिकान्, अन्यस्तु तानपि चतुरधिकान्, इत्यादि वृद्ध्या तावद्नेयं यावदन्त्य उत्कृष्टः कर्मपरमाणुर्मौलराशेरनन्तगुणानपि रसाविभागान् प्रयच्छति। इयमत्र भावना;—इह पूर्वं कर्मप्रायोग्यवर्गणाऽन्तःपातिनः सन्तः कर्मपरमाणवो न तथाविधविशिष्टरसोपेता आसन्, किन्तु प्रायो नीरसा एकस्वरूपाश्च, यदा तु जीवेन गृह्यन्ते तदा[1] ॥१४०॥

१ पुद्गलवर्त्तिवर्णगन्धरसापेक्षया नात्र नीरसत्त्वं, किन्तु शुभाशुभविपाकजनकरसापेक्षया नीरसत्त्वं भावनीयम्।

प्रकृतीनामेव वर्धते, शुभानां तु परिहीयत एव, कषायमन्दतया तु शुभप्रकृतीनामेवानुभागो वर्धतेऽशुभप्रकृतीनां तु हीयत इति न कषायमनुवर्ततेऽनुभागः, स्थितयस्तु शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां कषायवृद्धौ नियमाद्वर्धन्ते तदपचये त्वपचीयन्त इत्येकान्तेन कषायान्वयव्यतिरेकानुसारित्वादशुभा एवेति । यदि वा यथा यथा शुभप्रकृतीनां स्थितिर्वर्धते तथा तथा शुभानुभागस्तत्संबन्धी हीयते, परिगालितरसेक्षुयष्टिकल्पानि शुभकर्म्माणि भवन्तीत्यर्थः । अशुभप्रकृतीनां तु स्थितिवृद्धावशुभरसोऽपि तत्सम्बन्धी वर्धत एवेत्यतोऽपि कारणात् स्थितीनामेवाशुभत्वं, तद्वृद्धेः शुभानुभागक्षयहेतुत्वादशुभानुभागवृद्धिहेतुत्वाच्चेति । ननूक्तरूपेण ज्येष्ठा स्थितिः संक्लेशेन बध्यते, जघन्या तु किंप्रत्यया ? उच्यते, जघन्या पुनः कषायापचयरूपया विशुद्ध्या बध्यते, इदमुक्तं भवति–इह ये ये विवक्षितमूलोत्तरप्रकृतीनां बन्धकास्तेषां मध्ये यो यः सर्वोत्कृष्टविशुद्धियुक्तः स तत्तद्विवक्षितकर्मस्थितिं जघन्यां बध्नातीति भावः । अयं पूर्वोक्तः प्रकारो नरामरतिर्यगायूंषि वर्जयित्वा विज्ञेयः, यतस्तेषां त्रयाणामायुषां स्थितिः शुभैव भवति, विशुद्धिलक्षणस्य तस्य कारणस्य शुभत्वात्, मनुष्यतिर्यगायुषोर्हि वृद्धिस्त्रिपल्योपमावसाना, देवायुषस्तु वृद्धिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमावसानाऽपि शुभा, विशुद्धिरूपकारणत्वात्तस्या इति । अथवा प्रस्तुतायुष्कस्थितिवृद्धौ रसोऽपि वर्धते स च शुभः सुखजनकत्वात्, इत्यतोऽपि प्रस्तुतायुष्कस्थितेः शुभत्वं, तद्वृद्धेः शुभरसवृद्धिहेतुत्वात् । किं च नरामरतिर्यगायुर्लक्षणं प्रकृतित्रयं मुक्त्वा शेषप्रकृतीनां प्रकृष्टसंक्लेशविशुद्धिभ्यां स्थित्युपचयापचयौ द्रष्टव्यौ, प्रस्तुतायुस्त्रयस्य तु तद्बन्धकेषु सर्वोत्कृष्टविशुद्धिरुत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति, सर्वसंक्लिष्टस्तु सर्वजघन्यमिति विपरीतं द्रष्टव्यमिति ॥

इह ज्ञानावरणादिकर्मणः सर्वजघन्याया अपि स्थितेर्निर्वर्तकानि असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि,

प हे स्वस्वोत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या भागे हृते सति यल्लभ्यते तत्पल्योपमासंख्येयभागहीनं सत् जघन्यस्थितिपरिमाणमवसेयम् तथा च प्रज्ञापनोपाङ्गे;–'इत्थिवेयस्स पुच्छा, गो० . जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखइज्जेण भागेण ऊणयं, उक्कोसेणं पण्णरससागरोवमकोडाकोडीओ पण्णरस वा ताइं अबाहा' इत्यादि।

ननु 'जोगा पयडिपएसं' इति वचनाद्यथा प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगप्रत्ययौ तथा प्राक् ... जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नः स्थितिबन्धः किंप्रत्ययः? इति चेदुच्यते;–सर्वोऽपि स्थितिबन्धः संक्लेश(कषायोदय)प्रत्ययः, तत्र नरामरतिर्यगायूंषि वर्जयित्वा शेषाणां निखिलानामपि शुभाऽशुभानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धे उत्कृष्टसंक्लेशः कारणम्, क्रमेण च हीयमाने संक्लेशे स्थितिबन्धोऽपि न्यूनो न्यूनतरो न्यूनतमश्च भवति, यदुक्तं शतकाख्ये पञ्चमकर्मग्रन्थे श्रीमद्देवेन्द्रसूरिशेखरैः— 'सव्वाण वि जिट्ठठिइ असुहा जं साइसंकिलेसेणं। इयरा विसोहिओ पुण मुत्तुं नरअमरतिरिआउं ॥ १ ॥ बृहच्छतकेऽपि ज्येष्ठस्थितिबन्धप्रस्तावे तथैवोक्तं 'उक्कोससंकिलेसेणं ईसिं अहमज्झिमेणावि।' ततश्चायं प्रस्तुतार्थः, सर्वासामपि प्रकृतीनां ज्येष्ठा स्थितिरत्यन्तसंक्लेश(कषायोदय)जन्या, अत एव सा अशुभा, अशुभातिशयकषायोदयरूपकारणजन्यत्वात्। एतदुक्तं भवति;—सर्वासामपि शुभाऽशुभानां प्रकृतीनां स्थितयः संक्लेशवृद्धौ वर्द्धन्ते तदपचये च हीयन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां संक्लेश(कषायोदय)मेव स्थितयोऽनुवर्त्तन्त इत्यशुभा अशुभकारणनिष्पन्नत्वात्, अशुभवृक्षाशुभफलवत्। नन्वेवं तर्हि 'ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ' इति वचनादनुभागोऽपि कषायप्रत्यय एव, ततोऽयमप्यशुभकारणत्वादशुभ एव प्राप्नोति, अथ च शुभप्रकृतीनामसौ शुभ एवेष्यत इति, नैवमभिप्रायापरिज्ञानात्, यतः सत्यपि हि कषायजन्यत्वे कषायवृद्धावनुभागोऽशुभ-

भागहीनै जघन्या स्थितिः, अबाधाकालेऽन्तर्मुहूर्त्तः, यतस्तस्य वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति, न न्यूनां। तदुक्तं—"वेउव्वियछक्के तं सहस्सताडियं जं असण्णिणो तेसिं। पलियासंखंसूणं ठिइ अबाहूणियनिसेगो ॥ १ ॥" आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गतीर्थंकरनाम्नां योत्कृष्टा स्थितिः प्रागुक्ताऽन्तःसागरोपम कोटीकोटिप्रमाणा सा संख्येयगुणहीना जघन्या स्थितिर्भवति, सापि चान्तःसागरोपमकोटिकोटीप्रमाणैव, अबाधा त्वन्तर्मुहूर्तम्, यशःकीर्तेर्जघन्या स्थितिरष्टौ मुहूर्त्ताः, अबाधात्त्वन्तर्मुहूर्त्तकालीना। गोत्रकर्मणि नीचैर्गोत्रस्य सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तमबाधा, उच्चैर्गोत्रस्य चाष्टौ मुहूर्त्ताः, अबाधा अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा। इति जघन्यस्थितिबन्धः।

अत्र पञ्चसंग्रहप्रज्ञापनादिग्रन्थेषु जघन्यस्थितिबन्धे किञ्चिन्मतान्तरम्, यतोऽत्र प्राग्व्याख्याते जघन्यस्थितिबन्धे कर्मकल्मषविवेकप्रवणैः श्रीमच्छिवशर्मसूरिवरैः कर्मप्रकृत्यां यदुक्तं 'वग्गुक्कोस ठिईणं' इत्यादि, तस्याधारेण जघन्यस्थितिबन्धः प्रदर्शितः, तत्र ज्ञानावरणप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणीयवर्गः। दर्शनावरणप्रकृतिसमुदायो दर्शनावरणीयवर्गः। वेदनीयप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्गः। दर्शनमोहनीयप्रकृतिसमुदायो दर्शनमोहनीयवर्गः, चारित्रमोहनीयप्रकृतिसमुदायश्चारित्रमोहनीयवर्गः, नोकषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्गः। नामप्रकृतिसमुदायो नामवर्गः। गोत्रप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्गः। अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्गः। एतेषां वर्गाणां याऽऽत्मीयात्मीयोत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यादिलक्षणा, तस्या मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटिलक्षणया भागे हृते सति यल्लभ्यते तत्पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं सदुक्तशेषाणां प्रकृतीनां जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयमिति। एतन्मतानुसारेणात्र जघन्या स्थितिर्भाविता।

गाथायां जघन्यस्थितिबन्धो मूलप्रकृतिमाश्रित्य प्रदर्शितः अथोत्तरप्रकृतिमाश्रित्य जघन्यस्थितिबन्धः प्रदर्श्यते;—पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनलक्षणदर्शनावरणचतुष्कस्य पञ्चानां चान्तरायप्रकृतीनां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तकालः, अबाधाप्यन्तर्मुहूर्त्तमेव। दर्शनावरणे निद्रापञ्चकस्य जघन्या स्थितिः सागरोपमस्य त्रयः भागाः ($\frac{3}{7}$) पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनाः वेदनीये सातवेदनीयस्य जघन्या स्थितिर्द्वादश मुहूर्त्ताः, अन्तर्मुहूर्त्तश्चाबाधाकालः। इह कापायिक्या एव स्थितेर्जघन्यत्वप्रतिपादनमभिप्रेतं, अतो द्वादश मुहूर्त्ता इत्युक्तं, अन्यथा सातवेदनीयस्य जघन्या स्थितिः समयद्वयमात्रापि सयोगिकेवल्यादौ प्राप्यते। अशातावेदनीयस्य जघन्या स्थितिः सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः मोहनीयप्रकृतेः पल्योपमासंख्येयभागहीनः एकस्सागरोपमः, सञ्ज्वलनवर्जानां द्वादशकषायाणां चत्वारः सप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः। पुरुषवेदवर्जानामष्टानां नोकषायाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्यासंख्येयभागहीनौ। संज्वलनक्रोधस्य मासद्वयं, सञ्ज्वलनमानस्य मासः, सञ्ज्वलनमायाया अर्धमासः, सञ्ज्वलनलोभस्यान्तर्मुहूर्त्तं जघन्या स्थितिः, अबाधा सर्वेषामन्तर्मुहूर्त्तम्। पुंवेदस्य जघन्यास्थितिरष्टौ वर्षाणि, अबाधा अन्तर्मुहूर्त्तकालः। देवनारकायुषां जघन्या स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि, अबाधा अन्तर्मुहूर्त्तम्, जघन्यायुःस्थितिरुत्कृष्टाऽऽबाधासंज्ञकभङ्गापेक्षया पूर्वकोटित्रिभागोऽपि तिर्यग्मनुष्यायुषां जघन्या स्थितिः क्षुल्लकभवग्रहणम्, अबाधा अन्तर्मुहूर्त्तकालः। देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकयशःकीर्त्तितीर्थंकरवर्ज्शेषनामप्रकृतीनां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ जघन्या स्थितिः, देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणस्य वैक्रियषट्कस्य द्वौ सप्तभागौ सहस्रगुणितौ ($\frac{2000}{7}$) पल्योपमासंख्येय

परा स्थितिः वर्षसहस्रद्वयं चाबाधा ॥

आयुःकर्मणि देवायुषः परा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अबाधायां पूर्वकोटित्रिभाग उत्कर्षेण, जघन्याबाधा त्वन्तर्मुहूर्त्तम्, यत आयुषोऽबाधायां चतुर्भङ्गाः, उत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टाबाधा, उत्कृष्टास्थितिर्जघन्याबाधा, जघन्या स्थितिरुत्कृष्टाबाधा, जघन्या स्थितिश्च जघन्याबाधा। तत्र पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यः त्रिभागावशेषे आयुषि आगामिदेवभवायुषमुत्कृष्टस्थितिकं यदा बध्नाति तदा प्रथमो भङ्गः, स एव जघन्यमध्यमायुष्को वा मनुजोऽन्तर्मुहूर्त्तावशेषे आयुषि आगामिदेवभवायुषमुत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति तदा द्वितीयो भङ्गः। पूर्वकोट्यायुष्को मनुजो यदा पूर्वकोटित्रिभागावशेषे निजायुषि दशसहस्रप्रमाणं जघन्यस्थितिकं देवायुर्बध्नीते तदा देवायुषमपेक्ष्य तृतीयो भङ्गः। जघन्यायुष्केऽन्तर्मुहूर्त्तावशेषे निजायुषि दशवर्षसहस्रमानं देवायुषं बध्नाति तदा जघन्यस्थितिर्जघन्याबाधासंज्ञकश्चतुर्थ भङ्गकः। एवं शेषाणामप्यायुषामबाधाविषयः स्वधिया परिभावनीयः। मनुजायुषः परास्थिति त्रिपल्योपममाना, तिर्यगायुषोऽप्येवमेव, नारकायुषस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि। इत्युत्कृष्टस्थितिबन्धः॥४०॥४१॥

उत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरं जघन्यस्थितिबन्धं भावयति;—

बारस मुहुत्त जह वेयणिए अट्ठ नाम गोएसु। सेसाणंतमुहुत्तं एयं बंधट्ठिईमाणं ॥ ४२ ।

टीका;—'बारस' इति, द्वादशमुहूर्त्तानि जघन्या स्थितिः, कस्य कर्मणः ? वेदनीयस्य शातावेदनीयस्येत्यर्थः। अष्टमुहूर्त्तानि नामगोत्रयोर्जघन्या स्थितिः, शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयाऽऽयुरन्तरायाणां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमिति। 'एयं' इति, एतत् प्राग् नाणेत्यादिगाथाद्वये व्याख्यातमिदं च जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं कर्मणां बन्धस्थितिमानम्। अस्यां

रायमाश्रित्य मूलोत्तरप्रकृतिषु स्थितिबन्धः समानः, वेदनीये तावदसद्वेद्यस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः परा स्थितिः, सद्वेद्यस्य पञ्चदश सागरोपमकोटिकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, पञ्चदशवर्षशतान्यबाधा नामप्रकृतीनां तावत् मनुष्यगतिमनुजानुपूर्व्योरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः प दश सागरोपमकोटिको : प दशवर्षशतान्यबाधा। नरकगतिनरकानुपूर्वीतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्येकेन्द्रियजातिप न्द्रियजातितैजसकार्मणौदारिकवैक्रियशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासातपोद्योताप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरपर्या त्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेययायशःकीर्तिनिर्माणलक्षणानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां विंशतिसागरोपमकोटिकोट्यः परास्थितिः, विंशतिवर्षशतानि चाबाधाकालः। देवगतिदेवानुपूर्वीसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिलक्षणानामेकादश प्रकृतीनां दश सागरोपमकोटिको : दशवर्षशतान्यबाधा च। न्यग्रोधसंस्थानवज्रनाराचसंहननयोर्द्वादश सागरोपमकोटिको : परा स्थितिः, द्वादशवर्षशतान्यबाधा। सादिसंस्थाननाराचसंहननयोरुत्कृष्टा चतुर्दश सागरोपमकोटीको : स्थितिः, चतुर्दश वर्षशतान्यबाधा। कुब्जसंस्थानार्धनाराचसंहननयोरुत्कृष्टा स्थितिः षोडशसागरोपमकोटिकोट्यः, षोडशवर्षशतान्यबाधा। वामनसंस्थानकीलिकासंहननद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजा नां सूक्ष्मापर्याप्तस ारणनाम्नां चोत्कृष्टा स्थितिरष्टादशसागरोपमकोटिकोट्यः अष्टादशवर्षशतान्यबाधा, सेवार्त्तसंहननहुंडकसंस्थानयोर्विंशतिसागरोपमकोटिको : परा स्थितिः, वर्षसहस्रद्वयं चाबाधा- : । आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गतीर्थकरनाम्नामुत्कृष्टा स्थितिरन्तस्सागरोपमकोटिकोटिप्रमाणा, अबाधा त्वन्तर्मुहूर्त्तम्। गोत्रकर्मणि उच्चैर्गोत्रस्य दशसागरोपमकोटिकोट्यः, दशवर्षशतान्यबाधा। नीचैर्गोत्रस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः

सहस्रत्रितयं चाऽऽबाधाकालः, बाधा(निषेक)कालस्तु वर्षसहस्रत्रितयन्यून त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः, यत्प्रभृति ज्ञानावरणीयादिकर्म उदयावलिकाप्रविष्टं यावच्च निःशेषमुपक्षीणं तावद् भवति, तच्च बन्धकालादारभ्य त्रिषु वर्षसहस्रेष्वतीतेषु उदयावलिकां प्रविशति सामान्यतः, स खल्वबाधाकालो यतस्तत्कर्म नानुभूयते तावन्तं कालमिति। एवं सर्वत्राप्यबाधाकालविषये स्वधिया परिभावनीयम् इदमत्र हृदयम्;—इह द्विधा स्थितिः, कर्मरूपतावस्थानलक्षणाऽनुभवप्रायोग्या च। कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमाधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणाभिधानमिदमवगन्तव्यम्। अनुभवप्रायोग्या पुनरबाधाकालहीना। येषां च कर्मणां यावत्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तेषां तावन्ति वर्षशतान्यबाधाकालः। तथा मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, इदं च दर्शनमोहनीयमाश्रित्य विज्ञेयमन्यथा चारित्रमोहनीयस्य चत्वारिंशत्सागरोपकोटीकोट्यः, उभयोरपि दर्शनचारित्रमोहयोः क्रमेण सप्तसहस्रचतुस्सहस्रवर्षाण्यबाधाकालः। नामगोत्रयोर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः, वर्षसहस्रद्वयं चाबाधाकालः। आयुषः त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि पूर्वकोटीत्रिभागाऽभ्यधिकानि, पूर्वकोटीत्रिभागश्चाबाधाकालः। मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्ध उक्तः, इदानीमुत्तरप्रकृतिमाश्रित्य सैव उत्कृष्टबन्धो भाव्यते;—तत्र ज्ञानावरणदर्शनावरणान्त-

१ ननु शेषकर्मणामुत्कृष्टा स्थितिरबाधासहितैव सूत्रकारेण गणिता, कथमायुषोऽबाधा स्थितेर्भिन्ना प्रदर्श्यते ? सत्यम् ! सर्वत्र प्रायो ग्रन्थकारमहर्षेरेवंभूतैव विवक्षा दृश्यते, यथा 'त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य' (तत्त्वा० अध्या० ८–सू–१८) 'तेत्तीसुदही सुरनारयाउ सेसाउ पल्लतिगं' (कर्मप्रकृतिः गाथा ७३) तथापि तत्र तत्र टीकाकारपूज्यैरुत्कृष्टस्थित्या अबाधा पृथगुक्तेति नास्ति काचिद्विप्रतिपत्तिः ॥

नरकगत्यादीनि नामान्युदयमायान्तीति आयुरनन्तरं नामग्रहणम्, नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यमतो नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहणम् गोत्रोदये चोच्चैः कुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयोपशमो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात्, नीचैः-कुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभाद्यन्तरायोदयो भवति नीचजातीनां तथा-दर्शनात्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणमिति ॥ ३९ ॥

प्रकृतिबन्धनिरूपणं विधाय अथ स्थितिबन्धनिरूपणप्रसङ्गे प्रागुत्कृष्टस्थितिबन्धं निरूपयति;—

नाणे अ दंसणावरणे, वेयणिए चेव अंतराए अ। तीसं कोडाकोडी, अयराणं ठिइ अ उक्कोसा।४०॥
सित्तरि कोडाकोडी मोहणिए वीस नाम गोएसु। तित्तीसं अयराइं, आउट्ठिइ बंध उक्कोसा।४१॥

टीका;—पदैकदेशात्पदसमुदायस्यापि ग्रहणमिति न्यायेन 'नाणे' इति पदेन ज्ञानावरणीयस्य ग्रहणम्, अयमर्थः-ज्ञानावरणस्य दर्शनावरणस्य वेदनीयस्य अंतरायस्य च कर्मणः उत्कृष्टा स्थितिः त्रिंशत्कोटीकोटीसागरप्रमाणा, मोहनीयस्य सप्ततिकोटीकोटीसागरप्रमाणा, मोहनीयस्य विंशतिकोटीकोटीसागरप्रमाणा, आयुषश्चोत्कृष्टा स्थितिः त्रयस्त्रिंशत्सागरमाना। इति गाथाद्वयाक्षरार्थः विस्तरार्थस्त्वयम्;—आत्मना ( ) परिगृहीतस्य कर्म्मपुद्गलराशेरात्मप्रदेशेष्ववस्थानं स्थितिः, विवक्षितबध्यमानलतामाश्रित्य बन्धकालमादौ कृत्वा यावत्कालं संक्रमोद्वर्त्तनापवर्त्तनादिव्याघाताऽभावे विवक्षितलतागतं दलिकमशेषं न जीर्णं भवति तावत्कालीना तल्लतायाः स्थितिरिति तात्पर्यम्। सा च जघन्योत्कृष्टभेदाभ्यां द्विविधा, तावदादौ उत्कृष्टां स्थितिमाह;—ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः, वर्ष-

प्रकृतिबन्धो व्याख्यातः ।

ननु प्रथमं ज्ञानावरणं द्वितीयं दर्शनावरणं यावदष्टममन्तरायमितिक्रमस्सहेतुक उत निर्हेतुक ? उच्यते;—यद्यपि बन्धकालचिन्तामाश्रित्य तु प्रागुक्तनीत्या समकमेव सप्तानामष्टानां वा कर्म्मणां बन्धः नतु प्राग् ज्ञानावरणं ततो दर्शनावरणमन्तिममन्तरायश्चेति, तथापि सिद्धान्तसिद्धक्रमसाधनायेयं परिपाटी सहेतुका विधीयते । तत्र ज्ञानदर्शने जीवस्य स्वतत्त्वभूते, तयोरभावे जीवत्त्वस्यैवायोगात्, तयोर्ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये ज्ञानं प्रधानं, ज्ञानोपयोगयुक्तस्यैव लब्धिप्राप्तेर्मोक्षावाप्तेश्च, सकलशास्त्रादिविचारप्रवृत्तिरपि ज्ञानार्थिना एव ततो ज्ञानं प्रधानं तदावारकं च ज्ञानावरणं कर्म यतस्तत्प्रथममुक्तं, तदनन्तरं च दर्शनावरणं, ज्ञानोपयोगाच्च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात्, एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्वविपाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवतः, तथाहि;—ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षप्राप्तं विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचाराऽसमर्थमात्मानं जानानः खिद्यते भूरिलोकः, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमात् पाटवोपेतश्च सूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञयाभिजानानः बहुजनातिशायिनमात्मानं पश्यन् सुखं वेदयते । तथातिनिबिडदर्शनावरणोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखसन्दोहं वचनगोचरातिक्रान्तम् । दर्शनावरणक्षयोपशमसौष्ठवपरिकलितश्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो यथावद्वस्तु निकुरम्बं सम्यगवलोकमानो वेदयतेऽमन्दमानन्दसन्दोहं, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तरं वेदनीयग्रहणम् । वेदनीयं च सुखदुखे जनयति, सुखदुःखावाप्तौ चावश्यं संसारिणां रागद्वेषौ तौ च मोहनीयहेतुकाविति वेदनीयानन्तरं मोहनीयम् । मोहनीयमूढाश्च जन्तवो बह्वारम्भपरिग्रहप्रभृतिकर्मादानासक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणम् । नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं

तीर्थंकरगतदुर्भगत्त्वं निमित्तं, किंतु तद्गतमिथ्यात्त्वदोष एवेत्यवधेयं यदुदयाल्लोके यत्तदपि वचनं प्रमाणं करोति दर्शनसमनन्तरमेव चाभ्युत्थानाद्याचरति तदादेयनाम १७। तद्विपरीतमनादेयनाम, यदुदयादुपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, नाप्यभ्युत्थानादियोग्यः १८ तपःशौर्यत्यागादिना समुपार्जितेन यशसा कीर्त्तनं यशःकीर्त्तिः, यद्वा यशः सामान्येन ख्यातिः, कीर्तिर्गुणोत्कीर्त्तनरूपा प्रशंसा, अथवा 'एकदिग्गामिनी कीर्त्तिः सर्वदिग्गामुकं यशः दानपुण्यभवा कीर्त्तिः पराक्रमकृतं यशः ॥१॥' ते यशःकीर्ती यदुदयाद्भवतस्तद्यशःकीर्तिनाम १९। तद्विपरीतमयशःकीर्त्तिनामयदुदयान्मध्यस्थस्यापि जनस्याप्रशस्यो भवति २०। उक्ताः सप्रतिपक्षाः प्रत्येकप्रकृतयः।

अत्र त्रसादयो दश प्रकृतयस्त्रसादिदशकं, स्थावरादयश्च दश स्थावरादिदशकमिति संज्ञा ग्राह्या। गोत्रस्य द्वे उत्तरप्रकृती;—उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं च। यदुदयादुत्तमजातिकुलबलतपोरूपैश्वर्यश्रुतसत्काराभ्युत्थानासनप्रदानाञ्जलिप्रग्रहादिसम्भवस्तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयात् ज्ञानादिसंपन्नोऽपि निन्दां लभते हीनजात्यादिसंभवां तन्नीचैर्गोत्रम्।

अन्तरायस्य दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायभेदात् पञ्चोत्तरप्रकृतयः, तत्र यदुदयात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायं। यदुदयाद्दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयं गुणवानपि याचमानोऽपि न लभते तल्लाभान्तरायं। यदुदयाद्विशिष्टाहारादिप्राप्तावप्यसति च प्रत्याख्यानादिपरिणामे पण्यान्नोत्सहते भोक्तुं तद्भोगान्तरायं। एवमुपभोगान्तरायमपि भावनीयं, नवरं भोगोपभोगयोरयं विशेषः—सकृद्भुज्यत इति भोगः, पुनःपुनरुपभुज्यत इत्युपभोगः। यदुदयात्सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनेऽपि वर्त्तमानोऽल्पप्राणो भवति तद्वीर्यान्तरायं। इत्येवं मूलोत्तरभेदतः

स्थावरा भवन्ति २। यदुदयाज्जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं बादरत्वं भवति तद्बादरनाम, पृथिव्यादेरेकैकशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बादरत्वपरिणामविशेषाद्बहूनां समुदाये चक्षुषा ग्रहणं भवति ३। तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद्बहूनां समुदितानामपि जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति ४। यदुदयात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो भवति तत्पर्याप्तनाम ५। तद्विपरीतमपर्याप्तनाम, यदुदयात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो न भवति ६। यदुदयात्प्रतिजीवं भिन्नशरीरमुपजायते तत्प्रत्येकनाम, ननु कपित्थाश्वत्थपीलुप्रभृतिनां मूलस्कंधत्वक्छाखादयः प्रत्येकमसंख्येयजीवाः प्रवचने प्रोच्यन्ते, मूलादयश्च देवदत्तशरीरवदखण्डैकशरीराकारा उपलभ्यन्त इति कथं तेषां प्रत्येकशरीरत्वं? प्रतिजीवं शरीरभेदाऽभावात्, इतिचेन्मैवं, तन्मूलादिष्वसङ्ख्येयानामपि जीवानां भिन्नभिन्नशरीराभ्युपगमात्, केवलं श्लेषद्रव्यमिश्रितसकलसर्षपवर्तिवत्प्रबलरागद्वेषोपचितवैचित्र्यप्रत्येकनामकर्मपुद्गलोदयात्तेषां परस्परविमिश्रशरीरसंभवात् ७। यदुदयादनन्तानां जीवानामेकं शरीरं भवति तत्साधारणनाम ८। यदुदयाच्छिरोऽस्थिदन्तादीनां शरीरावयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम ९। तद्विपरीतमस्थिरनाम, यदुदयाज्जिह्वादीनां शरीरावयवानामस्थिरता १०। यदुदयान्नाभेरुपरितना अवयवाः शुभा जायन्ते तच्छुभनाम, ११। तद्विपरीतमशुभनाम, यदुदयान्नाभेरधस्तनाः पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति, तथाहि;—शिरसा स्पृष्टस्तुष्यति मनुष्यः पादेन तु रुष्यति, कामिन्याः पादस्पर्शेन च यस्तोषः स मोहनिबन्धनो न तु वास्तव इति न तेन व्यभिचारः १२। यदुदयाज्जीवस्वरः श्रोतॄणां प्रीतिहेतुर्भवति तत्सुस्वरनामा, १३। तद्विपरीतं दुःस्वरनाम, यदुदयात्स्वरः श्रोतॄणामप्रीतिहेतुर्भवति १४। यदुदयादनुपकृदपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत्सुभगनाम १५। तद्विपरीतं दुर्भगनाम, यदुदयादुपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति १६। यच्च तीर्थकरोऽप्यभव्यानां द्वेष्यो भवति तत्र न

ताश्च सप्रतिपक्षा अप्रतिपक्षाश्चेति द्विविधाः । तत्र पूर्वमल्पवक्तव्यत्वादप्रतिपक्षा उच्यन्ते, ताश्चागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासातपोद्योतनिर्माणतीर्थकरनामभेदादष्ट । तत्र यदुदयात्प्राणिनां शरीराणि न गुरूणि न लघूनि नापि गुरुलघूनि केवलमगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तदगुरुलघुनाम १ । यदुदयात्स्वशरीरावयवैरेव प्रतिजिह्वागलवृन्दलम्बकचौरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते स्वयंकृतोद्बन्धनभैरवप्रपातादिभिर्वा तदुपघातनाम २ । यदुदयादोजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन महासभागतः सभ्यानामपि त्रासमुत्पादयति प्रतिवादिनश्च प्रतिभां प्रतिहन्ति तत्पराघातनाम ३ । यदुदयादुच्छ्वासनिःश्वासलब्धिरुपजायते तदुच्छ्वासनाम ४ यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यप्युष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम ५, तद्धि श्व भानुमण्डलगतभूकायिकेष्वेव, न वह्नि, प्रवचने निषेधात्, तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शोदयादुत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिष्यत इति । यदुदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्ति यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियचन्द्रग्रहनक्षत्रताराविमानरत्नौषधयस्तदुद्योतनाम ६ । यदुदयाज्जन्तुशरीरेष्वङ्गप्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवर्त्तिता भवति तन्निर्माणनाम सूत्रधारकल्पं, तदभावे हि तद्भृतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्त्तितानामपि शिरउरउदरादीनां स्थानप्रवृत्तेरनियमस्स्यात् ७ । यदुदयादष्टमहाप्रातिहार्याद्यतिशयाः प्रादुर्भवन्ति तत्तीर्थकरनाम ८ । उक्ता अप्रतिपक्षाः प्रत्येकप्रकृतयः । अथ सप्रतिपक्षा उच्यन्ते, श्व त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुस्वरसुभगादेययशःकीर्त्तयः स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणास्थिराशुभदुस्वरदुर्भगानादेयायशःकीर्त्तिरूपप्रतिपक्षसहिता विंशतिः । तत्र त्रसन्त्युष्णाद्यभितप्ताः स्थानान्तरं गच्छन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि त्रसनाम १ । तद्विपरीतं स्थावरनाम, यदुदयादुष्णाद्यभितापेऽपि स्थानपरिहारासमर्थाः पृथिव्यादयः

बन्धतत्त्वे उत्तर प्रकृतयः। ॥१३४॥

यत्र शिरोग्रीवं । हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतं उरउदरादि च मडभं तत्कुब्जं ३७ । यत्र पुनरुरउदरादि प्रमाणलक्षणोपेतं हस्तपादादिकं च हीनं तद्वामनं ३८ । यत्र तु सर्वेऽप्यवयवाः प्रमाणलक्षणपरिभ्रष्टास्तत् हुंडं ३९ । वर्ण्यतेऽलंक्रियते शरीरमनेनेति वर्णः, स च पञ्चधा;—श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णभेदात् तन्निबन्धनं नामापि पञ्चधा । तत्र यदुदयाज्जन्तूनां शरीरे श्वेतवर्णः प्रादुर्भवेत् यथा बलाकादीनां तच्छ्वेतवर्णनाम, एवमग्रेऽपि भावनीयम् ४४ । 'गन्ध अर्दने' गन्ध्यते आघ्रायते इति गन्धः, स द्विधा—सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च, तन्निबन्धनं नामापि द्विधा । तत्र यदुदयाज्जन्तूनां शरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते यथा शतपत्रादीनां तत्सुरभिगन्धनाम ४५, एतद्विपरीतं दुरभिगन्धनाम भावनीयं ४६ । 'रस आस्वादनस्नेहनयोः' रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, स च पञ्चधा;—तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात्, तन्निबन्धनं नामापि पञ्चधा । तत्र यदुदयाज्जन्तूनां शरीरेषु तिक्तो रसो भवति यथा मरिचादीनां तत्तिक्तरसनाम । एवमग्रेऽपि भावनीयम् ५१ । 'छुप स्पृश संस्पर्शे' स्पृश्यते इति स्पर्शः, स च कर्कशमृदुलघुगुरुस्निग्धरूक्षशीतोष्णभेदादष्टप्रकारः, तन्निबन्धनं स्पर्शनामाप्यष्टभेदं । तत्र यदुदयाज्जन्तूनां शरीरेषु पाषाणादीनामिव कार्कश्यं भवति तत्कर्कशस्पर्शनाम । एवमग्रेऽपि भावनीयम् ५९ । विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणि नियता गमनपरिपाट्यानुपूर्वी, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यानुपूर्वी, सा चतुर्धा;—नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी देवगत्यानुपूर्वी चेति ६३ । विहायसा गतिर्विहायोगतिः, प्रथमप्रकृतिव्यवच्छेदाय विहायसेति विशेषणं सा प्रशस्ताऽप्रशस्ता हंसगजवृषभादीनं, अप्रशस्ता खरोष्ट्रमहिषादीनां तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि द्विप्रकारा विहायोगतिः ६५ उक्ताः पिण्डप्रकृतयः, एतासां चावान्तरभेदाः पञ्चषष्टिः । अथ प्रत्येकप्रकृतयो वक्तव्याः,

संङ्घातननामकर्मसिद्धिरिति संप्रदायाभिप्रायस्यैव युक्तत्वात् २७ संहननं नामास्थिरचनाविशेषः, तत् षोढा;-वज्रर्षभनाराचं ऋषभनाराचं नाराचं अर्द्धनाराचं कीलिका सेवार्त्तं च वज्रं कीलिका, ऋषभः परिवेष्टनपट्टः, नाराचमुभयतो मर्कटबन्धः, श्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाख्य-वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद्वज्रर्षभनाराचसंज्ञमाद्यं संहननं २८, यत्पुनः कीलिकारहितं तदृषभनाराचं द्वितीयं, २९। यत्रास्थ्नो मर्कटबन्ध एव केवलस्तन्नाराचसंज्ञं तृतीयं, ३०। यत्र पुनरेकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे च कीलिकाबन्धस्तदर्धनाराचं चतुर्थं, ३१ यत्रास्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्कीलिकाख्यं प ं, ३२, यत्र पुनः परस्परं पर्यन्तस्पर्शमात्रलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति नित्यमेव स्नेहाऽभ्यङ्गादिरूपां सेवां प्रतीच्छन्ति वा तत्सेवार्त्ताख्यं ं, ३३। एतन्निबन्धनं संहनननामकर्माऽपि षोढा। संस्थानमाकारविशेषः सङ्गृहीतसङ्घातितबद्धेष्वौदारिकादिपुद्गलेषु यदुदयाद्भवति तत्संस्थाननाम, एवमग्रेऽपि भावनीयं। समाः सामुद्रिकशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयश्चतुर्दिग्भागोपलक्षिताः शरीरावयवा यस्य तत्समचतुरस्रं, ३४। भेरुपरि सम्पूर्णप्रमाणत्वादधस्त्वतथात्वादुपरि संपूर्णप्रमाणाधोहीनन्यग्रोधवद् परिमंडलं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमंडलं ३५। आदिरिहोत्सेधाख्यो नाभेरधस्तनो देहभागो गृह्यते, ः सह आदिना भेरधस्तनभागेन यथोक्तप्रमाणलक्षणेन वर्त्तत इति सादि, विशेषणाऽन्यथाऽनुपपत्त्या विशिष्टार्थलाभः। अपरे साचीति पठन्ति, तत्र साचीति समयविदः शाल्मलीतरुमाचक्षते, ः साचीव यत्संस्थानं तत्साचि, यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धकाण्डमतिपुष्टं उपरि च न तदनुरूपा महाविशालता तद्वदस्यापि संस्थानस्याधोभागः परिपूर्णो भवति उपरिभागस्तु न तथेति भावः ३६।

पञ्चधा ९। शीर्यत इति शरीरं, तच्च पञ्चधा–औदारिकं वैक्रियं आहारकं तैजसं कार्मणं च, तद्विप ाकवेद्यं कर्मापि शरीरनाम पञ्चधा। यदुदयादौदारिकशरीरयोग्यान् पुद्गलानादायौदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुगमरूपतया संबन्धयति तदौदारिकशरीरनाम एवं शेषशरीरनामान्यपि भावनीयानि १४। अङ्गान्यष्टौ शिरःप्रभृतीनि। उक्तञ्च;–'सीसमुरोयरपिट्ठी दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा'। तदवयवभूतान्यङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि। शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलेपर्वरेखादीन्यङ्गोपाङ्गानि। ततोऽङ्गानि चोपाङ्गानि चाङ्गोपाङ्गानि, अङ्गोपाङ्गानि चाङ्गोपाङ्गानि चाङ्गोपाङ्गानि 'सरूपाणामेकशेषः' इत्येकशेषः, तन्निमित्तं कर्माङ्गोपाङ्गं तत्त्रिधा, औदारिकाङ्गोपाङ्गं, वैक्रियाङ्गोपाङ्गं आहारकाङ्गोपाङ्गं च। तत्र यदुदयादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तदौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, एवं वैक्रियाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नी अपि भावनीये। तैजसकार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसमानसंस्थानत्वान्नास्त्यङ्गोपाङ्गसम्भवः१७। बध्यतेऽनेनेति बन्धनं, यदुदयादौदारिकपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परमेकत्वमुपजायते काष्ठद्वयस्येव जतुसम्बन्धात्, तच्चौदारिकबन्धनादिभेदेन पञ्चप्रकारं २२। सङ्घात्यन्ते गृहीत्वा पिण्डी क्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत्संघातनं, तदप्यौदारिकसङ्घातनादिभेदेन पञ्चविधं। अथ कोऽस्य व्यापारः ? पुद्गलसंहतिमात्रमिति चेन्न, पुद्गलसंहतिमात्रस्य ग्रहणमात्रादेव सिद्धत्वात् तत्र संघातननामकर्मणोऽनुपयोगाद्, औदारिकादिशरीररचनानुकारिसङ्घातविशेषस्तद्व्यापार इति संप्रदायमतं, तदपि न, तन्तुसंहतेः पट इवौदारिकादिवर्गणाप्रभवपुद्गलसंहतेरेवौदारिकशरीरादौ हेतुत्वात् तत्राधिकविशेषानाश्रयणादिति चेत्सत्यं, प्रतिनियतप्रमाणौदारिकादिशरीररचनार्थं संहतिविशेषस्यावश्याश्रयणीयत्वात्तन्निमित्ततारतम्यभागितया

दीर्घं निःश्वसिति तच्छोकमोहनीयं, २३ । यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा स्वसङ्कल्पतो बिभेति तद्भयमोहनीयं, २४ । यदुदयाच्छुभमशुभं वा वस्तु जुगुप्सते तज्जुगुप्सामोहनीयं २५ । वेदत्रिकं स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च । तत्र यदुदये स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः पित्तोदये मधुराभिलाषवत् स स्त्रीवेदः, २६ । यदुदयात्पुंसः स्त्रियामभिलाषः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स पुरुषवेदः, २७ । यदुदयात्स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलाषः पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवत् स नपुंसकवेदः २८ । एते षोडश कषाया नव च नोकषायाश्चारित्रमोहसंज्ञाः ॥

सुरायुर्नरायुस्तिर्यगायुर्नराकायुश्चेति चतस्र आयुषः प्रकृतयः । अथ नामकर्मण उत्तरभेदानाह—

चतुर्दश पिण्डप्रकृतयोऽष्टाऽप्रतिपक्षाः प्रत्येकप्रकृतयस्त्रसदशकं स्थावरदशकं चेति द्विचत्वारिंशन्मूलनामप्रकृतयः । तत्र गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गबन्धनसङ्घातसंहननसंस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शानुपूर्वीविहायोगतयश्चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः। पिण्डत्वं अवान्तरभेदयुक्तत्त्वं, तत्र गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः नारकत्त्वादिपर्यायपरिणतिः, सा चतुर्धा नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्च, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिः, सापि चतुर्द्धा ४। एकेन्द्रियादिनामेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथाविधसमानपरिणतिलक्षणं सामान्यं जातिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जातिः । अयमत्र पूर्वसूरीणामभिप्रायः—द्रव्यरूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गनामेन्द्रियपर्याप्तिसामर्थ्यात्सिद्धं, भावरूपं तु स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसामर्थ्यात् 'क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि' इति वचनात् । यत्पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं सामान्यं तदन्याऽसाध्यत्त्वाज्जातिनामनिबन्धनमिति, जातिः पञ्चधा;—एकेन्द्रियजातिर्द्वीन्द्रियजातिस्त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियजातिः पञ्चेन्द्रियजातिश्चेति । तद्विपाकवेद्यं जातिनामकर्मापि

मोहनीयं त्रिधा, तत्र यदुदया ज्जिनप्रणिततत्त्वाश्रद्धानं तन्मिथ्यात्त्वं। यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वं न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति तत् सम्यग्मिथ्यात्त्वं। यदुदयवशाज्जिनप्रणीततत्त्वं सम्यक् श्रद्धत्ते तत् सम्यक्त्वम् ३। कषायनोकषायभेदाभ्यां चारित्रमोहनीयं द्विधा, तत्र षोडश कषायभेदाः, कषस्य संसारस्यायो लाभो येभ्यस्ते कषायाः क्रोधमानमायालोभाः, ते च प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदाच्चतुर्धा, तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः, एषां च संयोजना इति द्वितीयमप्यस्ति नाम संयोज्यन्ते सम्बध्यन्तेऽनन्तैर्भवै जन्तवो यैस्ते संयोजना इति व्युत्पत्तेः ७। न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात्तेऽप्रत्याख्यानाः ११। प्रत्याख्यानं सर्वविरतिरूपमाव्रियते यैस्ते प्रत्याख्यानावरणाः १५। परीषहोपसर्गनिपाते सति चारित्रिणमपि सं ईषज्ज्वलयन्तीति संज्वलनाः ११। नोकषाया इत्यत्र नोशब्दः साहचर्ये, ततः कषायैः सहचारिणः सहवर्तिनो ये ते नोकषायाः, कैः कषायैः सहचारिण इति चेदाद्यैर्द्वादशभिः। तथाहि;–नाद्येषु द्वादशसु कषायेषु क्षीणेषु नोकषाया अवतिष्ठन्ते, तदनन्तरमेव तेषामपि क्षपणाय क्षपकस्य प्रवृत्तेः। यद्वैते समुज्जृम्भमाणा अवश्यं कषायानुद्दीपयन्ति ततः कषायसहचारिणः उक्तञ्च;–'कषायसहवर्तित्वात्कषायप्रेरणादपि। हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता ॥ १ ॥ ते च नोकषाया नव, हास्यादिषट्कं वेदत्रिकञ्च। तत्र हास्यादिषट्कं हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सालक्षणं। तत्र यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद्धास्यमोहनीयम् २०। यदुदयाद्बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रीतिस्तद्रतिमोहनीयं २१। यदुदयात्तेष्वप्रीतिस्तदरतिमोहनीयं, २२। प्रीत्यप्रीती साताऽसातात्मके एवेति वेदनीयकर्मणैवानयोरन्यथासिद्धिरिति नाशङ्कनीयं, तदुपनीतसुखदुःखहेतुसंनिधानेऽपि चित्ताऽन्यथाभावस्यैतद्व्यापारत्वात्, यदुदयात् प्रियविप्रयोगादावाक्रन्दति भूपीठे लुठति

एतच्च सर्वघातीति ५

अथ नवविधं दर्शनावरणं, तद्यथा;—सर्वमेवेन्द्रियं सामान्यविशेषवेधस्वभावस्याऽऽत्मनः करणद्वारं, पश्यत्यनेनेति चक्षुः, तद्वारकं च सामान्यमात्रोपलम्भनमात्मपरिणतिरूपं चक्षुर्दर्शनं, तल्लब्धिघाति चक्षुर्दर्शनावरणम् १। शेषेन्द्रियमनोविषयमविशिष्टमचक्षुर्दर्शनं, तल्लब्धिघाति अचक्षुर्दर्शनावरणम् २। अवधिरेव दर्शनमवधिदर्शनम्, तदावरणमवधिदर्शनावरणम् ३। केवलमेव दर्शनं केवलदर्शनं, तदावरणं केवलदर्शनावरणम् ४। 'द्रा' कुत्सायां, नियतं द्राति अविस्पष्टतया कुत्सितत्वं गच्छति चैतन्यं यस्यां स्वापावस्थायां सा निद्रा, नखच्छोटिकामात्रसाध्यप्रबोध्यस्वापावस्थेत्यर्थः ५। निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मध्यमपदलोपी समासः, तस्या ह्यत्यन्तमस्फुटीभूतं चैतन्यं बहुभिर्यत्नैः प्रबोधमुपयाति ६। उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति घूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला ७। प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, इयं हि चङ्क्रमणादि कुर्वतोऽप्युदयमागच्छतीति प्रचलातोऽस्या अतिशायित्वं, ८। स्त्याना पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः, तद्भावे हि प्रथमसंहननस्यार्धचक्रवर्धबलसदृशी शक्तिरुपजायते ९। अत्र निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्त्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टयं तु उद्गमोच्छेदित्वात्समूलघातं दर्शनलब्धिं हन्तीति बहुश्रुतवचनम्। तथा च प्राप्तस्य दर्शनस्य नाशकत्त्वेनाऽप्राप्तस्य च प्रतिबन्धकत्त्वेन नवानामपि प्रकृतीनां दर्शनावरणत्त्वं परिभाषितं भवति॥ वेदनीयस्य द्वे प्रकृती, सातमसातं च, तत्र यदुदयादारोग्यविषयोपभोगादिजनितमाह्लादलक्षणं सातं वेद्यते तत्सातवेदनीयम् १। तद्विपरीतमसातवेदनीयम् २। दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीयभेदाभ्यां मोहनीयं द्विविधं, तत्र मिथ्यात्त्व-सम्यग्मिथ्यात्त्व-सम्यक्त्वभेदैर्दर्शन-

ज्ञानावरणं, श्रुतज्ञानावरणं, अवधिज्ञानावरणं, मनःपर्ययज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणं। तत्राऽऽत्मनो ज्ञस्वभावस्य प्रकाशरूपस्य ज्ञानावरणक्षयोपशमक्षयसमुद्भवाः प्रकाशविशेषा मतिज्ञानादिव्यपदेश्या बहु विकल्पाः। तत्र च ज्ञानावरणस्य स्वस्थाने यावन्तो विकल्पाः सम्भवन्ति ते सर्वे ज्ञानावरणेनैव ग्राह्या। विकल्पाश्चेमे;—इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वादवग्रहादयो मतिज्ञानस्य, अङ्गानङ्गविकल्पाः श्रुतज्ञानस्य, भवक्षयोपशमजप्रतिपात्यादिविकल्पाश्चावधिज्ञानस्य, ऋजुविपुलमति विकल्पौ मनःपर्यायज्ञानस्य, सयोगाऽयोगस्थादिविकल्पाः केवलज्ञानस्येति। तत्रेन्द्रिय निमित्तं श्रोत्रादिपञ्चकसमुद्भवं क्षयोपशमजं ज्ञानं योग्यदेशावस्थितस्वविषयग्राहि, अनिन्द्रियं तु मनोवृत्तिरोघज्ञानञ्च, तदेतन्मतिज्ञानं चतुरष्टाविंशतिद्वात्रिंशत्षट्त्रिंशदुत्तरत्रिशतभेदमाश्रियते येन तन्मतिज्ञानावरणम् देशघाति लोचनपटलवच्चन्द्रप्रकाशाऽभ्रादिवद् वा १। तथा श्रोत्रेन्द्रियलब्धिः श्रुतं शेषेन्द्रियमनो विज्ञानञ्च श्रुतग्रन्थानुसारि स्वार्थाभिधानप्रत्यलं श्रुतज्ञानं, तदनेकभेदमाचक्षते प्रवचनाऽभिज्ञाः। यथाह बृहत्कल्पे;—'जावंति अक्खराइं, अक्खरसंजोग जत्तिया लोए। एवइआ पगडीओ, सुयनाणे होंति नायव्वा' ॥ १ ॥ तस्यावरणं श्रुतज्ञानावरणम्, एतदपि देशघातीति २। अन्तर्गतबहुतरपुद्गलद्रव्यावधानादवधिः, पुद्गलद्रव्यमर्यादयैव वाऽऽत्मजः क्षयोपशमजः प्रकाशाविर्भावो वाऽवधिरिन्द्रियनिरपेक्षः साक्षात् ज्ञेयग्राही लोकाकाशप्रदेशमानप्रकृतिभेदः, तदावरणमवधिज्ञानावरणम्, इदमपि देशघात्येव ३। तथा मनुष्यक्षेत्राऽन्तर्वर्त्तिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियगृहीतचिन्तितमनोद्रव्यपर्यायान् निमित्तीकृत्य पल्योपमाऽसंख्येयभागावच्छिन्नभूतभविष्यत्सम्बन्धिसामान्यविशेषग्राही आत्मनो यः प्रतिभासस्तन्मनःपर्यायज्ञानं, तस्यावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणं, एतदपि देशघाति ४। समस्तावरणक्षयाविर्भूतमात्मप्रकाशतत्त्वमशेषद्रव्यपर्यायग्राहि केवलज्ञानं, तदाच्छादनकृत् केवलज्ञानावरणं

दर्शने ज्ञानदर्शने तयोरावरणं ज्ञानदर्शनावरणं, ज्ञानावरणं दर्शनावरणं चेत्यर्थः। तथा वेद्यते सुखदुःखरूपतयाऽनुभूयते यत्तद्वेद्यम्, वेदनीयमित्यर्थः, यद्यपि सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पंकजादिशब्दवद्वेद्यशब्दस्य रूढिविषयत्त्वात्साताऽसातरूपमेव कर्म वेद्यमित्युच्यते न शेषम्। तथा मोहयति जानानमपि प्राणिनं सदसद्विवेकविकलं करोतीति मोहः, लिहादित्वादच्प्रत्ययः, मोहनीयमित्यर्थः। तथा एति गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा एति आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिदुर्गतेर्निर्गन्तुमनसोऽपि जन्तोरित्यायुः उभयत्रापि उणादिको णुस् प्रत्ययः, यद्वाऽऽयाति भवाद्भवान्तरं संक्रामतां जन्तूनां निश्चयेनोदयमागच्छति, पृषोदरादित्वाच्छब्दसिद्धिः, यद्यपि च सर्वं कर्मोदयमायाति तथाप्यस्त्यायुषो विशेषः यतः शेषं कर्म बद्धं सद् किंचित्तस्मिन्नेव भवे उदयमायाति, किञ्चित्तु प्रदेशोदयमुक्तं जन्मान्तरेऽपि स्वविपाकत उदयं नायातीत्येवेत्युभयत्राऽपि व्यभिचारः, आयुषि त्वयं नास्ति, बद्धस्य तस्मिन्नेव भवेऽवेदनात्, जन्मान्तरसङ्क्रान्तौ तु स्वविपाकतोऽवश्यं वेदनादिति विशिष्टस्यैवोदयागमनस्य विवक्षितत्त्वात्तस्य चायुष्येव सद्भावात्तस्यैवैतन्नाम, अथवा आयान्त्युपभोगाय तस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोग्याणि सर्वाण्यपि शेषकर्म्माणीत्यायुः। तथा नामयति गतिजातिप्रभृतिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम तथा 'गुङ्' शब्दे, गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्तद्गोत्रम्। तथा विशेषेण हन्यन्ते दानादिलब्धयो विनाश्यन्तेऽनेनेति 'स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यः कः' इति कप्रत्यये विघ्नमन्तरायम्। 'चः' समुच्चये। 'पणनवदुअट्ठवीस' इत्यादि, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिसमासः भावार्थः पुनरयम्;—पञ्चविधं ज्ञानावरणम्, नवविधं दर्शनावरणम्, द्विविधं वेद्यं, अष्टाविंशतिविधो मोहः, चतुर्विधमायुः,त्र्युत्तरशतविधं नाम, द्विविधं गोत्रं पञ्चविधं विघ्नमिति। तत्र पञ्चविधं ज्ञानावरणं,यथा मति-

अतो गोत्रकर्म कुम्भकारकल्पम् ।

दारिद्यभाग्द्विजाऽवचः श्रुत्वा प्रसन्नेन नृपतिना जीविताहंदानार्थमादेशे दत्तेऽपि कार्पण्यदोषाकुलो भाण्डागारिकस्तस्मै द्विजाय न किञ्चित्प्रयच्छति तथा योग्यसामग्रीसद्भावेऽपि दानं दातुमादातुं वा अन्तरायोदयभागयं जीवो न शक्नोति तस्माद्भाण्डागारिककल्पमन्तरायकर्म्म इति ॥ ३८ ।

अथ प्रकृतिबन्धं विधानतो भावयति;—

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि विग्घं च पण नव दु अट्ठवीस चउतिसयदुपणविहं ॥३९॥

टीका;—'इह' इति अस्मिन् बन्धप्रकरणे प्रकृतिबन्धो मूलभेदाऽपेक्षयाऽष्टविधः, उत्तरभेदाऽपेक्षया अष्टापञ्चाशदधिकशतप्रकार इत्युपरिष्टाद्विज्ञेयम्, ते च मूलोत्तरभेदाः किंनामानः कस्य मूलभेदस्य कतिसंख्याका उत्तरभेदा इत्यनया गाथया प्रदर्श्यते । तत्रादौ मूलभेदान्नामग्राहमाह;—'नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि विग्घं च' इति, अत्राऽऽवरणशब्दस्योभयत्र सम्बन्धात् ज्ञानावरणदर्शनावरणे, ज्ञानावरणञ्च दर्शनावरणञ्च वेद्यञ्च मोहश्च आयुश्च नाम च गोत्रञ्चेति ज्ञानावरणदर्शनावरणवेद्यमोहायुर्नामगोत्राणीति द्वन्द्वः । तत्र ज्ञायते परिछिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानं, ज्ञप्तिर्वा ज्ञानम्, सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः । तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं, दृष्टिर्वा दर्शनं, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः । आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणं, यद्वाऽऽवृणोत्याच्छादयति 'रम्यादिभ्यः कर्त्तरि, इत्यनटि प्रत्यये आवरणं, मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणाऽन्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः । ततो ज्ञानञ्च

नरदेवदर्शनाभिलाषं कश्चिन्मनुजे राजभुवनद्वारिसमागतोऽपि प्रतीहारेण निषिद्धः सन् दर्शनेच्छायां सत्यामपि तल्लाभवञ्चितो भवति, एवं चित्रविचित्रपदार्थालोकनसुगंधिद्रव्याघ्राणनसंगीतप्रमुखध्वनिश्रवणादीन्यभिलपन्नपि चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणसंज्ञककर्मोदयावाप्ताऽन्धत्वबधिरत्वादिकः स्वाभिलापापूरणेऽसमर्थो भवति तस्माद्दर्शनावरणं प्रतीहारकल्पम् ॥

मधुलिप्ताऽसिधारा मुखे प्रक्षिप्ता सती यावत्कालं मध्वंशस्तावत्स्वादातिशयं प्रयच्छति, किन्त्वनन्तरं जिह्वाच्छेदं विधत्ते तद्वद् यावत्सातोदयस्तावत्सुखानुभवस्स्यादनन्तरमशातोदयेनाऽशुभविपाकोदयो भवतीत्यतो वेदनीयं मधुलिप्तासितुल्यम् ॥

मदिरापानमत्तो मातृकलत्रादिविवेकविकलस्सञ्जायते तथा मोहनीयकर्मोदयवानात्मा श्रद्धामूलकं हेयोपादेयनिवृत्तिप्रवृत्तिलक्षणं विवेकं न सञ्जानीते ततो मदिरापानोपमं मोहनीयम् ।

निगडनिक्षिप्तकरचरणो नरो यथापराधं यावद्दण्डकालस्तावन्न निगडान्मुच्यते, एवं यावद्विवक्षितभवायुरुदयस्तावत्तद्भवान्मोक्तुं नार्हो भवतीत्यायुर्निगडसंनिभम् ।

विचित्रचित्रपरिकर्मकुशलो यथाचातुर्यं शुकपिकनरामरादीनां चित्राणि रचयति तथा तत्तन्नामकर्मोदयेन कश्चिदात्मा कश्चिन्नारकः कश्चिद्देवः कश्चिन्नरः कश्चिदेकेन्द्रियः कश्चित्पञ्चेन्द्रियः कश्चित्सुसंस्थानः कश्चिद्वामनो जायते, तस्मान्नामकर्म चित्रकारकल्पम् ।

कुलालनिष्पन्नानां घटानां समत्वेऽपि एकस्मिन् घटे इक्षुरसाद्यानि पेयानि ध्रियन्ते, एकस्मिंश्च मदिराप्रमुखमादकद्रव्याणि क्षिप्यन्ते, एवमात्मत्वे समानेऽपि उच्चैर्गोत्रोदयेन प्रशस्यकुले समुत्पत्तिः, नीचैर्गोत्रोदयेन च निन्द्यकुले उपपातः,

बन्धतत्त्वे पटप्रतिहारादिदृष्टान्तानि ॥

मेव कापायिकं सलेश्यं वीर्यं परिगृह्यते, तस्यैव बन्धादिहेतुत्वादिति ॥ अपि च उपादानं तु यथायोगं कर्मस्कन्धानामेव जायते परमुपादीयमानकर्मस्कन्धेषु तत्समयवर्तिकषायोदयलेश्यानुसारिणौ जघन्योत्कृष्टौ मन्दस्थितिरसावुत्पद्येते, प्रागुक्तर्त्या च स्थितिरसप्रदेशानां समुदायः प्रकृतिबन्ध इत्युक्तं, केवलं वाचः क्रमवर्त्तित्वात् प्राक् प्रकृतिबन्धः पश्चात्स्थितिबन्ध इत्यादिक्रमेण प्रतिपादनं जायत इति ॥ २९ ॥

योगकषायानुसारबध्यमानकर्म्मणां कथंभूता प्रकृतिरिति दृष्टान्तेन भावयति;—

पडपडिहारऽसिमज्ज–हडचित्तकुलालभंडगारीणं जह एएसिं भावा, कम्माणऽवि जाण तह भावा ॥३६॥

टीका;—पटप्रतिहारासिमद्यनिगडचित्रकारकुलालकोशाध्यक्षानां यथा तत्र तत्र तत्तच्चेष्टितं विज्ञायते तथा कर्म्मणामपि क्रमशः पटप्रतीहारादीनां चेष्टितत्त्वमिव विविधाश्चेष्टाः प्रकृतित्त्वेनानुभूयन्त इति गाथासंक्षेपार्थः । अत्रायमाशयः— आकर्णायतनिर्मलतरनेत्रोऽपि घट्टपटाच्छादितदृष्टिकस्सन् सन्मुखवर्त्तिनोऽपि पदार्थान् द्रष्टुं न पारयति, किञ्चित्तनुपटच्छन्नचक्षुष्कः पदार्थगोचरमीपदाभासं जनयति, प्रतनुपटावृतलोचनः पूर्वापेक्षया विशेषं पश्यति, विगतसमूलपटाद्यावरणत्त्वादच्छलोचनः स्पष्टां दृष्टिमर्यादां साध्नोति, एवं निबिडनिबिडतरनिबिडतमज्ञानावरणावृतात्मा ज्ञानमयत्त्वेऽप्यात्मनोऽनन्तज्ञानांशभृते विवेकादिविकलस्सन् किञ्चिज्जीवाजीवादिपदार्थविज्ञाने न समर्थो भवति, जाते च ज्ञानावरणीयस्य क्षयोपशमे क्षयोपशमानुसारी स्पष्टः स्पष्टतरः स्पष्टतमो बोधस्सञ्जायते, यदा चाऽशेपज्ञानावरणीयस्यापगमस्तदा लोकालोकवर्त्त्यशेपमपि हस्तामलकवत् आत्मगोचरं जायत इत्यतो ज्ञानावरणस्य पटौपम्यमिति ।

तद्बन्धनम्। सङ्क्रम्यन्तेऽन्यकर्मरूपतया व्यवस्थिताः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा अन्यकर्मरूपतया व्यवस्थाप्यन्ते येन तत्सङ्क्रमणम्। तद्भेदावेव उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तने, ते च कर्मणां स्थित्यनुभागाश्रये, तत्रोद्वर्त्येते प्रभूते क्रियेते स्थित्यनुभागौ यया वीर्यपरिणत्या सा उद्वर्त्तना अपवर्त्येते ह्रस्वे क्रियेते तौ स्थित्यनुभागौ यया साऽपवर्त्तना। उदीर्यतेऽनुदयप्राप्तं कर्मदलिकमुदयावलिकायां प्रवेश्यते यया सा उदीरणा उपशम्यते उदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा उपशमना। निधीयते उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनाऽन्यशेषकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सा निधत्तिः। पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिः। 'कच बन्धने' नितरां कच्यते स्वयमेव बन्धमायाति तथाविधसंक्लिष्टाऽध्यवसायस्य जीवस्य कर्म तत्प्रयुङ्क्ते जीव एव तथानुकूल्येन भवनादिति प्रयोक्तृव्यापारे णिङ् प्रत्ययः, ततो निकाच्यते सकलकरणाऽयोग्यत्वेनाऽवश्यवेद्यतया व्यवस्थाप्यते कर्म जीवेन यया सा निकाचना, अथवा 'कच बन्धने' इति चौरादिकेऽप्यस्तीति तस्येदं रूपम्। १॥" करणं सलेश्यवीर्यम्, स एवाऽध्यवसायः। न च प्राग्बन्धस्ततो सङ्क्रमः पश्चादुद्वर्त्तनेति क्रमेण करणप्रवृत्तिर्वाच्या, यतो यदा बन्धस्तत्समकालमेव सङ्क्रमादीनि करणादीनि यथायोगं प्रवर्त्तन्ते, केवलं यदा बन्धस्य विवक्षा तदा तन्निमित्तकोऽध्यवसायः बन्धनकरणनाम्ना प्रोच्यते, यदा संक्रमस्य विवक्षा तदा सैवाऽध्यवसायः सङ्क्रमकरणसंज्ञयोच्यते, यथैकः पुरुषः पुत्रापेक्षया पिता भवति, कान्तापेक्षया पतिर्भवति, अम्बापेक्षया पुत्रो भवति, भ्रात्रपेक्षया भ्राताऽपि भवति। यतो द्विविधं हि वीर्यं, छाद्मस्थिकं कैवलिकं च, उभयमपि प्रत्येकमकषायि सलेश्यं च भवति, तत्र छाद्मस्थिकमकषायि सलेश्यमुपशान्तक्षीणमोहानां, कैवलिकं च सलेश्यं सयोगिकेवलिनां, अयोगिकेवलिनां सिद्धानां [illegible] कैवलिकमप्यलेश्यं भवति। सूक्ष्मसम्परायान्तानां छाद्मस्थिकं सलेश्यं काषायिकं वीर्यं च भवति, अत्र क्वचिद्-

सायरूपकारणस्यैकविधत्त्वेन एकमेव कार्यं सम्पद्यत इति वाच्यम्, यतो मनोवाक्कायाऽन्यतमयोगेन प्रकृतिप्रदेशबन्धौ, कपायेण च स्थित्यनुभागबन्धाविति यद्यपि वस्तुतत्त्वम्. 'जोगा पयडिपएसं ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ' त्ति वचनात् तथापि तत्तत्क्षयोपशमवतीनामुदयवतीनाञ्च शरीर[2](योग)कपायप्रभृतिप्रकृतीनां समकालमेवोदयात् क्षयोपशमात् अध्यवसायस्य च तत्तत्प्रकृतिक्षयोपशमोदयनिष्पन्नत्त्वाद् विचित्राऽध्यवसायेन विचित्रकार्यनिष्पत्तिरिति निर्वाधम्। यथा चित्रविचित्रमयूरशिशोः निष्पत्तौ चक्षुर्गोचरातीतमपि गर्भबीजस्यैव वैचित्र्यं प्रतीयते तथा समकालमेव प्रकृत्यादिविचित्रबन्धेषु अध्यवसायवैचित्र्यं सुतरां विज्ञायते। न च केवलमेकविधाऽध्यवसायेन प्रकृत्यादिबन्धचतुष्कमपि तु सङ्क्रमोद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनोदीरणादीन्यपि तेनैवाध्यवसायेन प्रवर्त्तन्ते, सङ्क्रमादयश्च करणविशेषाः, यदुक्तम्;—बंधण संकमणुवट्टणा य अववट्टणा उदीरणया। उवसामणा निहत्ती णिकायणा च त्ति करणाइं ॥ १ ॥ अस्यार्थेयं गमनिका—बध्यते जीवप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुगतीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन वीर्यविशेषेण[3]

---

१ अनुभागबन्धो यद्यपि कपायोदयप्रत्ययिकस्तथापि लेश्यासहचरितकपायोदयोऽनुभागबन्धहेतुरिति विज्ञेयम्। यतो भिन्नभिन्नजीवानां स्थितिबन्धस्य साम्येऽपि अनुभागस्य तीव्र—तीव्रतर—मन्द—मन्दतरापेक्षया तारतम्यं प्रतीयते, अनेनैव च एकस्मिन् स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानेऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यत्त्वं युक्तिसङ्गतमिति ॥ तथा चोक्तं,—स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेणेति ॥

२ अत्र शरीरशब्देनोपलक्षणाद्वाङ्मनसी अपि स्वीकर्त्तव्य इति ॥

३ 'वीर्यविशेषेण' इत्यनेन न केवलं योगवाच्यं वीर्यं गृहीतव्यं किन्तु सलेश्यादिविशेषणविशिष्टं विज्ञेयं ॥

रसाकारेण याऽनुभूयमानाऽवस्था सोऽनुभागबन्धोऽनुभावबन्धो रसबन्धो वा । प्रकृतिस्थितिरसविवक्षानिरपेक्षदलिकसंख्याप्राधान्येनैव कर्मपुद्गलानां यद्ग्रहणं स प्रदेशबन्ध इति ॥ इद प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशबन्धानां स्वरूपं मोदकदृष्टान्तेन भावनीयम्, यथा वातविनाशिद्रव्योत्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमुपशमयति, पित्तोपशमकद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तम्, कफापहारिद्रव्यसमुद्भूतः कफमित्येवं स्वभावा प्रकृतिः स्थितिस्तु तस्यैव कस्यचिद्दिनमेकं, अपरस्य तु दिनद्वयं एवं यावत् कस्यचिन्मासादिकमपि भवति, ततः परं विनाशादिति । रसः पुनः स्निग्धमधुरादिरूपः तस्यैव कस्यचिदेकगुणोऽपरस्य द्विगुणोऽन्यस्य त्रिगुण इत्यादिकः प्रदेशाश्च कणिकादिरूपास्तस्यैव कस्यचिदेकप्रसृतिप्रमाणाः, अन्यस्य तु प्रसृतिद्वयप्रमाणा यावदपरस्य सेतिकादिप्रमाणाः । एवं कर्मणोऽपि कस्यचिज्ज्ञानाच्छादनस्वभावा प्रकृतिः, अपरस्य दर्शनावरणरूपा, अन्यस्याऽऽह्लादादिप्रदानलक्षणा, कस्यचित्सम्यग्दर्शनविघातजननस्वभावेत्यादि । स्थितिश्च तस्यैव कस्यचित्त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटिरूपा, अपरस्य तु सप्ततिसागरोपमकोटिकोटिलक्षणेत्यादि । रसस्त्वनुभागानुभावशब्दवाच्यस्तस्यैकस्थानकद्विस्थानकत्रिस्थानकादिरूपः । प्रदेशा अल्पबहुतरबहुतमादिरूपा इति ॥

नन्वेकाध्यवसायविशेषेण प्रकृत्यादयश्चत्वारो बन्धा युगपदेव सञ्जायन्त आहोस्वित् प्राक् प्रकृतिबन्धस्ततः स्थितिबन्ध इति सम्पद्यन्ते ? यौगपद्येन बन्ध इति चेत् कथमेकाध्यवसायलक्षणेनैकेन कारणेन कार्यरूपाः प्रकृत्यादयश्चत्वारो बन्धाः ? यदि क्रमेणेति द्वितीयो भङ्ग उररीक्रियते तदा प्रकृत्यादिषु प्रत्येकबन्धेषु भिन्नभिन्नाध्यवसायानां कारणत्वं सम्पन्नं पद्येत, न चैवं प्रतिपाद्यते, किमत्र प्रतिविधानम् ? उच्यते;—एकाध्यवसायविशेषेण युगपदेव प्रकृत्यादीनां बन्धस्सञ्जायते, न चैकाध्यव-

क्षयेण वोपजायमाना क्षायोपशमिका क्षायिका वा वीर्यलब्धिस्समानरूपा सर्वाऽऽत्मप्रदेशेषु ततो यदा यदा प्रतिसमयं कर्मपुद्गलानां ग्रहणमात्मप्रदेशैस्स्यात्तदा तदा एकस्यां प्रतोलिकायां निवसतां समकालमेव विवाहादिकार्यप्रसक्तानां शतानां गृहमेधिनां यथा स्वस्य अनन्तरपरम्परसम्बद्धत्वेनाऽन्येषामपि उपग्राहकत्वं दृश्यते तद्वदनन्तरपरम्परतया निखिलानामात्मप्रदेशानां स्वाऽऽत्मप्रदेशार्थमन्यात्मप्रदेशार्थं च अल्पाधिकतया व्यापार उपजायत इति। अयं च विषयः कर्म्मप्रकृति-पञ्चसंग्रह-शतकप्रकरणादिषु विस्तरेण प्रपञ्चितस्ततो द्रष्टव्यः॥ एवञ्च रागद्वेषस्नेहलेशावलीढसकलात्मप्रदेशो जीवो बद्धोदितमिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिर्येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तेष्वेवावस्थितान् कार्मणविग्रहयोग्यान् पुद्गलस्कन्धानादाय प्रकृतिस्थितिरसतया तान् यत्परिणमते स प्रकृत्यादिबन्ध इति निष्कर्षः। स च प्रकृत्यादिभेदैश्चतुर्विधः प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्धश्च। तत्र स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः, "प्रकृतिः समुदायः स्याद्" इतिवचनात्। रक्तद्विष्टेनाऽऽत्मना स्वाऽवगाढाऽऽकाशप्रदेशवर्तिकार्मणस्कन्धा यदा उपादीयन्ते अध्यवसायविशेषाच्चाऽऽत्मसात्क्रियन्ते तदा हंसः क्षीरोदके इव अथवा गौः चर्विततृणकवलानां दुग्धसहितसप्तधातुतया परिणमनमिव एकसमयगृहीतकार्मणस्कन्धानां मध्ये केचन ज्ञानावरणीयतया केचिद्दर्शनाच्छादकत्वेनाऽपरे सुखदुःखानुभवयोग्यतया परे च दर्शनचरणव्यामोहकारितयाऽन्ये नारकतिर्यङ्मानुष्याऽमराऽऽयुष्केनाऽन्ये गतिशरीराद्याकारेणाऽपरे उच्चनीचगोत्रानुभावेनाऽन्ये दानाद्यन्तरायकारितया यद् व्यवस्थाप्यन्ते स प्रकृतिबन्धः। ज्ञानावरणीयादिप्रकारतया प्रविभक्तानां कर्मस्कन्धानामध्यवसायविशेषादेव जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः। नियमितस्थितिकानां स्वस्वपाककाले परिपाकमुपगतानां कर्मस्कन्धानां घृतक्षीरकेशातकीरससदृशशुभाऽशुभ-

अष्टस्पर्शाश्च एवं वैक्रियाहारकशरीरप्रायोग्या अपि वर्गणा द्रष्टव्याः तैजसशरीरप्रायोग्या वर्गणाः पञ्चवर्णा द्विगन्धाः पञ्चरसाश्चतुःस्पर्शाः, तत्र मृदुलघुरूपौ द्वौ स्पर्शाववस्थितौ, अन्यौ तु द्वौ स्पर्शौ स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ वा, रूक्षशीतौ वा, एवं भाषा प्राणापानमनःकर्मप्रायोग्या अपि वर्गणा द्रष्टव्याः। तत्रौदारिकवर्गणाः प्रदेशार्थतया सर्वस्तोकाः, ताभ्यो वैक्रियशरीरप्रायोग्या वर्गणा अनन्तगुणाः, ताभ्य आहारकशरीरप्रायोग्या वर्गणा अनन्तगुणाः, ताभ्योऽपि तैजसशरीरप्रायोग्यवर्गणा अनन्तगुणाः, एवं भाषाप्राणापानमनःकर्मप्रायोग्या अपि वर्गणा यथोत्तरमनन्तगुणा वाच्या इति॥ (श्रीमलयगिरीया कर्म्मप्रकृतिवृत्तिः)॥

ननूक्तप्रकारेण चतुर्दशरज्जुपरिमिते लोके कार्मणपुद्गलानां यदा सर्वत्र सद्भावः प्रतिपादितस्तदा कान् कर्मयोग्यपुद्गलान् कुत्र स्थितो जीव उपादत्ते ? आत्मनोऽचिन्त्यशक्तिकत्त्वादिति चेदुच्यते;—यथा जातवेदाः स्वसम्बद्धान्यिन्धनान्येव दहति नत्वसम्बद्धानि तथाऽयमात्माऽपि येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तत्र वर्त्तमानानेव कर्मयोग्यपुद्गलानादत्ते न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशाऽवगाढानिति 'एगपएसोगाढं नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ' इति वचनात्। अस्या गमनिका;—एकस्मिन्प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढं येष्वाकाशप्रदेशेषु जीवोऽवगाढस्तेष्वेव यत्कर्मपुद्गलद्रव्यं तद्रागादिस्नेहगुणयोगादात्मनि लगति'॥ ननु कर्म्मग्रहणं यदा च सञ्जायते तदा लोकाकाशप्रदेशपरिमिताऽऽत्मप्रदेशैर्निखिलैरेव कर्त्तृभूतैः कर्मग्रहणं जायत उत न्यूनैरिति ? उच्यते;—शृङ्खलाऽवयवानामिव सर्वात्मप्रदेशानां सम्बद्धत्वादेकस्मिन्नात्मप्रदेशे क्षेत्रावगाढग्रहणप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वेऽप्यात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्ते यथा हस्ताग्रेण किमश्चिद्ग्राह्ये घटादिके गृह्यमाणे मणिबन्धकूर्परांसादयोऽपि तद्ग्रहणायानन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्ते। यतो वीर्यान्तरायस्य देशक्षयेण (क्षयोपशमेन) सर्व-

वर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कंधरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्चोत्कृष्टाऽनन्तगुणा, गुणकारश्चाऽभव्याऽनन्तगुणसिद्धाऽनन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः । ततोऽग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा मनःप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, इह यानि पुद्गलद्रव्याणि जन्तवः सत्यादिमनोरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च विसृजन्ति तानि मनःप्रायोग्या वर्गणा । ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया मनःप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा मनःप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टा मनःप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्याश्चोत्कृष्टा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया वर्गणाया अनन्ततमो भागः । तत उत्कृष्टमनःप्रायोग्यवर्गणापेक्षया एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कंधरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, जघन्यायाश्चोत्कृष्टाऽनन्तगुणा, गुणकारश्चाऽभव्याऽनन्तगुणसिद्धाऽनन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः । ततोऽग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षयैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा कर्मप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया कर्मप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपाः कर्मप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टा कर्मप्रायोग्या वर्गणा भवति जघन्यायाश्चोत्कृष्टा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया वर्गणाया अनन्ततमो भागः । इदानीमेतासामेवौदारिकादिप्रायोग्यवर्गणानां वर्णादि निरूप्यते;—तत्रौदारिकशरीरप्रायोग्या वर्गणा अनन्ताऽनन्तपरमाण्वात्मकाः पञ्चवर्णा द्विगन्धाः पञ्चरसा

शरीरप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कंधरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कंधरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, जघन्यायाश्चोत्कृष्टाऽनन्तगुणा, गुणकारश्चाऽभव्यानन्तगुणसिद्धाऽनन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः। अग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कंधरूपा जघन्या भाषाप्रायोग्या वर्गणा, यानि पुद्गलद्रव्याणि गृहीत्वा जन्तवः सत्यादिभाषारूपतया परिणमय्यालम्ब्य च विसृजन्ति तानि भाषाप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया भाषाप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा भाषाप्रायोग्यास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टा भाषाप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्चोत्कृष्टा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया वर्गणाया अनन्ततमो भागः। उत्कृष्टभाषाप्रायोग्यवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कंधरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, जघन्यायाश्चोत्कृष्टाऽनन्तगुणा, गुणकारश्चाऽभव्याऽनन्तगुणसिद्धाऽनन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः। अग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणाऽपेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्या प्राणापानयोग्या वर्गणा, यानि पुद्गलद्रव्याणि गृहीत्वा जन्तवः प्राणापानरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च विसृजन्ति तानि प्राणापानयोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया प्राणापानयोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपाः प्राणापानयोग्या वर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टा प्राणापानयोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्चोत्कृष्टा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया अनन्ततमो भागः। प्राणापानयोग्योत्कृष्ट- ॥१२५॥

वर्गणाया उत्कृष्टा विशेषाधिकाः, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया वर्गणाया अनन्ततमो भागः। वैक्रियशरीरोत्कृष्टवर्गणाऽपेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, जघन्यायाश्चोत्कृष्टा अनन्तगुणा, गुणकारश्चाऽभव्याऽनन्तगुणसिद्धानन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः। तत उत्कृष्टाग्रहणप्रायोग्यवर्गणापेक्षया एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा आहारकशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया आहारकशरीरविषये ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा आहारकशरीरविषये ग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टा ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्च वर्गणाया उत्कृष्टा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया वर्गणाया अनन्ततमो भागः। आहारकशरीरप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपाऽग्रहणप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कंधरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्चोत्कृष्टाऽनन्तगुणाः गुणकारश्चाऽभव्याऽनन्तगुणसिद्धाऽनन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः। आहारकशरीराग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा तैजसशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा भवति, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया तैजसशरीरप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपास्तैजसशरीरविषये ग्रहणप्रायोग्यवर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टा ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्चोत्कृष्टा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया अनन्ततमोभागः, तैजस-

वृद्धानामसंख्येया वर्गणाः, अनन्तपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धानामनन्ता वर्गणाः, अनन्तानन्तप्रादेशिकस्कन्धानामनन्तानन्तवर्गणाः, सर्वा अप्येता अल्पपरमाणुमयत्वेन स्थूलपरिणामतया च स्वभावत्वाज्जीवानां ग्रहे न समागच्छन्ति यतः सर्वा अप्येता वर्गणाः अग्रहणप्रायोग्या इत्युच्यन्ते एताश्च सर्वाः समतिक्रम्य अभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्त्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नैः स्कंधैरारब्धा ग्रहणप्रायोग्या जघन्यौदारिकवर्गणा, तत एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा तृतीया ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टा औदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्च वर्गणायाः सकाशादुत्कृष्टा वर्गणा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया वर्गणाया अनन्ततमो भागः औदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा-वर्गणाऽग्रहणप्रायोग्या सा जघन्या, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कंधरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणास्तावद्वाच्या यावदुत्कृष्टाऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्च वर्गणायाः सकाशादुत्कृष्टा वर्गणा अनन्तगुणा। गुणकारश्चाऽभव्यानन्तगुणासिद्धानन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः। एतासां चाग्रहणप्रायोग्यता औदारिकं प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्च वेदितव्या। वैक्रियं प्रति पुनः स्वल्पपरमाण्वात्मकत्वात् स्थूलपरिणामत्वाच्चाऽवसेया एवमुत्तरत्रापि भावना कार्या अग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया चैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा वैक्रियशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया वैक्रियशरीरस्य ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा वैक्रियशरीरविषये ग्रहणप्रायोग्यास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टा ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्च

पुद्गलजालश्लेषणमादानं, स्नेहाभ्यक्तवपुषे रजोलगनवदिति । तथा चोक्तम्;–'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' (तत्त्वा०, अ० ८, सू० २)। नन्वग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेण कर्म्मप्रदेशाऽऽदानं मनोवाक्कायाऽन्यतमयोगसाध्यं, तत् कथं 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इत्युक्तम् ? सत्यम्; वन्धो द्विविधः, साम्परायिकवन्धः, ईर्यापथिकवन्धश्च, यद्यपि कर्म्मप्रदेशादानं 'जोगा पयडेपएसं' इति वचनाद् योगसाध्यं तथापि सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानं यावत् कषायसहचरिता योगाः कर्म्मप्रदेशग्रहणं विदधति, सकषाययोगेनात्ता कर्म्मप्रदेशा एव आत्मप्रदेशैस्सह संश्लेषमुपयान्ति, न तु केवलयोगेनोपात्ताः, यत उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिगुणेषु केवलं योगप्रत्ययतो यो वन्धो द्विसामयिकः सैव ईर्यापथिकः, तस्य 'वन्ध' इति संज्ञायां सत्यामपि वन्धशब्दस्य न चरितार्थत्वम्, आत्मप्रदेशैस्सह क्षीरनीरवदभेदसम्बन्धाऽभावात्, सम्मृष्टभित्तिप्रक्षिप्तवालुकासमुदायवदिति। अतः 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इति सत्यम्: यदाह वाचकमुख्यः;– 'स्नेहाऽभ्यक्तशरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्। रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येव' ॥ १ ॥

ननु 'कर्मणो योग्यानि' इतिपदेन अन्येऽपि कर्मणोऽयोग्याः पुद्गलाः सन्तीति ज्ञायते, तत्र योग्याऽयोग्यस्वरूपं विभावयितुं प्रसङ्गसङ्गत्या किञ्चिद् वर्गणास्वरूपमुल्लिख्यते;—इह समस्तलोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिनः परमाणवो विद्यन्ते, तत्समुदायसजातीयत्त्वादेका वर्गणा, वर्गणा नाम सजातीयानां समुदायः, एवं द्विप्रादेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्त्वाद्द्वितीया वर्गणा, त्रिप्रादेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्त्वात्तृतीया वर्गणा, एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या संख्येयप्रादेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयसमुदायरूपाः संख्याता वर्गणाः, असंख्यातप्रादेशिकस्कन्धानामेकैकपरमाणु-

अपूर्वकरणे सैव चतुर्विंशतिर्वैक्रियद्विकरहिता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवः । अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके पूर्वोक्ता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवो हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणहास्यषट्करहिताः षोडशबन्धप्रत्यया भवन्ति । त एव षोडशबन्धप्रत्ययाः स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणवेदत्रिकसञ्ज्वलनक्रोधमानमायारूपसञ्ज्वलनत्रिकाभ्यां वर्जिता दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसम्परायाख्ये दशमे गुणस्थानके वर्त्तन्ते । क्षीणमोहे उपशान्तमोहे च त एव दश लोभं विना नव बन्धप्रत्ययाः । मनोयोगचतुष्कवाग्योगचतुष्कौदारिककाययोगलक्षणा ये नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे उपशान्तमोहे च भवन्ति तेभ्यो मध्यममनोयोगद्विकमध्यमवाग्योगद्विकलक्षणाश्चत्वारो हेतव अपसारयितव्याः, कार्मणौदारिकमिश्रौ च प्रक्षेप्तव्यौ, अतः सयोगिकेवलिनि प्रत्ययाः तत्रौदारिकं सयोग्यवस्थायामौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ केवलिसमुद्घातावस्थायाम्, "मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पंचमे तृतीये च" ॥ १ ॥ इति वचनात् प्रथमान्तिममनोयोगौ भगवतोऽनुत्तरसुरादिभिर्मनसा पृष्टस्य मनसैव देशनात्, प्रथमान्तिमवाग्योगौ देशनादिप्रसङ्गे, अयोगिकेवलिनि न कश्चिद्बन्धहेतुर्योगस्याऽपि व्यवच्छिन्नत्वादिति ।

एवमुपपादिते विस्तरेण बन्धहेतौ इयमाशङ्का स्याद् यद्, अमूर्त्तस्याऽऽत्मनो हस्ताद्यसम्भवे सति आदानशक्तिविरहात् कर्मग्रहणमिति ? उच्यते;–प्रक्रियाऽनभिज्ञस्य तावदियमेवाऽयोग्याऽऽशङ्का, यतः कथममूर्त्तत्वमभ्युपेतमात्मनः? कर्मजीवसम्बन्धस्यानादित्वादेकत्वपरिणामे सति क्षीरोदकवन्मूर्त्त आत्मा एव कर्मग्रहणे व्याप्रियते नत्वमूर्त्तः, न च बाह्यहस्तादिकरणव्याऽऽदेयं घटादिवत् पुद्गलमपि सद्, किन्त्वध्यवसायविशेषाद् रागद्वेषमोहपरिणामाऽभ्यञ्जनलक्षणादात्मनः कर्मयोग्य-

४१		,, स्त्रीवेदः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०
४२		,, नपुंसकवेदः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०
४३	योगः	सत्यमनोयोगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०
४४		असत्यमनोयोगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०
४५		सत्यासत्यमनोयोगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०
४६		असत्याऽमृषामनोयोगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०
४७		सत्यवाग्योगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०
४८		असत्यवाग्योगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०
४९		सत्यासत्यवाग्योगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०
५०		असत्याऽमृषावाग्योगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०
५१		औदारिककाययोगः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०
५२		औदा०मिश्रकाययोगः	१	१	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	१	०
५३		वैक्रियकाययोगः	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०
५४		वैक्रियमिश्रकाययोगः	१	१	०	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०
५५		आहारककाययोगः	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	०	०
५६		आहारकमिश्रकाययोगः	०	०	०	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०
५७		कार्मणकाययोगः	१	१	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	१	०

२३		,, मानम्	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२४		,,	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२५		,, लोभः	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२६		प्रत्याख्या० क्रोधः	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२७		,, मानम्	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२८		,,	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२९		,, लोभः	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
३०	कषायः	सञ्ज्वलन क्रोधः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०
३१		,, मानम्	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०
३२		,,	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०
३३		,, लोभः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०
३४		(नोकषाय) हास्यम्	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०
३५		,, रतिः	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०
३६		,, अरतिः	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०
३७		,, भयम्	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०
३८		,, शोकः	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०
३९		,, जुगुप्सा	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०
४०		,, पुंवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०

बन्धतत्त्वे बन्ध-प्रत्ययाः।

॥१२२॥

६	अविरतिः	मनोऽविरतिः	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
७		स्पर्शनेन्द्रियाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
८		रसनेन्द्रियाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
९		घ्राणेन्द्रियाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१०		चक्षुरिन्द्रियाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
११		श्रोत्रेन्द्रियाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१२		पृथिवीकायाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१३		अप्कायाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१४		तेजस्कायाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१५		वायुकायाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१६		वनस्पतिकायाऽविर०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१७		त्रसकायाऽविर०	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१८	:	अन० क्रोधः	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
१९		,, मानम्	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२०		,, माया	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२१		,, लोभः	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२२		अप्रत्या० क्रोधः	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

गुणस्थानेषु बन्धहेतूनां यन्त्रकम् ।

	मूलबन्धहेतवः	उत्तरबन्धहेतवः	मिथ्यात्वगुण०	सास्वादनगुण०	मिश्रगुण०	अविरतसम्य० गुण०	देशविरतिगुण०	प्रमत्तगुण०	अप्रमत्तगुण०	अपूर्वकरणगुण०	अनिवृत्तिबादरगुण०	सूक्ष्मसम्परायगुण०	उपशान्तमोह०	क्षीणमोहगुण०	सयोगिकेवलिगुण०	अयोगिकेवलिगुण०
	४	५७	५५	५०	४३	४६	३९	२६	२४	२२	१६	१०	९	७	७	०
१	मिथ्यात्वम्	आभिग्रहिकमिथ्या०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
२		अनाभिग्रहिकमिथ्या०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
३		आभिनिवेशिकमि०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
४		सांशयिकमि०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
५		अनाभोगिकमि०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

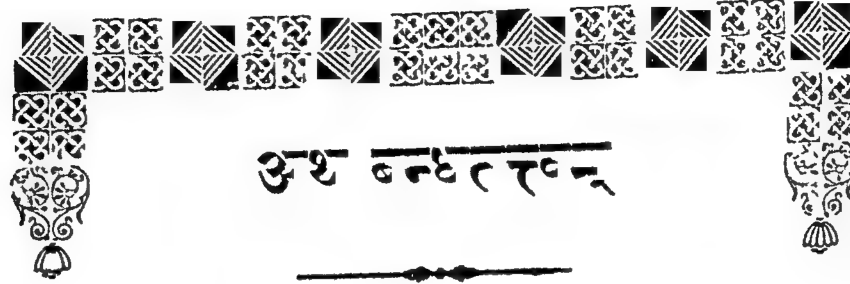
नान्यस्येति' वचनात् सास्वादने मिथ्यात्वपञ्चकेन विना पंचाशद्बन्धहेतवो भवन्ति। औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कं विना मिश्रे त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतव उक्ताः, 'न सम्मामिच्छो कुणइ कालं' इति वचनात् सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावादौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणयोगानामसम्भवः, अनन्तानुबन्ध्युदयस्य चाऽस्य निषिद्धत्वादनन्तानुबन्धिचतुष्टयञ्च नास्ति, अतः पूर्वोक्तपञ्चाशत्संख्यायाः सप्तानामपहारः। अविरतसम्यग्दृष्टौ तस्य परलोकगमनसम्भवात् पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणलक्षणत्रिकं त्रिचत्वारिंशति पुनः प्रक्षिप्यते, अतः षट्चत्वारिंशद्बन्धप्रत्ययाः। देशविरते एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवः, तत्कथमित्याह;—विग्रहगतावपर्याप्ताऽवस्थायाञ्च देशविरतेरभावात्कार्मणौदारिकमिश्रद्वयं न सम्भवति, त्रसाऽसंयमाद्विरतत्वात्त्रसाविरतिर्न जाघटीति। ननु त्रसासंयमात् सङ्कल्पजादेवासौ विरतो न त्वारम्भजादपि तत्कथमसौ त्रसाऽविरतिः सर्वाप्यपनीयते ? सत्यं, किन्तु गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाऽविरतिर्न विवक्षितेत्यदोषः, बृहच्छतकेऽप्येवमेव परिभावितमिति। तथाऽप्रत्याख्यानावरणोदयस्य निषिद्धत्वादस्मिन् गुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं न घटां प्राञ्चति, तत एते सप्त पूर्वोक्तायाः षट्चत्वारिंशतोऽपनीयन्त इति देशविरते एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवः। तथा प्रमत्ते षड्विंशतिबन्धहेतवः, इदमत्र हृदयम्-प्रमत्तगुणस्थाने एकादशधाऽविरतिः प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयञ्च न सम्भवति, आहारकद्विकं च भवति, ततः पूर्वोक्ताया एकोनचत्वारिंशतः पञ्चदशकेऽपनीते द्विके च तत्र प्रक्षिप्ते प्रमत्ते षड्विंशतिबन्धप्रत्ययास्सञ्जायन्ते। तथाऽप्रमत्तस्य लब्ध्युपजीवनेनाहारकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणद्विकरहिता सैव षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्ते भवन्ति।

अभिग्रहेणेदमेव दर्शनं शोभनं नान्य दित्येवंरूपेण कुदर्शनविषयेण निर्वृत्तमाभिग्रहिकं यद्वशाद्बोटिका दिदर्शनानामन्यतमं गृह्णाति तद्विपरीतमनाभिग्रहिकं, यद्वशात्सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनान्येवम्ं पन्माध्यस्थ्यमुपजायते। आभिनिवेशिकं यदभिनिवेशेन निर्वृत्तं यथा गोष्ठामाहिलादीनाम्। सांशयिकं यत्संशयेन निर्वृत्तं यद्वशाद्भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवाजीवादितत्त्वेषु संशय उपजायते, यथा न जाने किमिदं भगवदुक्तं धर्म्माऽस्तिकायादि सत्यमुताऽन्यथेति अनाभोगं यदनाभोगेन निर्वृत्तं तच्चैकेन्द्रियादीनामिति॥ हिंसाद्यव्रतेभ्यो मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिर्यद्विरमणं सा विरतिः, न विरतिः अविरतिः, असंयम इति यावत्। सा चाऽविरति र्द्वादशप्रकारा, तद्यथा-मनः पञ्चेन्द्रियाणि च, तेषां षण्णां स्वस्वविषये प्रवर्त्तमानानामनियमनम्, तथा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रस-रूपाणां षट्प्रकारकजीवानां हिंसा। कषाय-नोकषायभेदाभ्यां कषायः पञ्चविंशतिविधः, तत्र कषायोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावर-णीयप्रत्याख्यानावरणीयसञ्ज्वलनभेदभिन्नः क्रोधमानमायालोभलक्षणः षोडशप्रकारः, स्त्रीवेदपुरुषवेदनपुंसकवेदहास्यरत्यरति-शोकभयजुगुप्सारूपो नोकषायो नवधा कषायसहचरितत्त्वादुपचारेण कषाय इत्युच्यते। मनोवाक्कायव्यापारलक्षणो योगः, स च पञ्चदशविधस्तद्यथा;—सत्यमनोयोगः, असत्यमनोयोगः, सत्यासत्यमनोयोगः, असत्याऽमृषामनोयोगश्च, सत्यवाग्योगः, अस-त्यवाग्योगः, सत्यासत्यवाग्योगः, असत्यामृषावाग्योगः, औदारिककाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाययोगः, कार्मणयोगश्चेति पञ्चदशविधो योगः। सर्वे मिलिताश्च सप्त-पञ्चाशद्बन्धप्रत्ययाः। एते च प्रत्ययाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु न सर्वे सर्वत्र भवन्ति किन्तु केचिदेव क्वचिद्भवन्तीति तद्भाव्यते;—मिथ्यादृष्टावाहारकाहारकमिश्रलक्षणद्विकोनाः प पञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, आहारकद्विकवर्जनं तु 'संयमवतां तदुदयो

॥१२०॥

पयइ सहावो वुत्ते, ठिई कालावहारणं। अणुभागो रसे णेये, पएसे दलसंचअे ॥३९।

टीका;—' पयइ ' इति, प्रकृतिः स्वभावस्स्यात्, स्थितिः कालनियमनम्, अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चयस्स्यादिति गाथाक्षरार्थः ॥ विस्तरार्थस्त्वयम्;—बन्धो नाम कार्मणवर्गणाऽन्तःपातिकर्मपुद्गलानामात्मप्रदेशानाञ्च क्षीरनीरवद्वह्न्ययःपिण्डवद्वाऽन्योऽन्याऽनुगमात्मकोऽभेदलक्षणो यः सम्बन्धः स बन्धः। ननूक्तलक्षणस्सम्बन्धः किं सप्रत्यय उताऽप्रत्ययः ? इति चेदुच्यते;—नाऽकारणा कार्यनिष्पत्तिरिति न्यायाद् यथा बीजादिकारणादङ्कुरकार्यस्य प्रसवो दृष्टस्तद्वद्वक्ष्यमाणमिथ्यादर्शनादिकारणादुक्तलक्षणबन्धकार्यं सञ्जायते। मिथ्यादर्शनम्, अविरतिः, कषायाः, योगाश्चेति चतुर्विधबन्धप्रत्ययैरष्टविधस्सप्तविधष्षड्विध एकविधबन्धो वा भवति। यद्यपि ' मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ' इति तत्त्वार्थवचनात् प्रमादापेक्षया बन्धप्रत्ययस्य पञ्चविधत्त्वम्, तथापि ' इन्द्रियदोषान्मोक्षमार्गादरशैथिल्यम्, अथवा प्रचुरकर्मेन्धनप्रभवनिरन्तराऽविध्यातशारीरमानसाऽनेकदुःखहुतवहज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यन् तन्मध्यवर्त्यपि सति च तन्निर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणौ यतो विचित्रकर्मोदयसाचिव्यजनितात्परिणामविशेषादपश्यन्निव तद्भयमविगणय्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एवाऽऽस्ते जीवः स खलु प्रमादः, किंवा विकथादिव्यग्रचेतस्कत्त्व–स्मृतिभ्रंशत्त्व–आगमविहितक्रियानुष्ठानेष्वनुत्साहत्त्व–दुष्टयोगप्रणिधानत्त्वादिलक्षणः प्रमादः ' इति प्रमादस्य व्याख्यया कषाययोगेष्वन्तर्भावित्त्वात्प्रमादस्य बन्धप्रत्ययस्य चातुर्विध्ये पञ्चविधत्त्वे वा न कश्चिद्विसंवादः। पूर्वोक्ता मिथ्यादर्शनादयः प्रत्ययाः पुनरनेकभेदभिन्नाः, तद्यथा;—तत्र मिथ्यादर्शनं तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणं, एतच्चाऽऽभिग्रहिकाऽऽनाभिग्रहिकाऽऽभिनिवेशिकसांशयिकाऽनाभोगिकप्रकारैः पञ्चविधम्।



अथ बन्धतत्त्वम्

यज्ज्ञानस्य फलं महोदयपदावाप्तावलं कारणं, यस्याऽऽराधनतः प्रयान्ति निखिला दोषा असत्कर्मजाः ।
यच्चाशेषभवाटवीभ्रमणसंक्लेशार्दितानां नृणां, विश्रामप्रदपादपं च चरणं भव्यैः समाराध्यताम् ॥ १ ॥

मे तत्त्वे लक्षणभेदाभ्यां निर्जरां व्याख्याय 'बन्धाऽविनाभाविनो निर्जरा' इति विज्ञायोद्देशक्रमायातमष्टमं बन्धतत्त्वं प्रक्रमते, निर्जराप्रारम्भे 'बारसविहं' इति गाथायां 'बंधो चउविगप्पो य, पयइ ठिइ अणुभाग-पएसभेएहिं नायव्वो' इति पदेन प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशभेदैर्बन्धश्चतुर्विकल्पो ज्ञातव्य इत्युक्तम् । अथ केंलक्षणा प्रकृतिः केंलक्षणा स्थितिः केंस्वरूपोऽनु : केंरूपाश्च प्रदेशा इति प्रतिपिपादयिषुराचार्यः सूत्रं निर्मिमीते;—

किं पुनरत्र पृथगुपादानम् ? सत्यम्, सोऽतिचारविशुद्ध्यर्थ उक्तः, अयं तु सामान्येन निर्जरार्थ इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ इति षड्विधमाभ्यन्तरं तपः । एतदाभ्यन्तरं तपः संवरत्त्वादभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकं, निर्जरणफलत्वात् कर्मनिर्जरकम् पारम्पर्येण चाभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकत्व–पूर्वोपचितकर्मनिर्जरकत्वाभ्यां मोक्षप्रदमिति समाप्तं निर्जरातत्त्वम् ॥

व्याख्याय निर्जराख्यं तत्त्वञ्च यथामति प्रापि यत्पुन्यं । तेनास्तु भव्यसन्दोहस्सकामनिर्जराप्रवणः ॥ १ ॥

इत्याराध्यपादाचार्यवर्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरविनेयावतंसोपाध्यायपदालङ्कृतश्रीमत्प्रतापविजयगणिचरणाब्जचञ्चरीकप्रवर्त्तकमुनिश्रीधर्मविजयविरचितायां श्रीनवतत्त्वप्रकरणसुमङ्गलाटीकायां निर्जरातत्त्वं समाप्तम् ॥



धर्मध्यानम्	आज्ञाविचयः	५ . १२	तीव्रमन्दादिभेदाः पीतपद्मशुक्ललेश्याः॥	प्रतिभेदमाश्रित्यान्तर्मुहूर्त्तम्, भेदसमुदायमाश्रित्य देशोना पूर्वकोटिः।	आनन्तर्यपारम्पर्याभ्यां स्वर्गापवर्गप्राप्तिः॥	निसर्गाधिगमाभ्यामशेषजीवादिपदार्थश्रद्धानं, जिनसाधुगुणोत्कीर्त्तनं, प्रशंसाविनयदानानि च॥
	अपायविचयः	,, ,,				
	विपाकविचयः	,, ,,				
	संस्थानविचयः	,, ,,				
शुक्लध्यानम्	पृथक्त्ववितर्कसविचारम्	८ .१२	विशुद्धपीतपद्मशुक्ललेश्याः	अन्तर्मुहूर्त्तम्	स्वर्गः।	क्षपकोपशमकैकान्यतरश्रेणिसमारोहः।
	एकत्ववितर्कमविचारम्	८ ...१२		,,		
	सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति	१३	शुक्ललेश्या	अन्तर्मुहूर्त्तम्	मोक्षः।	केवलज्ञानम्।
	व्युच्छिन्नक्रियमनिवर्त्ति	१४	०	पञ्चह्रस्वाक्षरप्रमाणकालः।		अयोगित्वम्।

अथ व्युत्सर्गः;—व्युत्सर्जनीयस्य परित्यागो व्युत्सर्गः। स द्विविधः;—बाह्य आभ्यन्तरश्च, तत्र बाह्यो द्वादशादिभेदभिन्नस्योपधेरतिरिक्तस्य, अनेषणीयस्य संसक्तस्य वाऽन्नपानादेस्त्यागः। आभ्यन्तरः संसारपरिभ्रमणहेतूनां क्रोधादिकषायाणां मृत्युकाले शरीरस्य च मनोवाक्कायैः कृतकारिताऽनुमतिभिश्च परित्याग इति। ननु व्युत्सर्गः प्रायश्चित्तभेदमध्ये उक्तत्वात्

कैवल्यावाप्तिरयोगित्वादीनि शुक्लध्यानस्य लिङ्गानीति ध्यानविचारस्य संक्षेपः। विस्तरस्तु ध्यानशतक-तत्त्वार्थादिभ्योऽवसेयः॥

॥ ध्यानचतुष्कभेद-गुणस्थान-लेश्यादिप्रदर्शकयन्त्रकम् ॥

नाम	भेदाभिधानानि	गुणस्थानानि	लेश्याः	कालप्रमाणं	ध्यानफलम्	लिङ्गानि
- आर्त्तध्यानम् -	इष्टवियोगार्त्त०	१ . . ६	अनतिसङ्क्लिष्टकापोतनीलकृष्णलेश्याः	अभव्यापेक्षया अनाद्यनन्तः, भव्यापेक्षयाऽनादिसान्तः, आन्तर्मौहूर्त्तिकश्च आर्त्तरौद्रापेक्षः।	तिर्यग्गतिः।	करतलविन्यस्तवदन-क्रन्दनविलपन-हाहेतिशब्दोच्चारण-दीर्घनिश्वासादीनि॥
	अनिष्टसम्प्रयोगार्त्त०	” ”				
	रोगचिन्तार्त्त०	” ”				
	निदाना (अग्रशौचा) र्त्त०	” ”				
- रौद्रध्यानम् -	हिंसानुबन्धि	१ ५	अतिसंक्लिष्टकापोतनीलकृष्णलेश्याः		नरकगतिः।	हिंसादिसावद्यकार्येष्वानन्दः, अधर्मे धर्मबुद्धिः, प्रचण्डक्रोधाविष्टत्वं, महामोहाभिभूतत्व, पश्चात्तापाभावत्त्वादि च॥
	मृषानुबन्धि	” ”				
	स्तेयानुबन्धि	” ”				
	संरक्षणानुबन्धि	” ”				

योगस्यापि निरुद्धत्वादसौ पूर्वोक्तेऽर्थे विरुध्यते, कथं तत्र ध्यानशब्दवाच्यता? इत्यत्राह;—यथा कुलालचक्रं भ्रमणनिमित्त-दण्डादेरभावेऽपि पूर्वाऽभ्यासाद्भ्राम्यति, तथा मनःप्रभृतिसर्वयोगोपरमेऽपि अयोगिनो ध्यानं भवति, तथा यद्यपि द्रव्यतो योगा न सन्ति तथापि जीवोपयोगरूपभावमनःसद्भावादयोगिनो ध्यानम्। यद्वा ध्यानकार्यस्य कर्मनिर्जरणस्य हेतोः हेतुत्वाद्ध्यानं, यथा पुत्रकार्यकरणादपुत्रोऽपि पुत्र उच्यते, भवति ह्यस्य भवोपग्राहिकर्मनिर्जरा। अथवा शब्दार्थबहुत्वाद्ध्यानं, यथा हरिशब्दस्यार्कमर्कटादयो बहवोऽर्थाः, एवं ध्यानशब्दस्यापि, तथाहि;—"ध्यैं चिन्तायां, ध्यैं काययोगनिरोधे, ध्यैं अयोगित्वेऽपि" वदन्ति हि;—"निपातश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः। अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम्" ॥ १ ॥ इति। जिनागमाद्वाऽयोगिनोऽपि ध्यानं, यदाह;—"आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणं। अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये" ॥१॥

आद्यं शुक्लध्यानं अपूर्वकरणगुणस्थानकमादौ कृत्वा क्षीणमोहं यावत् भवति, द्वितीयं क्षीणमोहगुणस्थाने वर्त्तते, 'पूर्वविदः' (त. ९. ४०) इति सूत्रभाष्यवृत्तिप्रामाण्येन उपशान्तमोहक्षीणमोहयोरुभयस्यापि तच्च पूर्वविद एव न तु एकादशाङ्गविद इति। द्वितीयभेदादनु तृतीयादर्वाक् केवलज्ञानं सञ्जायते, तृतीयं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति योगनिरोधकालीनं, तच्च आयुर्वेदनीयादीनां विषमस्थितिसत्ताकस्य केवलिनः केवलिसमुद्घाताऽनन्तरं जायते। चतुर्थं तु शैलेशीकरणावस्थायां पञ्चह्रस्वाक्षरकालमिति ॥ लेश्याश्चात्र विशुद्धपीतपद्मशुक्लाऽऽख्या अवगन्तव्याः तत्राप्यन्त्यभेदद्वये शुक्लैव। क्षपकोपशमकैकान्यतरश्रेणिसमारोहः,

१—'पूर्वविदः' इति तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ अनुवृत्तस्य 'उपशान्तक्षीणकषाययोश्च' इतिपदस्य तात्पर्यं धर्मध्यानगुणस्थानचिन्तावद् गौणमुख्यध्यानविषयमाश्रित्य मुख्यध्यानगोचरमवगन्तव्यमन्यथाऽत्रापि गुणस्थानप्रभृतिग्रन्थोक्तयो विरुध्येरन्निति ॥

भावाच्च कथं ध्यानत्त्वं ? उच्यते;—अर्थादिसङ्क्रान्तिसत्त्वेऽपि एकद्रव्यविषयत्त्वे मनःस्थैर्यसम्भवाद्ध्यानत्त्वमविरुद्धम् । अथ द्वितीयं;—एकत्त्वं नानात्त्वाऽभावः, वितर्कः श्रुतं, अविचारं अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिविरहितम् ॥ पूर्वविदां पूर्वगतश्रुतानुसारेणेतरेषां पूर्वभिन्नश्रुतानुसारेण अर्थव्यञ्जनयोगेष्वसङ्क्रमणरूपमेकपर्यायविषयं यद्ध्यानं तदेकत्त्ववितर्कमविचारम् । आद्यभेदे तावत् एकद्रव्यवर्त्तिविविधपर्यायगोचरं योगादिसङ्क्रमणोपेतं श्रुतानुसारि ध्यानमुक्तं, अस्मिन् तु विशुद्ध्यवाप्तस्थैर्यगुणयोगेन एकद्रव्यवर्त्तिविवक्षितैकपर्यायविषयं योगादिसङ्क्रान्तिवर्जितं श्रुतानुसारिध्यानमुक्तमतो प्रथमभेदाऽपेक्षयाऽस्य वैशिष्ट्यमिति । मोक्षगमनप्रत्यासन्नकाले सयोगिकेवलिनो योगनिरोधावस्थायां सूक्ष्मबादरमनोयोगवाग्योगद्वयनिरुद्धे सति सूक्ष्मपरिस्पन्दलक्षणोच्छ्वासनिःश्वासादिका यत्र क्रिया तत् सूक्ष्मक्रियं, ततः प्रतिपातस्याऽभावादप्रतिपाति चेति सूक्ष्मक्रियमप्रतिपातिसंज्ञं तृतीयं शुक्लध्यानम् ॥ द्वितीयभेदाऽपेक्षया गुणस्थानविशुद्धियोगनिरोधाऽप्रतिपातित्त्वादिभिरस्य वैशिष्ट्यम् । मेरुगिरिवदकम्पनीयस्य शैलेशीकरणसम्पन्नस्याऽयोगिनो यद्ध्यानं तत्तुर्यमुत्सन्नक्रियमप्रतिपाति परमशुक्लञ्चैतत् ॥ भेदचतुष्केऽस्मिन्नयं विशेषः, आद्यं पृथक्त्ववितर्कं सविचारं मनःप्रभृत्येकयोगभाजां योगत्रयभाजां वा, तच्च भङ्गिकश्रुतपाठकानां भवति । अपरमेकत्त्ववितर्कमविचारं मनःप्रभृत्यन्यतरैकयोगानां, योगान्तरे सङ्क्रमाऽभावात् । तृतीयं सूक्ष्मक्रियमनिवर्त्ति तत् सूक्ष्मे काययोगे, न तु योगान्तरे । चतुर्थं व्युपरतक्रियमप्रतिपाति शैलेशीगतानामयोगिकेवलिनां भवति ॥ ननु मनःस्थैर्यलक्षणं ध्यानं, शुक्लध्यानोपरितनभेदद्वये च मनसोऽभावः, अमनस्कत्त्वात्केवलिनः कथं ध्यानं भवति ? उच्यते;—यथा छद्मस्थस्य मनःस्थिरं सत् ध्यानं भण्यते तथा केवलिनोऽपि सुनिश्चलः कायो योगत्त्वाऽव्यभिचाराद् ध्यानशब्दाभिधेयो भवति । ननु चतुर्थे शुक्लध्याने काय-

ध्यानमप्रमत्तसंयतगुणस्थानकमादौ कृत्वा क्षीणमोहं यावत् सम्भवति, न तु ततोऽर्वाक् ध्यानयोग्यविशुद्धिपर्युदासात्। अग्रे तु विशुद्धेरुत्कर्षात् वक्ष्यमाणशुक्लध्यानान्तर्भाव इति। निसर्गाऽधिगमाभ्यामशेषजीवादिपदार्थश्रद्धानं जिनसाधुगुणोत्कीर्तनं प्रशंसाविनयदानानि च धर्मध्यानलिङ्गानि। आनन्तर्यपारम्पर्याभ्यां स्वर्गापवर्गप्राप्तिश्च फलम् ॥

अथ शुक्लस्योपक्रमः—तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारं प्रथमं, एकत्ववितर्कमविचारं द्वितीयं, सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति तृतीयं, उत्सन्नक्रियमनिवर्त्ति चतुर्थं शुक्लध्यानमिति। तत्र पृथक्त्वं नानात्वं, वितर्कः श्रुतं, विचारोऽर्थव्यंजनयोगसङ्क्रान्तिरिति पृथक्त्ववितर्कसविचारं, परमाण्वादौ एकस्मिन् द्रव्ये उत्पादस्थितिव्ययमूर्त्तत्वाऽमूर्त्तत्वादीनां पर्यायाणां द्रव्यार्थिकपर्याया-र्थिकादिभिर्विविधनयैः पूर्वविदां पूर्वगतश्रुतानुसारेणेतरेषामन्यथा अर्थव्यञ्जनयोगान्तरसङ्क्रमणयुक्तं यद्दचिन्तनं तदाद्यं शुक्ल-मिति। अस्मिन्नाद्यभेदे परमाण्वाद्येकद्रव्यवर्त्तिभिन्नाभिन्नपर्यायानाश्रित्य पृथक्त्वं, पूर्वगतपूर्वभिन्नान्यतरश्रुतानुसारित्वात् सवि-तर्कत्वं, अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे विवक्षितमनःप्रभृतियोगाद्योगादियोगे सङ्क्रमणस्य च जायमानत्वात् सविचारत्वम्। एवं त्रीण्यपि विशेषणानि स्वधिया परिभावनीयानि नन्वर्थव्यंजनयोगान्तरेषु सङ्क्रमणसम्भवात् कथं मनःस्थैर्यं ? तद-

१ सालम्बननिरालम्बनगौणमुख्यधर्मध्यानमाश्रित्यैतदप्रमत्तगुणस्थानकं भाव्यमन्यथा "आर्त्तरौद्रं भवेदत्र मन्दं धर्म्यं तु मध्यमम्। षट्कर्म्मप्रतिमाश्राद्ध-व्रतपालनसम्भवम् ॥ १ ॥ अस्तित्वान्नोकषायाणामत्रार्त्तस्यैव मुख्यता। आज्ञाद्यालम्बनोपेतधर्म-ध्यानस्य गौणता ॥ २ ॥ यावत्प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति। धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिनभास्कराः ॥ ३ ॥" इत्यादिगुणस्था-नकक्रमारोहग्रन्थोक्तयः कथं संगच्छेरन् ? इति स्वधिया समाधेयम् ॥

नेर्निमेषदृशा ध्यायन् रूपस्थध्यानवान् भवेत् " ॥ ३ ॥ निरञ्जननिराकारचिदानन्दरूपस्याऽमूर्त्तस्य परमात्मनो यद्रूपवर्जितं ध्यानं तद्रूपातीतम्, आह च;—" अमूर्त्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः। निरञ्जनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम् " ॥ १ ॥ अस्य चतुर्थभेदस्य रूपातीतत्वात् शुक्लध्यानान्तर्वर्त्तित्वमपि मन्यते ध्यानकोविदैः ॥ इत्येवं लेशतः प्रदर्शितं भिन्नभिन्नप्रकारैर्धर्मध्यानं, विस्तरस्तु योगशास्त्रादाववलोकनीय इति ॥

धर्मध्यानानुप्रवेशपरिकर्म्माणि भावनादेशकालासनादीनि, तत्र ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽख्या भावनाश्च तिस्रः। ज्ञाने नित्याभ्यासान्मनसः तत्रैव प्रणिधानमवगतगुणसारश्च निश्चलमतिरनायासेनैवं धर्म्यं ध्यायति। तथा विगतशङ्कादिशल्यः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यस्थैर्यप्रभावनायतनाभक्तियुक्तोऽसम्मूढचेता दर्शनभावनया विमलीकृतमतिरस्खलितमेव धर्म्यं ध्यायति। तथा चरणभावनाधिष्ठितः कर्म्माण्यपराणि नादत्ते, पुरातननिर्जरणं वा शुभानि सञ्चिनुते ततश्चायत्नेनैव धर्मध्यायी भवति तथा जगत्कायस्वभावालोचनात् सुविदितजगत्स्वभावो निःसङ्गो निर्भयो विरागो वैराग्यभावनावष्टब्धचेता लीलयैव धर्मध्यायी भवति। देशोऽपि स्त्रीपशुपण्डकलक्षणकण्टकवर्जितो ध्यानयोग्यः, स्त्र्यादीनां सद्भावे विघ्नसम्भवात्। कालोऽपि यस्मिन्नेव काले मनसः समाधिरुत्पद्यते स एव ध्यानकालः। आसनं ध्यानयोग्यकायाऽवस्थाविशेषः। यदुक्तम्;—" कालः समाधिर्ध्यानस्य, कायावस्था जितासनम्। शुचिर्निष्कण्टको देशास्ते च स्त्रीपशुपण्डकाः " ॥ १ ॥ ' भावनादेशकालासनादीनि' इत्यत्राऽऽदिशब्दादालम्बनानि वाचनापृच्छनापरिवर्त्तनचिन्तनानि सामायिकाऽऽवश्यकानि च ग्राह्याणि। इत्यादिभिस्साधनैर्धर्मध्यानं वृद्धिं प्राप्नोति। तीव्रमन्दादिभेदाः पीतपद्मशुक्लाऽऽख्या लेश्या अस्मिन् ध्याने वर्त्तन्ते। एतच्च धर्म-

अभक्ष्यभक्षणाऽपेयपानाऽगम्यगमनमुनिबालस्त्रीभ्रूणघातादीनि क्रूरतमकर्म्माणि कुर्व्वत्सु चतुस्त्रिंशदतिशययुक्तदेवाधिदेवानां गुरुयोग्यानुष्ठानाराधनपरगुरूणां च निन्दाकारिषु सदोषमप्यात्मानं शंसन्तीत्येवंशीलेषु पुष्करावर्त्तवारिभिर्मुद्गशैलेष्विव देशनाभिर्मृदूकर्त्तुमशक्येषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमिति ॥ तथा चोक्तम्;–"क्रूरकर्मसु निःशङ्कं देवतागुरुनिन्दिषु। आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्" । १ । आभिर्मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यभावनाभिरात्मानं भावयन्महामतिः त्रुटितामपि विशुद्धध्यानसंततिं संधत्ते अतस्तासां धर्मध्यानस्योपकारकत्त्वाद्धर्म्मध्यानान्तर्गतत्वमिति ॥

अथवा ध्येयभेदाऽपेक्षया पिण्डस्थ–पदस्थ–रूपस्थ–रूपातीताऽभिधं धर्मध्यानं चतुर्विधम्। तत्र सचेतनजिनपिण्डं भावजिनशरीरमाश्रित्य यद्ध्यानं तत्पिण्डस्थम्, पिण्डं शरीरं तत्र तिष्ठतीति पिण्डस्थं ध्येयमिति योगशास्त्रवचनात्, अथवा पिण्डं ध्यातृदेहं तत्रस्थं पिण्डस्थध्यानमिति, येन स्वशरीरवर्त्तिपार्थिवी–आग्नेयी–मारुती–वारुणी–तत्रभूसंज्ञकपञ्चधारणापूर्वकं यद्ध्यानं तत्पिण्डस्थमिति। "नमो अरिहंताणं" इतिध्येयपदानामथवा पदशब्देन कैवल्यादिपदं तत्र तिष्ठन्तीति पदस्थास्तीर्थकरगणधरमुनयस्तेषां ध्यानमथवा पदशब्देनाऽऽगमपदानि तेषां ध्यानं विचारणमिति पदस्थध्यानम्। उक्तञ्च "यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते। तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः" ॥ १ ॥ तथा रागद्वेषादिमहामोहविकारैरकलङ्कितं प्रशमरसनिमग्नं योगमुद्रामनोरममन्यतीर्थिकैरपरिज्ञातं जिनेन्द्रप्रतिमाऽप्रतिमरूपं ध्यायन् रूपस्थध्यानवान् भवेत्। तथा चोक्तं;—"रागद्वेषमहामोहविकारैरकलङ्कितम्। शान्तं कान्तं मनोहारि सर्वलक्षणलक्षितम् ॥ १ ॥ तीर्थिकैरपरिज्ञातं योगमुद्रामनोरमम्। अक्ष्णोरमन्दमानन्दनिःस्यन्दं ददद्भुतम् ॥२॥ जिनेन्द्रप्रतिमारूपमपि निर्मलमानसः।

कोऽपि दुःखितः। मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते" ॥ १ ॥ प्राणिवधादिदोषनिवृत्तानां वस्तुतत्त्वाऽवलोकिनां ज्ञानक्रियालक्षणोभयमोक्षाङ्गप्रवृत्तानां मुनिपुङ्गवानां क्षायोपशमिकादिभावाऽऽपन्नेषु शमदमौचित्यगाम्भीर्यधैर्यादिगुणेषु किं वा तथाविधगुणाधारसत्त्वेषु विनयप्रयोगवन्दनस्तुतिवर्णवादवैयावृत्त्यकरणादिभिः सर्वेन्द्रियाभिव्यक्तः पक्षपातरूपो यो मनःप्रहर्षः स प्रमोदः, तद्ध्यानपरा भावना प्रमोदभावनेति॥ उक्तञ्च, "अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनां। गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः" ॥ २ ॥ मतिश्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानबलेन प्रवर्तितकुशास्त्रेषु स्वयं नष्टेषु परानपि नाशयत्सु अत एव दयापात्रत्वाद्दीनेषु "अहो कुशास्त्रप्रणेतारस्तपस्विनो यदि कुमार्गप्रणयनान्मोच्येरन्, ततो वरम् यत्त्रिभुवनगुरुर्भगवानपि उन्मार्गदेशनात् सागरोपमकोटाकोटींयावद्भवे भ्रान्तस्तत्काऽन्येषां स्वपापप्रतीकारं कर्त्तुमशक्नुवतां गतिः" १ इत्येवं प्रतिकारपरा बुद्धिः, किञ्च नवनवविषयार्जनपूर्वार्जितपरिभोगजनिततृष्णाग्निना दंदह्यमाना हिताहितप्राप्तिपरिहारविपरीतवृत्तयोऽर्थार्जनरक्षणव्ययनाशपीडावन्तोऽनन्तभवाऽनुभूतेष्वपि विषयेष्वसंतृप्तमनसो विषयार्जनभोगतरलहृदयाः कथं नाम प्रशमाऽमृतपुष्करावर्त्तमेघधारया वीतरागदशां नेतुं शक्या इति परोपकारपरा मतिः, किञ्च विविधभयहेतुभ्यो भीतमनसो बालवृद्धादयः कथं नामैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकभयवियोगभाजनं करिष्यन्त इति लक्षणो मानसिकपरिणामः, तथा स्वधनदारपुत्रादिवियोगमुत्प्रेक्षमाणा मारणान्तिकीं पीडामनुभवन्तो मृत्युमुखमधिशयिताः सकलभयरहितेन पारमेश्वरवचनामृतेन सिक्ताः कथमजरामरीकरिष्यन्ते' इत्येवं पूर्वोक्तविविधप्रतिकारपरा या बुद्धिर्न तु साक्षात् प्रतिकार एव, सर्वेष्वशक्यप्रतिकारत्वात्, सा कारुण्यभावना ॥ तथा चोक्तं योगशास्त्रे;—"दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्। प्रतिकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते" ॥१॥

प्रशस्ताऽप्रशस्तदेहादिनिर्वृत्तिः, गोत्रादुच्चनीचकुलोपपत्तिः, अन्तरायादलाभादिः, एवं कर्म्मविपाकचिन्तापरस्याऽऽश्रवनिरोधार्थं यत्प्रणिधानं तत्तृतीयं धर्मध्यानमिति ३ अथ चतुर्थं संस्थानविचयसंज्ञकं धर्मध्यानमुच्यते;—संस्थानं आकारविशेषो लोकस्य द्रव्याणां च । तत्र लोकेऽधोलोकस्तावदधोमुखमल्लकसंस्थानः, स्थालाकृतिस्तिर्यग्लोकः, ऊर्ध्वलोको मल्लकसंपुटाकारकः । तत्रापि तिर्यग्लोको ज्योतिर्व्यन्तराकुलः । जम्बूद्वीपं विहायाऽसंख्येया द्वीपसमुद्रा वलयाकृतयः । धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशपुद्गलजीवास्तिकाया अनादिनिधनसन्निवेशभाजो व्योमप्रतिष्ठाः । धर्म्माऽधर्म्मौ लोकाकारौ गतिस्थितिहेतू, आकाशमवगाहलक्षणमयोगोलसंस्थान , पुद्गलद्रव्यं शरीरादिकार्यं नानासंस्थानं, जीव उपयोगलक्षणोऽनादिनिधनः शरीरादर्थान्तरभूतो नीरूपः कर्मणां कर्त्ता उपभोक्ता शरीराकृतिः । इत्थं संस्थानाद्यन्वेषणपरं यत्प्रणिधानं तत्संस्थानविचयाऽऽख्यं चतुर्थं धर्म्मध्यानमिति ॥ संस्थानाद्यन्वेषणे को लाभः ? इत्युच्यते;—पदार्थवर्तिगुणसंस्थानादिस्वरूपपरिज्ञानात् तत्त्वावबोधः तत्त्वावबोधाच्च क्रियानुष्ठानं, तदनुष्ठानान्मोक्षावाप्तिरिति ॥

आज्ञाविचयादिभेदैर्यथा धर्मध्यानस्य चातुर्विध्यं तद्वत् प्रकारान्तरेण मैत्र्यादिभावनाप्रकारैः पिण्डस्थादिध्येयप्रकारैश्च धर्मध्यानं चतुर्विधम् । तद्यथा;—उपकार्यनुपकारी वा श्चिदपि जन्तुर्दुःखनिबन्धनानि पापानि मा कार्षीत्, मा च भूत् कोऽपि दुःखितः; देवमानुषतिर्यङ्नारकपर्यायाऽऽपन्नं सकलमपि जगन्मोक्षमवाप्नुयादिति ध्यानपरायणा भावना मैत्रीशब्देन निगद्यते, नहि कस्यचिदेकस्य मित्रं मैत्रशब्देनोच्यते, व्याघ्रादेरपि स्वापत्यादौ मैत्री दर्शनात्, तस्मादशेषसत्त्वविषया मैत्री यस्यां विद्यते सा मैत्रीभावना कषायोपशमक्षयफललक्षणेति । यदुक्तं योगशास्त्रे;—" मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत्

निपुणजनविज्ञेयां द्रव्यपर्यायप्रपञ्चवर्ती "इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ णासि" इत्यादिवचनादनाद्यनिधनां द्वादशाङ्गीं सूत्रतोऽर्थतश्च सावरणज्ञानत्वात् प्रज्ञायाः परिदुर्बलत्वात् कदाचिन्न जानाति तथाप्येवं विचिनुयाद्यद् वितथवादिनः क्षीणरागद्वेषमोहाः सर्वज्ञा नाऽन्यथाव्यवस्थितमन्यथा भाषन्तेऽनृतकारणाऽभावात्, यदुक्तं;–"वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रुवते क्वचित् ॥ यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शनम् " ॥ अतः सत्यमिदं शासनमनेकदुःखगहनात् संसारसागरादुत्तारकमित्याज्ञायां यत्प्रणिधानं तदाज्ञाविचयाऽऽख्यधर्मध्यानम् १ ॥ अपायाः विपदः, शारीरमानसानि दुःखानि, तेषां विचयोऽन्वेषणं, कथं जीवा अपायबहुलाः प्रभवन्तीति तदपायविचयाख्यं द्वितीयं धर्मध्यानम्। अयमत्र भावः,–रागद्वेषाऽऽकुलितचेतोवृत्तयः सत्त्वा मूलोत्तरप्रकृतिविभागभिन्नकर्म्मोदयजन्यजन्मजरामरणार्णवभ्रमणपरिखेदितान्तरात्मानः सांसारिकसुखप्रपञ्चेष्ववितृप्तमानसाः कायेन्द्रियादिष्वास्रवप्रवाहेषु वर्त्तमाना मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिपरिणतिभिः परिणताः पर्याप्तं कर्मजालमादाय नरकादिगतिषु दुरन्तं दीर्घरात्रमपायैर्युज्यन्ते। केचिदिहाऽपि कृतवैरानुबन्धाः परस्परमाक्रोशवधबन्धाद्यपायभाजो दृश्यन्ते क्लिश्यन्ते चेत्यतः प्रत्यवायप्रायेऽस्मिन् संसारेऽत्यन्तोद्वेगाय यत्प्रणिधानं सोऽपायविचयाऽऽख्यो भेद इति २। तृतीयं धर्मध्यानं विपाकविचयाख्यमुच्यतेः,–विविधो विशिष्टो वा पाको विपाकः–अनुभावः रसानुभव इत्यर्थः। कर्मणां विपाकस्य नरकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु विचयोऽनुचिन्तनमिति विपाकविचयः। ज्ञानावरणादिकमष्टप्रकारं कर्म्म प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशभेदमिष्टाऽनिष्टविपाकपरिणामं जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितिकं विविधविपाकम्। तद्यथा;–ज्ञानावरणाद् दुर्मेधस्त्वम्, दर्शनावरणाच्चक्षुरादिवैकल्यं निद्राद्युद्भवश्च, असद्वेद्याद् दुःखं, सद्वेद्यात्सुखानुभवः, मोहनीयाद्विपरीतग्राहिता चारित्रविनिवृत्तिश्च, आयुषोऽनेकभवप्रादुर्भावः, नाम्नः

कृष्णलेश्या यायि, वक्ष्यमाणरौद्रध्यानापेक्षया मन्दसंक्लेशमिति ॥ तिर्यग् गतिश्चास्य फलम् ॥

अथ रौद्रम्;–तच्चतुर्विधम्, हिंसानुबन्धि, मृषाऽनुबन्धि, स्तेयानुबन्धि, संरक्षणाऽनुबन्धि च। तत्र वधबन्धनादिप्रकारैः सत्त्वान् हिनस्ति पीडामुत्पादयतीति हिंसार्थं प्रायः सततं प्रणिधत्त इत्येवं शीलं तद्धिंसानुबन्धि १। पिशुनाऽसभ्याऽसद्भूतादिवचनप्रकारैर्मृषाअसत्यमनुबध्नातीति मृषानुबन्धि २ तीव्रक्रोधाद्याकुलतया स्तेयं चौरकर्म्म तस्मिन् सततं येन प्रवृत्तिस्तत्स्तेयानुबन्धि ३ विषमिव यान्ति विसर्पन्ति परिभुज्यमाना इति विषयाः, पृषोदरादित्वात् शब्दनिष्पत्तिः। अथवा 'षिञ्' बन्धने (पा० धा० १४७८) भोक्तारं विशेषेण विविधेन वा सिन्वन्ति बध्नन्तीति विषयाः शब्दादयः, तत्साधनानि च चेतनाऽचेतनव्यामिश्रवस्तूनि विषयशब्दवाच्यानि विषीदन्ति वा प्राणिनो येषु परिभुञ्जानास्ते विषयाः। यथोक्तं प्रशमरतौ;–" यद्यपि निषेव्यमाणा, मनसः परितुष्टिकारका विषयाः। किम्पाकफलादनवद्, भवन्ति पश्चाद् तिदुरन्ताः"॥ १ ॥ विषयसाधनधनधान्यादिसंरक्षणप्रणिधानलक्षणं संरक्षणानुबन्धि रौद्रध्यानमिति। हिंसादिसावद्यकार्येष्वानन्दः अधर्मे धर्मबुद्धिः प्रचण्डक्रोधाविष्टत्वं महामोहाभिभूतत्वं तीव्रवधविषयकसंक्लिष्टाऽध्यवसायित्वं पश्चात्तापाऽभावत्वमित्यादिलक्षणैरयं रौद्रध्यानानुगत इति लक्ष्यते। अतिसंक्लिष्टकृष्णनीलकापोतलेश्यानुयायि रौद्रम् ॥ एतच्चाऽविरतदेशविरतयोरेव नान्येषामग्रगुणस्थानवर्तिनामिति ॥ प्रायेण नरकगतिफलप्रदं रौद्रध्यानम् ॥

अथ धर्मध्यानम्;–एतच्च आज्ञाविचय–अपायविचय–विपाकविचय-संस्थानविचयभेदाच्चतुर्विधम्। तत्राज्ञा सर्वज्ञप्रणीत ः तामाज्ञामित्थं विचिनुयात् पर्यालोचयेत्;–पूर्वापरविशुद्धामतिनिपुणामशेषजीवकायहितामनवद्यां महार्थां महानुभावां

आत्मैव रुद्र इत्यर्थः। धर्मः क्षमादिलक्षणस्तस्मादनपेतं धर्म्यम्। शुक्लं शुचि निर्मलं सकलकर्म्मक्षयहेतुत्वादिति। शुग्वा दुःखमष्टप्रकारं कर्म तां च शुचं क्लमयति ग्लपयति निरस्यतीति शुक्लम्। यद्यप्यत्र धर्म्यशुक्ले एव निर्ज्जरानिमित्तत्वान् मोक्षहेतू तथापि प्रसङ्गसङ्गत्या आर्त्तरौद्रे अपि किञ्चिद्विविच्येते;—

तत्राऽऽर्त्तं चतुर्विधं;—इष्टविप्रयोगाऽनिष्टसम्प्रयोगरोगचिन्तानिदानभेदैः। तत्र मनोज्ञविषयाणां विप्रयोगे कथं नु नाम तैर्मनोज्ञविषयैस्सह भूयोऽपि मम सम्प्रयोगस्स्यादिति चिन्तालक्षणमिष्टविप्रयोगार्त्तध्यानम् १। अमनोज्ञानां शब्दादिविषयाणां सम्प्रयोगे सति तेषामनिष्टशब्दादिविषयाणां विप्रयोगार्थमात्मनः प्रणिधानविशेषः केनोपायेनामीषां वियोगस्स्यादित्येकतानमनोनिवेशनलक्षणोऽनिष्टसम्प्रयोगसंज्ञको द्वितीयो भेदः २। प्रकुपितपवमानपित्तश्लेष्मसन्निपातनिमित्तैरुपजातायाः शूलशिरःकम्पज्वराक्षिश्रवणदशनादिकाया वेदनाया विप्रणाशाय यदात्मनः प्रणिधानं तद्रोगचिन्ताऽऽर्त्तध्यानम् ३। निदायते लूयते लुप्यते येनात्महितमैकान्तिकात्यन्तिकानाबाधसुखलक्षणं तन्निदानमिति। निपूर्वाद् दातेर्लवनार्थस्य ल्युटि रूपम्। मोक्षफलप्रापकाणां स्वानुष्ठिततपश्चरणादिगुणानामैहिकाऽमुष्मिकपार्थिवविषयप्रभृतिसुखलिप्सया विषयसुखगृद्धानां कामोपहतचित्तानां स्वाभीप्सितविषयाद्यर्थं यत्प्रणिधानं तन्निदानार्त्तध्यानमिति चतुर्थः प्रकारः ४॥ चतुःप्रकारकस्याप्येतस्यार्त्तध्यानस्य शोकादीनि लक्षणानि भवन्ति, यैः करतलविन्यस्तवदनक्रन्दनविलपनहाहेतिशब्दोच्चारणदीर्घनिश्वासप्रमुखलक्षणैरार्त्तध्यायी अयमिति लक्ष्यते। एतच्चार्त्तध्यानमविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानां क्रमेण मन्दमन्दतरमन्दतमपरिणामवद्भवति, नत्वप्रमत्तसंयतादीनां तथाविधविशुद्धिस्थानसम्पर्कादार्त्तध्यानयोग्यसङ्क्लेशपरिमाणाऽभावादिति, पुनरेतदार्त्तं नातिसंक्लिष्टकापोतनील-

रुपग्रहः श्रूषा भैषजक्रिया कान्ताररोगोपसर्गेषु परिपालनमेवमादि वैयावृत्त्यम् ॥

तथा स्वाध्यायः;—सुष्ठु मर्यादया कालवेलापरिहारेण पौरुष्यपेक्षया वाऽध्ययनं स्वाध्यायः, स च वाचना-प्रच्छना-ऽनुप्रेक्षा-ऽऽम्नाय-धर्मोपदेशभेदात् पञ्चविधः । तत्र वाचनं शिष्याध्यापनं । प्रच्छनं ग्रन्थार्थयोः सन्देहच्छेदाय निश्चितार्थ-प्रसाधनाय वा परानुयोगः । अनुप्रेक्षा ग्रन्थार्थयोरेव मनसाऽभ्यासः । आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्त्तनं गुणनं रूपादानमिति यावत् । धर्मोपदेशोऽर्थोपदेशो व्याख्यानमनुयोगो वर्णनमिति यावत् ।

अथ ध्यानम्;—ध्यातिर्ध्यानमन्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणं चित्तस्थिरतालक्षणम् । चित्तं मर्कटवच्चपलं, तस्य कस्मिंश्चिदप्येकस्मिन् ध्येयविषये स्थापनं तद्ध्यानं, एतच्च छद्मस्थविषयं, केवलिनां पुनर्वाक्काययोगनिरोध एव ध्यानम्, तेषां मनसोऽभावात्, नह्यवाप्तकेवलस्य मनोव्यापारः समस्ति, सकलकरणग्रामनिरपेक्षत्वादिति । उक्तं ;—" अंतोमुहूत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु " ॥ १ ॥ अत्र च ध्याता संसार्यात्मा, ध्यानस्वरूपं चलचित्तनिरोधपूर्वकैकविषयस्थैर्यापादनलक्षणं, कालतः छद्मस्थानाश्रित्य मुहूर्त्तमात्रं, ध्येयप्रकारास्त्वमनोज्ञमनोज्ञविषयसंप्रयोगविप्रयोगादयः । इति सामान्यत उद्दिष्टं, अथ भेदप्रभेदैः प्रदर्श्यते, तद्यथा;—ध्यानं चतुर्विधं आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लभेदैः । तत्र ऋतशब्दो दुःखपर्यायवाच्याश्रीयते, अर्त्तेर्गमिक्रियापरिस्पन्दिनो निष्ठाप्रत्ययान्तः, तस्मादागतार्थे तद्धितप्रत्ययो णित्, आर्तं दुःखभवं दुःखानुबन्धि चेति, तथा चाऽमनोज्ञविषयसम्प्रयोगो दुःखम्, वेदना च नेत्रशिरोदशनादिका दुःखमेव, तथा मनोज्ञविषयविप्रयोगो दुःखमेवेत्युपपन्नः प्रत्ययार्थः । तथा रोदयत्यपरानिति रुद्रो दुःखस्य हेतुः तेन कृतं तत्कर्म्म वा रौद्रं प्राणिवधबन्धादिपरिणत

अथ वैयावृत्त्यम्;–व्यावृत्तः प्रवचनोदित क्रियाऽनुष्ठानलक्षणव्यापारप्रवृत्तः तस्य भावः कर्म्म वा वैयावृत्यम् व्याधिपरीषहाद्युपनिपाते तत्प्रतीकारस्तदानुकूल्यानुष्ठानं चेत्यर्थः। तच्चाऽऽचार्यो–पाध्याय–स्थविर–तपस्वि–शैक्ष–ग्लान–साधर्मिक–कुल–गण–सङ्घलक्षणविषयभेदेन दशधा, आचार्यवैयावृत्त्यम्, उपाध्यायवैयावृत्त्यम्, यावत् सङ्घवैयावृत्त्यमिति। तत्र स्वयमाचरति परांश्चाचारयति, आचर्यते सेव्यत इति वाऽऽचार्यः। स च पञ्चधाः–प्रव्राजकाचार्यः, दिगाचार्यः, उद्देशकाचार्यः समुद्देशानुज्ञाचार्यः, आम्नायार्थवाचकाचार्य इति। तत्र सामायिकव्रतादेरारोपयिता प्रव्राजकाचार्यः, सचित्ताचित्तमिश्रवस्त्वनुज्ञायी दिगाचार्यः, प्रथमत एव श्रुतमुद्दिशति यः स उद्देशाचार्यः उद्देष्टृगुर्वभावे तदेव श्रुतं समुद्दिशत्यनुजानीते वा यः स समुद्देशाऽनुज्ञाचार्यः, आम्नायमुत्सर्गापवादलक्षणमर्थं वक्ति यः स प्रवचनार्थकथनेनानुग्राहकोऽक्षनिषद्याद्यनुज्ञायी आचारगोचरविषयस्य स्वाध्यायस्य वाचकत्त्वेन वा आम्नायार्थवाचकाचार्यः। आचार्यालब्धाऽनुज्ञाः साधव उपसमेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः। स्थविरो वृद्धः, स श्रुत–पर्याय–वयोभेदात् त्रिविधः श्रुतस्थविरः समवायाङ्ग यावदध्येता, पर्यायस्थविरो यस्य दीक्षितस्य विंशत्यादीनि वर्षाणि, वयःस्थविरः सप्तत्यादिवर्षजीवितः। विकृष्टं दशमादि किञ्चिन्न्यूनषण्मासान्तं तपः कुर्वंस्तपस्वी। अचिरप्रव्रजितः शिक्षार्हः शैक्षः। रोगादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः। साधर्मिकाः समानधर्मिणो द्वादशविधसम्भोगवन्तश्च। बहूनां गच्छानामेकजातीयानां समूहः कुलं चन्द्रादि। गच्छस्त्वेकाचार्यप्रणेयः साधुसमूहः। कुलसमुदायो गणः कोटिकादिः। सङ्घः साधुसाध्वीश्रावकश्राविकासमुदायः, परमार्थतस्तु ये ज्ञानदर्शनचरणगुणेषु व्यवस्थितास्तेषां समुदाय एव सङ्घो न तु नाममात्राणां श्रमणादीनामिति। एषां पूर्वोक्तानामाचार्यादीनां अन्नपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तारकादिभिर्धर्मसाधनै-

दनकरणमलपूरणानि क्रियन्ते, च थे तु शल्यकर्षणमर्दनमलपूरणरुधिरगालनानि दनापहारार्थं क्रियन्ते, पञ्चमे तु गाढतरावगाढशल्ये द्धरणादि, ततो गमनादिचेष्टा निवार्यते, षष्ठे हितमितभोज्यभोजनेऽभोजने वा शल्योद्धारानन्तरं भवति, सप्तमे शल्योद्धारानन्तरं भवति, सप्तमे शल्योद्धारानन्तरं यावच्छल्येन मांसादिदूषितं तावत् छिद्यते, गोनसभक्षितादे पादवल्के वा पूर्वोक्तक्रियाभिरनुपशमात् शेषाङ्गरक्षणार्थं अस्थ्ना सहाङ्गच्छेदे विधीयते। एवं द्रव्यव्रणदृष्टान्तेन मूलोत्तरगुणरूपस्य चारित्रपुरुषस्यापराधरूपो व्रण आलोचनादिना छेदान्तेन प्रायश्चित्तविधिना शोधनीय इति ॥ एतद्दशविधमपि प्रायश्चित्तं देशं कालं शक्तिं संहननं संयमविराधनां च कायेन्द्रियजातिगुणोत्कर्षकृतां च प्राप्य विशुध्यर्थं दीयते आचर्यते च। प्रायश्चित्तफलं प्रमाददोषव्युदासभावप्रसादनैः शल्यानवस्थाव्यावृत्तिमर्यादात्यागसंयमदार्ढ्याराधनादिकं समवसेयम्। उक्तञ्च;—'पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं ति भण्णई तेणं' पाएण वावि चित्तं, सोहयति तेण पच्छित्तं' ॥ २ ॥

अथ विनयमाह;—विनयते क्षिप्यतेऽष्टप्रकारकं कर्म्मानेनेति विनयः, स चतुर्धा;—ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारभेदात्, तत्र सबहुमानं ज्ञानग्रहणाऽभ्यासादि ज्ञानविनयः। सामायिकादौ लोकबिन्दुसारपर्यन्ते श्रुते भगवत्प्रकाशितपदार्थाऽन्यथात्त्वाऽसम्भवात् निशङ्कितत्त्वादिना तत्त्वार्थश्रद्धा दर्शनविनयः। सामायिकादिचारित्रस्वरूपश्रद्धानपूर्वकं अनुष्ठानविधिना च प्ररूपणमित्येष चारित्रविनयः चारित्रवतश्चारित्रे समाहितचित्ततेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादिगुणाधिकेषु आचार्यादिषु प्रत्यक्षेषु सत्सु अभ्युत्थानाऽभिगमनाऽञ्जलिकरणादि उपचारविनयः, परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरञ्जलिकरणगुणसंकीर्त्तनानुस्मरणादिरुपचारविनय इति ॥

उपयुक्तेन गीतार्थेन गृहीतं प्राक् पश्चादवगतमशुद्धं विवेकार्हमिति ४॥ व्युत्सर्गोऽनेषणीयादिषु त्यक्तेषु गमनागमनसावद्यस्वप्नदर्शननौसन्तरणोच्चारप्रश्रवणेषु च विशिष्टप्रणिधानपूर्वकः कायवाङ्मनोव्यापारत्यागः। तथाविधदोषसद्भावे आलोचनायां दशविंशतिसंख्याकलोकोद्योतकरप्रमुखकायोत्सर्गप्रदानं चित्तविशुद्ध्यर्थमिति भावः ५॥ तपस्तु छेदग्रन्थानुसारेण जीतकल्पानुसारेण वा येन केनचित्तपसा विशुद्धिर्भवति तत्तद्देयमासेवनीयं च ६॥ छेदस्तपसा दुर्दमस्याहोरात्रपञ्चकादिना क्रमेण श्रमणपर्यायच्छेदनम् ७॥ मूलं महाव्रतानां मूलत आरोपणं ८॥ तथा अवस्थाप्यत इत्यवस्थाप्यस्तन्निषेधादनवस्थाप्यस्तस्य भावोऽनवस्थाप्यता, दुष्टतरपरिणामस्य अकृततपोविशेषस्य व्रतानामारोपणम् येन पुनस्साधर्मिकादिस्तेयप्रहारादिप्रवर्तितेन उत्थापनाया अप्ययोग्यः किञ्चित्कालं न व्रतेषु स्थाप्यते यावन्नाद्यापि प्रतिविशिष्टं तपश्चरणं भवति, पश्चाच्च चीर्णतपस्तद्दोषात् परतो व्रतेषु स्थाप्यत इति विशिष्टकालं यावदुपस्थापयितुमयोग्यत्वादनवस्थाप्य इत्यर्थः। परस्परेण पुरुषयोर्वेदविकारकरणं, पञ्चमनिद्रावशवर्त्तित्वम्, कषायतो विषयतश्च क्रमेण राजवधराजदारसेवाप्रमुखदुष्टातिकरणं, तीर्थकराद्याशातनाकरणं चैत्यादिदुष्टतमपरिणामे सति समयोक्तेन चतुर्थादिना तपसा षण्मासादिना द्वादशवर्षान्तेन कालेन अतिचारपारं गच्छति, ततश्चाऽतिचारपारगमनाऽनन्तरं राजप्रतिबोधादिप्रवचनप्रभावनातः प्रव्राज्यते नान्यथेति पाराञ्चितप्रायश्चितम् ॥ तत्त्वार्थादौ अनवस्थाप्यपाराञ्चितयोरेकविषयत्वेन संख्यातत्त्वादालोचनादिनवभेदाः प्रायश्चित्तस्य। एतच्च छेदपर्यन्तं प्रायश्चितं व्रणचिकित्सातुल्यं पूर्वसूरिभिरभिहितं, तत्र तनुरतीक्ष्णमुखो रुधिरमप्राप्तस्त्वग्लग्नः शल्यो देहादुध्रियते, न तत्र व्रणस्य मर्दनं विधीयते शल्याल्पत्वेन व्रणस्याल्पत्वात्, द्वितीये तु लग्नोद्धृतशल्ये मर्दनं क्रियते न तु कर्णमलेन पूर्यते, तृतीये तु दूरतरगतशल्ये शल्योद्धारम-

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ । झाणं उस्सग्गो वि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥३६॥

टीका;—'पायच्छित्तं' इति, प्रायश्चित्तं, विनयः, वैयावृत्त्यं, तथा स्वाध्यायः, ध्यानं उत्सर्गश्चेति, षड्भेदभिन्नं आभ्यन्तरं तपो भवतीति गाथाक्षरार्थः । अथ प्रत्येकं व्याख्यायते;—मूलोत्तरगुणेषु स्वल्पोऽप्यतिचारो चित्तं मलिनयतीति तत्प्रकाशनाय तच्छुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तम्, प्रकर्षेण अयते गच्छत्यस्मादाचारधर्म इति प्रायो मुनिलोकः, तेन विचिन्त्यते स्मर्यतेऽतिचारविशुद्ध्यर्थमिति निरुक्तात् प्रायश्चित्तमनुष्ठानविशेषः । अथवा प्रायो बाहुल्येन व्रतातिक्रमं चेतसि सञ्जानीते चेतश्च न पुनराचरतीत्यतः प्रायश्चित्तम्, अथवा प्रायोऽपराध उच्यते स येन चेतति विशुध्यति तत् प्रायश्चित्तम् 'चिर्ति संज्ञानविशुद्ध्योः' इति वचनात् । तच्च दशविधम्;—आलोचनम्, प्रतिक्रमणम्, मिश्रम्, विवेकः, व्युत्सर्गः, तपः, छेदः, मूलम्, अनवस्थाप्यता, पाराञ्चिकमिति तत्रालोचनं गुरोः पुरतः स्वापराधस्य प्रकटनम्, तच्चाऽऽसेवनानुलोम्येन प्रायश्चित्तानुलोम्येन च, आसेवनानुलोम्यं येन क्रमेणातिचार आसेवितस्तेनैव क्रमेण गुरोः पुरतः प्रकटनम्, प्रायश्चित्तानुलोम्यं च गीतार्थस्य शिष्यस्य भवति, स हि पञ्चक-दशक-पञ्चदशकक्रमेण प्रायश्चित्तानि गुरुलघ्वपराधानुरूपाणि विज्ञाय योऽपराधो गुरुस्तं तं प्रथममालोचयति, पश्चाल्लघुं लघुतरं च १ ॥ अतिचाराभिमुख्यपरिहारेण प्रतीपं क्रमणमपसरणं प्रतिक्रमणं, मिथ्यादुष्कृतसंयुक्तेन पश्चात्तापेन 'पुनरेवं न करिष्यामि' इति प्रत्याख्यानम् २ ॥ प्राग्व्याख्यातमालोचनं प्रतिक्रमणश्चेतदुभयं यत्र तन्मिश्रं, प्रागालोचनं पश्चाद्गुरुसन्दिष्टस्य प्रतिक्रमणम् एतच्चोभयं प्रायश्चित्तं सम्भ्रमभयातुरापत्सहसाऽनाभोगानात्मवशगतस्य दुष्टचिन्तितभाषणचेष्टावतश्च विहितम् ३ ॥ सम्प्रति विवेकप्रायश्चित्तावसरः—एष विवेकः संसक्तान्नपानोपकरणादिषु भवति,

तपश्च, तत्र प्रणिधानादिगमनमन्तरेण कर्म्मक्षयः स्थितिक्षयात्, ज्ञानावारकदर्शनावारकान्तरायकर्म्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटि-कोट्यः, मोहनीयस्य सप्ततिकोटीकोट्य, नामगोत्रयोर्विंशतिसागरोपमकोटिकोट्यः, आयुषस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति स्थितिप्रमाणं जैनागमे सुविख्यातं, तत्तत्कर्म्मणां प्रणिधानमन्तरेण स्थितिक्षयात्कर्म्मविनाशः स्फुटमिदं। तथा अपरं कर्मक्षपणार्थमर्हता दर्शितं तपः, तच्च द्विविधं, आभ्यन्तरं बाह्यं च, एकैकं चाऽपि षड्भेदम्, लोके परसमयेषु च प्रथितं यत्तद्बाह्यं तपः। अभ्यन्तरमप्रथितं कुशलजनेनैव तु ग्राह्यम्। तथा उभयमप्येतदागोपालाङ्गनादिप्रसिद्धमशुभकर्म्मक्षपणकारीति। रात्रावभोजनं चैकभोजनं निष्प्रतिक्रियत्वं च रोमनखधारणं वृक्षमूलवीरासनादिकरणं भिक्षार्थमप्रतिबद्धमटनमार्जवितात् भूकाष्ठशय्यासेवन-मित्येवमादयः कायस्य क्लेशाः प्रसह्यन्ते ननु सर्वैरपि पाषण्डिभिः। कायक्लेशस्य गुणाः प्रभावना ध्यानदार्ढ्यश्च। ततश्चैवं-प्रमाणयतो मायाछन्नवीयस्य ‘ आर्हतानामात्मसंतापनाद्युपक्रमविशेषवैयर्थ्यम् ’ इति लोकविरोधिनी प्रतिज्ञा। लोके त्वविगानतोऽनशनादितपः प्रसिद्धं कर्म्मक्षयकृत्, तदपह्नुवानस्य परिस्फुट एव लोकविरोधः। कालविशेषाश्रयणेन न रुजस्याऽपि अशनप्रतिषेधवृक्षमूलासेवित्वादिकायक्लेशलक्षणं तपः स्वागमेऽभ्युपेतमिति, अतस्तपोऽकिञ्चित्करमिति स्वागमविरोधः। तथा सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारिलोचमौण्ड्यातापनादिकः कायक्लेशः प्रतिविशिष्टेष्टफलः आगमचोदितत्वे सति कायक्लेशत्वाद् वृक्षमूलासेवित्वनिष्प्रतिक्रियादिवत्। अपि च सोपक्रमनिरुपक्रमभेदभिन्नकर्म्मणां मध्ये करणसाध्यसोपक्रमकर्म्मणां प्रणि-धानलक्षणेन तपसा क्षयोऽपि साध्यः, कैश्चित्तु ‘ तवसा निकाइयाणं पि ’ इति वचनान्निरुपक्रमाणामपि क्षय इष्ट इत्यनेन तपसः साफल्यं सिध्यतीत्यलमतिचर्चया॥ अथाऽभ्यन्तरं तपो व्याचष्टे;—

इत्थं षट्प्रकारं बाह्यं तपः बाह्यत्वञ्च बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्, परप्रत्यक्षत्वात्, कुतीर्थिकैर्गृहस्थैश्च कार्य्यत्वादिति । ननु किं पुनरितो बाह्यतपसः फलमवाप्यत इत्युच्यते;—अस्मात् षड्विधादपि बाह्यात्तपसः सङ्गत्यागः शरीरलाघवं इन्द्रियविजयः संयमरक्षणं कर्म्मनिर्ज्जरा चेत्यनेकविधं फलमासाद्यते । तत्र निःसङ्गत्वं बाह्याऽभ्यन्तरोपधिष्वनभिष्वङ्गो नैर्ममता। प्रतिदिनमतिमात्राहारोपयोगात् प्रणीताहारोपयोगाच्च शरीरस्य गौरवं, ततश्च मासकल्पविहारित्वायोग्यता, तद्वर्जनात्तु शकटाभ्यञ्जनवदुपयोगाद् वा शरीरलाघवमुपजायते, ततश्चाऽप्रर्णीतशरीरस्योन्मादानुद्रेकादिन्द्रियविजयः, भक्तपानार्थमहिण्डमानस्य चर्याजनितजन्तूपरोधाऽभावात् संयमरक्षणं निःसङ्गादिगुणयोगादशनादितपोनुतिष्ठतः शुभध्यानव्यवस्थितस्य कर्म्मनिर्जरणमवश्यं भवतीति बाह्यतपोऽपि मुमुक्षुभिः स्वकर्त्तव्य इति ॥

अत्र केचिन्महान्धतमसे मायाछन्न्या एवमाचक्षते;—यदातापनशिरोलुञ्चनाऽनशनादिकायक्लेशोपक्रमेण न कर्म्मविच्छेदो भवति, युक्त्या चैनमर्थं प्रसाधयन्ति, ते चैवमाहुः;—

आतापनशिरोलुञ्चनप्रमुखकायक्लेशोपक्रमेण पूर्वबद्धं कर्म्म उदयप्राप्तं सत् कायक्लेशद्वारा यदि क्षयमाप्नोति तदाऽऽतापनादियत्नो व्यर्थः, यतो यत्कर्म्मबद्धं तत्प्रयत्नेन विनापि पाककाले स्वानुभवं प्रदर्शयिष्यति तथास्वाभाव्यात्कर्म्मणः, अथवा बद्धकर्म्मोदयाऽभावस्तदा कस्य कर्म्मणः क्षयार्थं अनशनप्रमुखकायक्लेशसमारम्भः ? सति कर्म्मणि तस्य क्षयः संभाव्यः, न च वाच्यं विजातीयकर्म्मक्षपणार्थं आतापनाद्युपक्रम इति, यतोऽनुभूयमानस्यैव क्षयो नेतरस्य, तस्मादातापनाऽनशनशिरोलुञ्चनप्रभृतिकायक्लेशप्रक्रमस्य वैयर्थ्यमिति ॥ अत्रोच्यते;—द्विविधः कर्म्मपरिपाकहेतुर्भगवद्भिरुक्तः, स्थितिक्षयः

विलोकनवत् प्रत्याख्येयाः, इत्थं च रसपरित्यागलक्षणं विशिष्टं तपः ॥ ४ ॥

अथ कायक्लेशः, कायः शरीरं तस्य क्लेशो बाधनमित्यर्थः । संसार्यवस्थायां कायाऽऽत्मनोरभेदोऽन्योऽन्यानुगतत्त्वात्तयोः क्षीरोदकादेरिव, अतः कायबाधायामात्मनो बाधाऽवश्यंभाविनी, एकत्त्वपरिणतेश्च विना संसार्यात्मनः सुखदुःखाभाव एव स्यात्, एवमात्मनः कायद्वारेण क्लेशोत्पत्तिरिति कायक्लेशः, आगमानुसारिणी सम्यक्क्लेशोत्पत्तिर्निर्जरायै न्याय्या, तथा चोक्तं दशवैकालिके;–'देहदुक्खं महप्फलम्' इति । स च कायक्लेश आगमेऽनेकप्रकारेणोपन्यस्तो विशिष्टाऽऽसनकरणेनाऽप्रतिकर्म्मशरीरत्त्व-केशोल्लुञ्चनादिना । ननु परीषहेभ्यः कोऽस्य विशेषः ? उच्यते;–स्वकृतक्लेशानुभवरूपः कायक्लेशः, परीषहास्तु स्वपरकृतक्लेश-रूपा इति विशेषः ॥ ५ ॥

सम्यक् प्रकारेण लीयते स्थीयते ज्ञानदर्शनचारित्रगुणेष्वात्माऽनयेति संलीनता, सा चेन्द्रिय–कषाय–योग–विविक्तचर्या-भेदाच्चतुर्विधा, तत्र प्राप्तेष्विन्द्रियविषयेषु अरक्तद्विष्टेन भवितव्यमिति इन्द्रियसंलीनता । क्रोधस्य तावदुदयनिरोधः प्राप्तोदयस्य च वैफल्यापादनम्, एवं शेषकषायाणामपीति कषायसंलीनता । तथा अकुशलमनोनिरोधः, कुशलचित्तोदीरणं वा, एवं वागपि वाच्या, कायव्यापारस्तु समुत्पन्नप्रयोजनस्य यत्नवतः संलीनताव्यपदेशमश्नुते, विना तु प्रयोजनेन निश्चलासनमेव श्रेय इति योगसंलीनता एकान्तेऽनाबाधेऽसंसक्ते स्त्रीपशुपण्डकवर्जिते शून्यागारदेवकुलसभापर्वतगुहादीनामन्यतमास्मिन् स्थानेऽवस्थानं विविक्तचर्यासंलीनतेति । सान्तःकरणानीन्द्रियाणि संयम्य क्रोधादेकदम्बकं निरुध्य समाध्यर्थं विविक्तं शय्यासनमासेवमानस्य संलीनता भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६ ।

त्यागः । तत्र मद्यं गौडपैष्टद्राक्षाखर्जुरादिद्रव्यसम्भारोपजातमदसामर्थ्यं विषगरादिवज्जीवमस्वतन्त्रं करोति, अस्वतन्त्रश्च तद्वशः कार्याकार्यविवेकशून्यो भ्रष्टस्मृतिसंस्कारो गर्हितमाचरति, अतस्सर्वथा तत्परित्यागः । मांसं तु प्राणिशरीरावयवः, प्राणव्यपरोपणमन्तरेण दुष्प्रापम्, प्राणातिपातश्च स्वशरीरसम्भूतदुःखानुमानेन न शक्यः प्राज्ञेन कर्तुं, स्वयं न करोति अन्येन कार्यत इत्येतदपि न, कुर्वन् न चाऽनुमोदनीयः, एवं कृतकारितानुमतिभिः परिहारः सर्वथा मुमुक्षोरुपदिष्टः शासनप्रणायिना सर्वज्ञेनेति । अथ यत् कृतकारितानुमतिपरिशुद्धमोदनादिवत् तत् किमिति न वर्ण्यते ? तदपि गार्ध्यपरिहारार्थं यतयः परिहरन्त्येव द्रव्यादिचतुष्टयापेक्षाः, ननु चैवमोदनादयोऽपि गार्ध्यपरिहारिणा त्याज्याः ? नैतदेवम्, मांसरसो हि सर्वरसातिशायी वृष्यतमश्च किल, तत्र चाऽवश्यंभावि गार्ध्यम्, न चैवमोदनादयः । ननु च क्षीरदधिघृतादयोऽपि रसा वृष्या एवेति, उच्यते—तेऽपि हि मुमुक्षोः सर्वदा नैवानुज्ञाता भगवद्भिः, यदा कदाप्यनुज्ञातास्तदाऽपि मात्रया तप्तायोभाजनप्रक्षिप्तघृतादिबिन्दुक्षयवन्न चरणबाधायै प्रत्यलाः, लोकविरुद्धमपि मांशाशित्वमतो सर्वथा हेयमिति । मधु त्रिप्रकारम्;—माक्षिकं कौत्तिकं भ्रामरं च, एतदपि प्राण्युपघातनिष्पन्नमेवेति परिहार्यम्। गोमहिष्यजाऽविकानां नवनीतं चतुर्धा, स चापि वृष्यो रस इति परिहार्यः । दुग्धविकृतिः प ञ्चप्रकारा गोमहिष्यजाऽविकोष्ट्रीणाम् । दधिविकृतिः करभीवर्जानां चतुःप्रकारा । घृतविकृतिर्दधिविकृतिवच्चतुर्धैव । तैलविकृतिरपि चतुर्विधा, तिलाऽतसीसिद्धार्थककुसुम्भकाख्यानि तैलानि । इक्षुविकाराऽऽत्मिका च गुडविकृतिः । अवगाह्यकविकृतिरपूपादिका आदिग्रहणात् घृताद्यवगाहनिष्पन्नानि दशमी प्रमुखद्रव्याणि ज्ञेयानि। एताः पूर्वोक्ता निखिला अपि विकृतयश्चित्तविकारहेतुभूतत्वान्न सर्वदाऽभ्यवहार्याः, विकारजनकत्वाद्विकृतय इत्यन्वर्थसंज्ञा तासां, अतो मुमुक्षुणा ललनाङ्गप्रत्यङ्ग-

तस्य भक्तप्रत्याख्यानमनशनमिति ॥

ऊनमवममुदरं यस्य स ऊनोदरस्तस्य भाव औनोदर्यम्, तच्च चतुर्द्धा–अल्पाहारौनोदर्यम्, उपार्धौनोदर्यम्, अर्धौनोदर्यम्, प्रमाणप्राप्तात् किञ्चिदूनौनोदर्यम् च, तत्र पुंसामाहारः द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणः, कवलश्चोत्कृष्टापकृष्टौ वर्जयित्वा मध्यम इह गृह्यते, स चाऽविकृतस्वमुखविवरप्रमाणः। तत्र कवलाऽष्टकाऽभ्यवहारेऽल्पाहारौनोदर्यम्, अर्धस्य समीपमुपार्धं द्वादशकवलाः, यतः कवलचतुष्टयप्रक्षेपात् सम्पूर्णमर्धं भवति, ततो द्वादशकवला उपार्धौनोदर्यम्, षोडशकवला अर्धौनोदर्यम्, प्रमाणप्राप्त आहारो द्वात्रिंशत्कवलाः स चैकादिकवलैरूनश्चतुर्विंशतिकवलान् यावत् प्रमाणप्राप्तात् किञ्चिदूनौनोदर्यम्, चतुर्विधेऽप्यस्मिन् एकैककवलहान्या बहूनि स्थानानि जायन्ते, सर्वाणि चामून्यौनोदर्यविशेषाः। योषितस्त्वष्टाविंशतिकवलाहारप्रमाणम्, यदाहः—'बत्तीसं खलु कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। पुरिसस्स महिलिआए अट्ठावीसं भवे कवला' ॥ १ ॥ तस्या अपि पुरुषानुसारेण न्यूनाहारादिकं भावनीयम् ॥ २ ॥

तथा वर्त्तते यया सा वृत्तिः–भैक्षं तस्याः संक्षेपः परिगणनं वा, आगमविहितेऽभिग्रहे दत्तिप्रमुखभिक्षाणां परिगणनमित्यर्थः, एतच्च दत्तिपरिमाणरूपं एकद्वित्र्याद्यगारनियमो रथ्याग्रामाऽर्धग्रामनियमश्च, द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहाणामत्रैवान्तर्भावः ॥ ३ ।

तथा रस्यन्ते स्वाद्यन्तेऽतिशयेनेति रसाः, तेषां त्यागो रसत्यागः, अथवा रसानां मद्धप्लोपाद् विशिष्टरसवतां वृष्याणां विकारहेतूनां एव विकृतिशब्दवाच्यानां मद्यमांसमधुनवनीतानां दुग्धदधिघृततैलगुडावगाह्यादीनां च त्यागो वर्जनं -

अथ प्रतिज्ञातद्वादशविधतपोलक्षणां निर्जरां विधानतो वक्तुकामस्सूत्रकारः प्रथमं बाह्यतपोभेदानाचष्टे;—

अणसणमूणोयरिआ, वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ। कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होई ॥३५॥

टीकाः—' अणसण ' इत्यादि, अनशनं ऊनोदरिका वृत्तिसंक्षेपो रसत्यागः कायक्लेशः संलीनता चेत्येताः षड् बाह्यतपोभेदा भवन्तीत्यर्थः। अथ प्रत्येकं व्याख्यायते;—अशनमाहारस्तत्परित्यागोऽनशनम्, तद् द्विधा इत्वरं यावज्जीविकं च। इत्वरं नमस्कारसहितादि श्रीमन्महावीरतीर्थे षण्मासपर्यन्तम्, श्रीनाभेयतीर्थे तु संवत्सरपर्यन्तम्, मध्यद्वाविंशतितीर्थंकरतीर्थेषु त्वष्टौ मासान् यावत्। यावज्जीविकं तु पादपोपगमनेङ्गिनीभक्तप्रत्याख्यानभेदात् त्रिविधम्। तत्र पादपोगमनं द्विधा—सव्याघातमव्याघातं च, तत्र सतेऽप्यायुषः समुपजातव्याधिविधुरेणोत्पन्नमहावेदनेन वा देहिना यदुत्क्रान्तिः क्रियते तत् सव्याघातम् निर्व्याघातं प्रव्रज्याशिक्षापदादिक्रमेण जराजर्जरितविग्रहः करोति यदुपहितचतुर्विधाऽऽहारप्रत्याख्यानो निर्जन्तुकं स्थण्डिलमाश्रित्य पादप इवैकेन पार्श्वेन निपत्याऽपरिस्पन्दस्तावदास्ते प्रशस्तध्यानव्यापृतान्तःकरणो यावदुत्क्रान्ताः प्राणाः, तदेतत् पादपोगमनाऽऽख्यं द्विविधमनशनम्। इङ्गिनी श्रुतविहितक्रियाविशेषस्तद्विशिष्टं मरणमिङ्गिनीमरणम्, अयं हि प्रव्रज्यादिप्रतिपत्तिक्रमेणैवायुषः परिहाणिमवगम्य आत्तनिजोपकरणः स्थावरजङ्गमविवर्जितस्थण्डिलशायी एकाकी कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्य : उष्णां उष्णाच्छायां सङ्क्रामन् सचेष्टः सम्यग्ज्ञानपरायणः प्राणान् जहाति, एतदिङ्गिनीमरणमपरिकर्म्मपूर्वकं भवति। यस्तु गच्छमध्यवर्त्ती समाश्रितमृदुसंस्तारकः समुत्सृष्टशरीरोपकरणममत्वस्त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याख्याय स्वयमेवोद्ग्राहितनमस्कारः समीपवर्त्तिसाधुदत्तनमस्कारो उद्वर्त्तनपरिवर्त्तनादिकुर्वाणः समाधिना कालं करोति,

कथं द्विधा परिपाकः ? यत उक्तरीत्या समानकालबद्धानां समस्थितिरसानां कर्म्माणूनामपि द्विधा परिपाकवत्त्वं समाप्नोति तत्कथं ?, सत्यं, यद्यपि बन्धसादृश्यं तथापि विपाकभेदे न विरोधः, यथा वृक्षैकशाखानिष्पन्नानां फलानं द्विधा पाको दृष्टः, पलालच्छन्नानां फलानां यथा शीघ्रपाकित्वं न तथा वृक्षस्थानां दृश्यते, एवं सङ्क्रमोद्वर्त्तनापवर्त्तनोदीरणादिकरणसाध्यानां कर्म्मपरमाणूनां द्विविधे पाके न विरोध इति ॥

अथ गाथापदानि विव्रियन्ते,–'बारसविहं तवो निज्जरा' इत्यादि, द्वादशविधं तपो निर्ज्जरा, वक्ष्यमाणपड्भेदभिन्नबाह्याऽभ्यन्तरतपसा निज्जरा भवतीत्यर्थः। ननु 'चउदस चउदस' इति गाथायां निर्ज्जरा द्वादशभेदभिन्नोक्ता, अत्र या द्वादशभेदसंख्या सा तपसो न तु निर्ज्जरायाः, अस्तु सकामाऽकामभेदाभ्यां पूर्वोक्तप्रकारेण द्विविधत्त्वं तस्याः, कथं द्वादशविधावच्छिन्नत्त्वं ?, उच्यते;–यद्यपि द्वादशभेदास्तु तपसस्तथाऽपि निखिलास्ते तपोभेदाः (सकाम) निर्ज्जरायां हेतुत्त्वेन भवन्ति, अतः कारणे कार्यारोपाद् ये तपोभेदास्त एव निर्ज्जरायाः, नाऽत्र काचिद्विप्रतिपत्तिः, घृतमायुरित्यादि दर्शनात्।

अथ 'बारसविहं' इति प्रकृतगाथाऽनन्तरं 'अणसणमूणोअरिया' 'पायच्छित्तं विणओ' इति गाथाद्वयं व्याख्याय वक्ष्यमाणबन्धतत्त्वसम्बन्धं प्रदर्शयितुं प्रस्तुतगाथायां निर्ज्जरालक्षणेन साकमेव बन्धतत्त्वमपि विधानतः सूत्रकारः प्रतिपादयति, तच्चैवम्;–' बन्धो चउविगप्पो य, पयडिठिइ अणुभागो पएसभेएहिं नायव्वो ' इति, बन्धो वक्ष्यमाणस्वरूपश्चतुर्विकल्पः प्रकृति–स्थित्यनुभाग–प्रदेशभेदैश्चतुःप्रकार इत्यर्थः। किंस्वरूपो बन्धः, किंलक्षणाश्च तस्य प्रकृतिबन्धादिभेदा इत्यादि निखिलमग्रे वक्ष्याम इति ॥

दाप्तेपदेशाचेत्यादिवक्ष्यमाणरीत्या नवानामप्यनुयोगद्वाराणां व्याख्यानं कर्त्तव्यमिति श्रीमदुमास्वातिवाचकवरेण्यैरपि तत्त्वार्थसूत्रे तद्भाष्ये चैवं न्यगादि–'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च' (१-८) सत्, संख्या, क्षेत्रं, स्पर्शनं, कालः, अन्तरं, भावः, अल्पबहुत्त्वमित्येतैः सद्भूतप्ररूपणादिभिरष्टाभिरनुयोगद्वारैः सर्वभावानां विकल्पशो विस्तराधिगमो भवति। कथमिति चेदुच्यते–सत्, सम्यग्दर्शनं किमस्ति नास्ति ? अस्तीत्युच्यते। क्वास्तीति चेत्, उच्यते–अजीवे तावन्नास्ति, जीवेषु तु भाज्यम्। तद्यथा–गतीन्द्रियकाययोगकषायवेदलेश्यासम्यक्त्वज्ञानदर्शनचारित्राहारोपयोगेषु त्रयोदशस्वनुयोगद्वारेषु यथासम्भवं सद्भूतप्ररूपणा कर्त्तव्येति (त० भाष्यम्. अ. १. सू० ८)। एवं मोक्षविषया प्ररूपणा नवभिरनुयोगद्वारैः कर्त्तव्येति ॥ ४३

अथ प्रत्येकमनुयोगद्वारमधिकृत्य मोक्षतत्त्वं विवियते—

संतं सुद्धपयत्ता, विज्जंतं खकुसुमव्व न असंतं मुक्खत्ति पयं तस्स उ, परूवणा मग्गणाईहिं। ४४

टीका;—'संतं' इति, अस्तीति सन् तस्य भावः सत्ता, कस्य ? मोक्षपदवाच्यस्य, कस्मात् ? शुद्धपदत्वात् मोक्षस्येति, शुद्धं तत्पदं शुद्धपदं तस्य भावः तस्मादसंयुक्तपदत्वादसमस्तपदत्वादित्यर्थः। इदमत्र हृदयं–इह यानि घटपटादीनि शुद्धपदानि तत्तत्पदवाच्यान्यप्यवश्यं भवन्ति, यथा पृथुबुघ्नाकृतिर्जलधारणादिक्रियासमर्थः द्रव्यविशेषो घटपदवाच्यः, एवमन्येष्वपि

१ तत्त्वार्थे यदष्टानुयोगद्वाराणि तत्र भागद्वारस्य संख्यायामन्तर्भावो विज्ञायते।

२५

शुद्धपदेषु विज्ञेयम्। यानि चाऽन्यपदसंयोगात्समस्तपदानि खपुष्पशशविषाणवन्ध्यापुत्रराजपुरुषप्रमुखानि तत्तत्पदवाच्यानि विकल्पेन भवन्ति। समस्तपदेषु खपदवाच्यमवगाहप्रदस्वभावमाकाशं वर्त्तते, पुष्पपदवाच्यं च सुगन्धगुणमयं कुसुमं भवति, परं खस्य पुष्पस्य च यदा राजपुरुषादिवल्लक्षणया समासो विधीयते तदा खपुष्पमितिपदस्य वाच्याऽभावः न च खपुष्पमित्यखण्डपदस्याऽवयवभूतयोः खपुष्पयोर्वाच्यसद्भावेऽवयविनः खपुष्पमितिपदस्याऽपि वाच्येन भवितव्यमिति शङ्कनीयम्, यतो 'राजपुरुष' इत्याद्यखण्डपदेषु राजविशिष्टः पुरुष इति राजपदस्य पुरुषपदे विशेषणात्मकलक्षणया सम्यगर्थसङ्गतिर्भवति, परं खपुष्पमित्यादिपदेषु खे जातं पुष्पं खस्य पुष्पं वेति विग्रहे विशेषणात्मकलक्षणाया अभावादर्थसाङ्गत्याभावः। न चाऽवयविनोऽर्थसङ्गतेरभावादवयवभूतयोः खपुष्पयोरपि नार्थसङ्गतिरिति वाच्यम्, यतोऽवयवभूतयोरपि खपुष्पयोः 'राजन् ङस् पुरुष' इत्याद्यलौकिकविग्रहवाक्यवत् 'ङस् पुष्प' इत्यत्र 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (पा० अ० २, पा० ४, सू० ७१.) इति सूत्रेण सत्यपि लुकि पदसंज्ञायै स्थानिवद्भावो भवत्येव, अन्यथा 'राजपुरुषः' इत्यादौ 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यनेन नलोपो न स्यात्, अत्र तु समासापेक्षया पदत्वे सत्यपि लक्षणाया अभावाद्वाच्याऽभाव इति। तस्मादवयविनो वाच्याऽभावेऽपि पुष्पयोरवयवभूतयोः पृथक् पृथक् पदसंज्ञायाः सद्भावात् तत्पदवाच्यसद्भावे न काचिद्विप्रतिपत्तिः एवं शशविषाणवन्ध्यापुत्रप्रभृतिशब्देष्वपि विज्ञेयम्। राजपुरुषाचार्यशिष्यादिषु शब्देषु समासस्य सद्भावेऽपि पूर्वोक्तप्रकारेणार्थसङ्गतेस्सद्भावात् तत्तत्पदवाच्यान्यपि भवन्तीति समस्तपदेषु विकल्पेन वाच्यसद्भावः। अमुमेवाऽर्थं सूत्रकारमहर्षिर्गाथायां प्रदर्शयति—'मुक्खत्ति पयं' इति, मोक्ष इति पदं

मोक्षतत्त्वे सत्पदद्वारम्

शुद्धपदत्वात् वाच्यवद्विद्यते, परं 'खकुसुमव न असंतं' खपुष्पमिव न वाच्याऽभाववदिति। एवं मोक्षपदवाच्यस्य सत्तानिश्चये जाते शिष्यः प्रश्नयति यदि मोक्षपदवाच्यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण सत्ता प्रतीयते तर्हि सत्तासद्भावः ? उच्यते–'तस्स उ परूवणा मग्गणाईहिं' गत्यादिमार्गणाद्वारेण तस्य मोक्षस्य प्ररूपणा कर्त्तव्येति ॥ ४४ ॥

एतदेव प्रदर्शनार्थं मार्गणा वक्तुं प्रक्रमते—

गइइंदिये कए, जोए वेए कसायनाणे य। संजमदंसणलेसा, भवसम्मे सन्नि हरे ४५

टीका;–गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिर्नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः इन्दनादिन्द्र आत्मा ज्ञानैश्वर्ययोगात् तस्येदमिन्द्रियं। ततो गतिश्चेन्द्रियं चाऽनयोस्समाहारः गतीन्द्रियं तस्मिन् गतीन्द्रिये, एवमन्यत्राऽपि यथायोगं समाहारद्वन्द्वः कार्यः 'चः' समुच्चये चीयते यथायोगमौदारिकादिमार्गणागणैरुपचयं नीयत इति कायः। युज्यते धावनवल्गनादिचेष्टास्वात्मानेनेति योगः। वेद्यतेऽनुभूयते इन्द्रियोद्भुतं सुखमनेनेति वेदः। कष्यन्ते हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः संसारः, कषमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः, यद्वा कषस्यायो लाभो येभ्यस्ते कषायाः ज्ञप्तिर्ज्ञानं, यद्वा ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानं समान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः। संयमनं सम्यगुपरमणं सावद्ययोगादिति संयमः, यद्वा संयम्यते नियम्यत आत्मा पापव्यापारसंभारादनेनेति संयमः, यदि वा शोभना यमाः प्राणातिपातानृतभाषणादत्तादानाब्रह्मपरिग्रहविरमणलक्षणा अस्मिन्निति संयमश्चारित्रम्। दृश्यते विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनं, यद्वा दृष्टिर्दर्शनं सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यात्मको बोध इत्यर्थः लिश्यते श्लिश्यते कर्मणा

सहात्माऽनयेति लेश्या । भवति परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्यः सिद्धिगमनयोग्यः । 'सम्म त्ति' सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा सम्यग्जीवस्तद्भावः सम्यक्त्वं प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशमसंवेगादिलक्षण आत्मधर्म इति यावत् । यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः–'सेय सम्मत्ते पसत्थसंमत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे ।' इत्यादि । संज्ञानं संज्ञा भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्विता इत्यर्थः । ओजआहारलोमाहारकवलाहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारकः, ओजआहारादीनां लक्षणमिदं–"सरीरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोम आहारो । पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥ १ ॥ इति मूलभूतानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि ॥

इदानीमेतेषामेव मूलमार्गणास्थानानामुत्तरभेदा भाव्यन्ते–तत्र सुरनरतिर्यङ्नरकगतिभेदैर्गतिश्चतुर्धा । तत्र सुष्ठु राजन्ते इति यदि वा सुष्ठु राजन्ति ददति प्रणतानभीप्सितार्थं लवणाधिपसुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुराः, यद्वा 'सुर ऐश्वर्यदीप्त्योः' सुरन्ति विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणसंभारसमृद्ध्या सहजनिजशरीरकान्त्या च दीप्यन्त इति सुराः, सुरेषु विषये गतिः सुरगतिः १ । नृणन्ति विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नरा मनुष्यास्तेषु विषये गतिर्नरगतिः २ । 'तिरि त्ति' प्राकृतत्वात्तिरोऽञ्चन्ति गच्छन्ति तिर्यञ्चः, व्युत्पत्तिनिमित्तञ्चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, ततस्तिर्यक्षु विषये गतिस्तिर्यग्गतिः ३ । नराद्युपलक्षणत्वात्तिर्यञ्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्ति वाह्वयन्तीति नरका नरकावासास्तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, तेषु विषये गतिर्नरकगतिः ४ एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदै-

रेन्द्रियमार्गणा पञ्चविधेति । पृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायभेदात्कायमार्गणा षड्विधा । योगमार्गणा त्रिविधा, तथाहि—मनोयोगः, वचनयोगः, तनुयोगः। तत्र तनुयोगेन मनःप्रायोग्यवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणतानि वस्तुचिन्ताप्रवर्त्तकानि द्रव्याणि मन इत्युच्यन्ते, तेन मनसा सहकारिकारणभूतेन योगो मनोयोगः, मनोविषयो यो योगो मनोयोगः। उच्यत इति वचनं भाषापरिणामापन्नपुद्गलद्रव्यसमूह इत्यर्थः, तेन वचनेन सहकारिकारणभूतेन योगो वचनयोगः, वचनविषयो वा योगो वचनयोगः। तनोति विस्तारयत्यात्मप्रदेशानस्यामिति तनुरौदारिकादिशरीरं, तया सहकारिकारणभूतया योगस्तनुयोगः तनुविषयो वा योगस्तनुयोग इति । वेदमार्गणा पुंस्त्रीनपुंसकभेदैस्त्रिविधा, तत्र पुंसः स्त्रियं प्रत्यभिलाषः पुंवेदः, स्त्रियः पुरुषं प्रत्यभिलाषः स्त्रीवेदः, नपुंसकस्य स्त्रीपुरुषौ प्रत्यभिलाषो नपुंसकवेद इति। कषायमार्गणा चतुर्भेदभिन्ना, तथाहि—क्रोधोऽप्रीतिलक्षणः, मानो नम्रताऽभावस्वभावः, माया आर्जवराहित्यात्मिका, लोभस्संतोषाऽभावस्वरूपः। ज्ञानमार्गणा पञ्चज्ञानत्र्यज्ञानविधानेनाष्टविधा—तत्र पञ्चज्ञानस्वरूपं पापतत्त्वे किञ्चित्प्रतिपादितम्, तत्रोक्तानि मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रमं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानव्यपदेशभांजि भवन्ति । उक्तं च—'आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तमिति।' विपरीतो भंगः परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिंस्तद्विभङ्गः, विपर्यस्तमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः। एतेऽष्टावपि ज्ञानाऽज्ञानानि साकाराणि। तथाहि—सामान्यविशेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु, कथमिति चेदुच्यते, दूरादेव हि शालतमालतालवकुलाशोकचंपककदंबजंबुनिंबादिविशिष्टव्यक्तिरूपतयानवधारितं तरुनिकरमवलोकयतः सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति तत्सामान्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, 'निर्विशेषं विशे-

पाणां ग्रहो दर्शनमुच्यते ' इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य तालतमालशालादिव्यक्तिरूपतयावधारितं तमेव महीरुहसमूहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति तद्विशेषरूपं साकारं ज्ञानमप्रमेयप्रभावपरमेश्वरप्रवचनप्रवणचेतस्काः प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति कृत्वा । वक्ष्यमाणानि चक्षुरादिदर्शनानि विशिष्टाकारप्रतीत्यभावादनाकाराणि, तदेवं प्रतिप्राणि प्रसिद्धप्रमाणाबाधितप्रतीतिवशात् सर्वमपि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति । इदानीं संयममार्गणा, सा च सामायिकछेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातदेशविरत्यविरतिप्रकारैस्सप्तधा, तत्र सामायिकादि यथाख्यातान्तं चारित्रं संवरतत्त्वे सम्यग्भावितं । देशविरत्यविरती चाधुना भाव्येते—देशे संकल्पतो निरपराधत्रसवधविषये विरतिर्विरमणं यस्यां सा देशविरतिः, तद्वान् देशविरतः, स च सम्यग्दर्शनयुत एकाणुव्रतादिधारिगुणव्रतधारि तावद्वाच्यो यावच्चरमोऽनुमतिमात्रः परिपूर्णद्वादशव्रतधारी प्रत्याख्यातसकलसावद्यकर्मा केवलमनुमतिमात्रप्रतिसेवकः । अनुमतिरपि त्रेधा—प्रतिसेवनानुमतिः प्रतिश्रवणानुमतिः संवासानुमतिश्च । तत्र यः स्वयं परैर्वा कृतं पापं श्लाघते सावद्यारम्भनिष्पादितं वाऽशनाद्युपभुङ्क्ते तस्य प्रतिसेवनानुमतिः । यदा तु पुत्रादिभिः कृतं पापं शृणोति श्रुत्वा चाऽनुमन्यते न च प्रतिषेधति तदा प्रतिश्रवणानुमतिः । यदा तु सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्रयुक्तो भवति नान्यत् [किञ्चित्प्र-]तिशृणोति श्लाघते वा तदा संवासानुमतिः । तत्र यः संवासानुमतिमात्रमेव सेवते स चरमो देशविरतः, स च सर्वश्रावकाणां मध्ये गुणोत्तमः । यस्तु संवासानुमतेरपि विरतो भवति स यतिरित्युच्यत इति । न विद्यते विरतिः पूर्वोक्ता देशसर्वभेदभिन्ना यस्य सोऽविरतिस्तद्वतस्संयमोऽप्यविरतिसंयम इति सप्तधा संयममार्गणा ॥ अथ दर्शनमार्गणा, सा च चतुर्विधा पूर्वव्याख्यातचक्षुदर्श-

नाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनकेवलदर्शनभेदैः लेश्या मार्गणा कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लभेदैः षड्विधा, षड्विधत्वं चासां जम्बूफलभक्षकग्रामलुण्टकषट्पुरुषदृष्टान्ताभ्यां भावितम्। भव्यो मुक्तिगमनाऽर्हः, इतरोऽभव्यः कदाचनाऽपि सिद्धिगमनाऽनर्हः, तयोर्मार्गणा भव्यमार्गणा। सम्यक्त्वमार्गणा षड्विधा औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकमिश्रसास्वादनमिथ्यात्वप्रकारैः। तत्स्वरूपं चेदम्—

सम्यक्त्वं दर्शनमोहनीयस्य सर्वोपशमनेन देशोपशमनपर्यायक्षयोपशमेन क्षयेण च औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकसंज्ञं क्रमेण सञ्जायते। इह सर्वोपशमना मोहस्यैव, शेषाणां ां देशोपशमना भवति। तत्र गंभीराऽपारसंसारसागरमध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्त्तान् यावदनन्तदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथा भव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाऽनाभोगेन पञ्चेन्द्रियत्वसंज्ञित्वलब्धिपर्याप्तत्वरूपेण दायिकभाववर्त्तिलब्धित्रिकेण युक्तः, पूर्वमपि करणकालाद् अन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत्प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या वर्धमानो ग्रन्थिकसत्त्वानामभव्यसिद्धिकानां शोधिमतिक्रम्य वर्त्तमानः, तथा साकारोपयोगे विशुद्धलेश्यायां च वर्त्तमानः, तथाऽऽयुर्वर्जानां स नां कर्मणां स्थितिमन्तःसागरोपमकोटाकोटिप्रमाणां कृत्वाऽ भानां कर्मणामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं कुर्वन् भानां च कर्मणां द्विस्थानकं सन्तमनुभागं चतुःस्थानकं कुर्वाणः, तथा बध्यमानप्रक नां स्थितिमन्तःसागरोपमकोटाकोटिप्रमाणामेव बध्नन्नाधिकां, तथा स्थितिबन्धे पूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्धं प्राक्तनस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसङ्ख्येयभागन्यूनं कुर्वन् तस्मिन्नपि पूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्धं पल्योपमसंख्येयभागन्यूनं कुर्वन्, एवमन्यमन्यं स्थितिबन्धं पूर्वापेक्षया पल्योपमसंख्येयभागन्यूनं कुर्वन्, अशुभानां च प्रकृतीनां बध्यमानानामनुभागं द्विस्थानकं बध्नंस्तमपि तिसमयमनन्तगुणहीनं शुभानां च चतुःस्थानकं बध्नंस्तमपि प्रति-

समयमनन्तगुणवृद्धं, करणकालात्पूर्वमन्तर्मुहूर्त्तं यावद् दृशेतिकर्त्तव्यताव्यापृतो भूत्वा परिणामविशेपलक्षणं यथाप्रवृत्तं करोति, ततोऽपूर्वकरणं, ततोऽप्यनिवृत्तिकरणं, एतानि च त्रीण्यपि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्त्तिकानि, करणत्रयकालोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण एव, एतत्करणत्रयनिष्पादनक्रमादनन्तरं चतुर्थीमुपशान्ताद्धां लभते साऽपि चान्तर्मौहूर्त्तिकी द्रष्टव्या। यथाप्रवृत्तापूर्वकरणयोरध्यवसायस्थानानि प्रतिसमयं नानाजीवानाश्रित्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, समये समयेऽनन्तगुणविशुद्ध्या करणसमाप्तिं यावत् प्रवर्धमानानि, अपि च यथाप्रवृत्तकरणप्रथमसमये नानाजीवाऽपेक्षया यान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यान्यध्यवसायस्थानानि तदपेक्षया द्वितीयसमये विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं यथाप्रवृत्तचरमसमयं यावद्वाच्यम्। एवमेवाऽपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम्। अमूनि च यथाप्रवृत्तापूर्वकरणसम्बन्धीन्यध्यवसायस्थानानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति, तयोरुपर्यनिवृत्तिकरणाध्यवसायस्थानानि मुक्तावलीसंस्थानानि स्थाप्यानि उपर्युपरि चामून्यनुचिन्त्यमानानि अनन्तगुणवृद्ध्या वर्द्धमानान्यवगन्तव्यानि तिर्यक् च षट्स्थानपतितानि। स्थापना चेयम्:—

१ यथाप्रवृत्तक०।	२ अपूर्वकरणम्।	३ अनिवृत्तिकरणम्।	४ उपशान्ताद्धा।	सास्वा०
प्र० स० अध्य० विषमसम० संस्था-नानि। अन्त०	अन्त० एवमग्रेऽपि। विषमसम० संस्थानानि।	अन्तमुहूर्त्तम् ०००००००००० मुक्तावलीसंस्थानानि	अन्तरकरणम्। अन्त०	६ आवलिका.

अस्मिन् यथाप्रवृत्तकरणे स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमा न प्रवर्त्तन्ते, केवलमुक्तरूपा विशुद्धिरेव प्रतिसमयमनन्तगुण-वृद्धिमती वर्त्तते, अत्र स्थितो यानि चाप्रशस्तानि कर्माणि बध्नाति तेषामनुभागं द्विस्थानकं बध्नाति, यानि च शुभानि बध्नाति तेषामनुभागं चतुःस्थानकं । स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्धं पल्योपमसंख्येयभागहीनं करोति, अस्य यथाप्रवृत्तस्य पूर्वप्रवृत्तमिति द्वितीयं नाम, शेषकरणाभ्यां पूर्वं प्रवृत्तत्वात् । एतदवस्थां यावदनाभोगतोऽभव्या अप्यने-कशः पूर्वोक्तरीत्या कर्मस्थितिह्रासं कृत्वा आगच्छन्ति परमपूर्वकरणे जायमानस्थितिरसघातादिभिर्निबिडां रागद्वेषग्रन्थिं न भिन्दन्ति, यतस्तेषां ग्रन्थिभेदयोग्याध्यवसायराहित्यं विद्यते, अत एव दर्शनमोहनीयस्य सर्वोपशमनाया अभावान्नौपशमिक-सम्यक्त्वोपलम्भस्तेषाम् । तत्रैव च संख्येयमसंख्येयं वा कालं यावत्तिष्ठन्ति, तत्र स्थितः कश्चिदभव्यः चक्रिप्रमुखैर्नैन्यमाणं संयमगुणाभिरामं तपस्विनं महर्षिं दृष्ट्वा 'अहमप्येतादृशं नेपथ्यं परिधायैतादृशं सन्मानं लभेयम्' इत्यैहिकसत्काराभिलापेप-पन्नो द्रव्यचारित्रं प्रतिपद्य प्रतिलेखनाऽऽवश्यकादिक्रियानुष्ठानं सम्यग् विधत्ते, द्रव्यचारित्रमहिम्ना च स्वायुषः समाप्तेर्नवमं ग्रैवेयकं यावदुत्पद्यते, उक्तश्च पञ्चाशकमहाशास्त्रे—'सव्वजियाणं जम्हा सुत्ते गेविज्जगेसु उववाओ । भणिओ जिणेहिं सो न य लिंगं मोत्तुं जओ भणियं ॥ १ ॥ जे दंसणवावन्ना लिंगग्गहणं करिंति सामन्ने । तेसिं पि य उववाओ उक्कोसे जाव गेविज्जा ॥ २ ॥' अपि च कश्चिदभव्याः श्रुतसामायिकलाभं समापन्नाः तत्रस्था एव नवमं पूर्वं यावत् शब्दतोऽधीयते श्रुतम् तथा चोक्तं—'तित्थंकराइपूअं दट्ठूणण्णेण वावि कज्जेण सुयसामाइयलाहो होज्ज अभवस्स गंठिम्मि ॥ १ ॥' 'चउदस दस य अभिन्ने नियमा सम्मं तु सेसए भयणा' इत्यादि । पूर्वलब्ध्यभावे तेषामभव्यानां श्रुतमपि द्रव्यश्रुतमिति ग्रन्थिदेशं

समापन्नाः केचन भव्या अपि रागादिरिपुभिः पराजिताः सन्तस्ततः पुनः प्रतिनिवृत्त्योत्कृष्टस्थितिबन्धका भवन्ति, केचिदवस्थितपरिणामा अपूर्वकरणयोग्यविशुद्ध्यभावात् तत्रैवाऽनियतकालं तिष्ठन्ति, येषां चोत्कृष्टतोऽपार्धपुद्गलपरावर्त्ताद्धायां नियमेन मोक्षस्ते पूर्वोक्तनिखिलस्थितिलाघवादिक्रियाकलापसमापन्नास्तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो वक्ष्यमाणाऽपूर्वकरणवर्तैस्थितिघातरसघातादिभिरद्यावधि संसारचक्रेऽभिन्नपूर्वां रागद्वेषनिविडग्रन्थिं भित्त्वाऽनिवृत्तावन्तर्मुहूर्त्तं विश्रम्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभमश्नुवते । त्रयः पुरुषा यथेष्टनगरं सम्प्राप्तुकामा विवक्षितस्थलान्निर्गता अध्वनि श्वापदस्तेनादिव्याकुलाटवीनिवासैश्चौरैर्लुण्टितास्सन्तस्तेषां मध्यादेकस्त्रासभयात्पलायितः, अपरश्चौरहस्ते पतितः, अन्यस्तु स्वभुजबलातिशयेन लुण्टाकान्निर्जित्येष्टनगरं प्राप्तः, तथाऽत्रापि दृष्टान्तोपनयेनावगन्तव्यमिति । अपि च मलातिशयक्लिन्नवाससि क्व क्व घृतबिन्द्वादिजन्यमालिन्यं तद्द्विशः क्षारादिसामग्रीयोगतः प्रक्षालनप्रयासमृते यथा नाविर्भवति तथा पूर्वोक्तलक्षणां यथाप्रवृत्तकरणयोग्यां विशुद्धिमृते यथोक्तग्रन्थिस्थानस्याऽपि न प्रादुर्भावः, कुतस्तावत्तद्भेदकथा ? इति । अथापूर्वकरणम्—अपूर्वान्यभिनवानि करणानि परिणामानि स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिस्थितिबन्धादीनां निर्वर्त्तकानि यस्मिंस्तदपूर्वकरणमिति गुणनिष्पन्नवचनम् । अत्राप्ययमाशयः—अत्र हि स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिः स्थितिबन्धाद्धत्येताश्चतस्रः क्रियास्समकमेव प्रवर्त्तन्ते । स्थितिघातो नाम—स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागादुत्कर्षत उदधिपृथक्त्वं—प्रभूतशतसागरोपमशतप्रमाणं जघन्येन च पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिकण्डकमुत्किरति, उत्कीर्य च याः स्थितिरधो न खण्डयति तत्र तद्दलिकं प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्त्तेन च कालेन तत्स्थितिकण्डकमुत्कीर्यते । उक्तञ्च—" उक्कोसेण बहुसागराणि इयरेण पल्लसंखंसं । ठिइअग्गाउ घायइ अंतमुहुत्तेण ठिइकंडं ॥ १ ॥ "

ततः पुनरप्यधस्तात्पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिकण्डकमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेनोत्किरति प्रागुक्तरीत्यैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, इत्थञ्चापूर्वकरणस्याद्यसमये यत् स्थितिसत्कर्माऽऽसीत्तत्स्यैवाऽन्त्यसमये संख्येयगुणहीनं जातं, स एव स्थितिघातः। अथ रसघातः— स्थितिघातार्थमुत्कीरितो जघन्य उत्कृष्टे यः स्थितिखण्डस्तन्मध्यवर्त्तिदलिकगतानुभागसत्कर्मणामनन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननन्तान् भागाननुभागस्याऽन्तर्मुहूर्तेन कालेन निःशेषानपि विनाशयति, ततो भूयोऽपि तस्य मुक्तस्याऽनन्ततमस्य भागस्यानन्ततमं भ मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन नाशयति, एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति, एवं प्रतिस्थितिखण्डं वेद्येयं, एतादृशैः सहस्रैः स्थितिखण्डैरपूर्वकरणं परिसमापयति। अधुना गुणश्रेणिः—यत् स्थितिकण्डकं घातयति तन्मध्याद्दलिकानि गृहीत्वोदयसमयादारभ्याऽन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयं यावत्प्रतिसमयमसंख्येयगुणनया निक्षिपति, एष प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः, एवमेव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधिर्द्रष्टव्यः। किं च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुणश्रेणिचरमसमयं यावद् गृह्यमाणं दलिकं यथोत्तरमसंख्येयगुणं द्रष्टव्यम् इहाऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणो निक्षेपकालो दलरचनानुरूपगुणश्रेणिकालश्चापूर्वकरणानिवृत्तिकरणाद्धाद्विकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्यः, तावत्कालमध्ये चाऽधस्तनाऽधस्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे शेषक्षणेषु दलिकं रचयति, न पुनरुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति। अथ स्थितिबन्धाद्धा भण्यते—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यः स्थितिबन्धस्तदपेक्षया द्वितीये समये पल्योपमसंख्येयभागहीनो भवति, एवमग्रेऽपि भावनीयम्। स्थितिघातस्थितिबन्धयोश्च युगपदेवारब्धयोर्युगपदेव परिनिष्ठा भवति, तथा च स्थितिबन्धाद्धा कालतः

संख्यया च स्थितिघाततुल्या प्रवर्त्तते ।

अथाऽनिवृत्तिकरणम्—यथाऽपूर्वकरणप्रथमसमयादारभ्य स्थितिघातादयो युगपत्प्रवर्त्तमाना उक्ताः, एवमनिवृत्तिकरणेऽपि वक्तव्यम् । इदं च पुनरस्मिन् करणे वैशिष्ट्यम्—अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वृत्ता ये वर्त्तन्ते ये च वर्त्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामप्यन्यूनाधिकत्वेन समा विशोधिः, द्वितीयसमयेऽपि वृत्तवर्त्तमानवर्त्तिष्यमाणानां समा विशोधिः, प्रथमसमयभाविविशोध्यपेक्षया त्वनन्तगुणा, एवमनिवृत्तिकरणचरमसमयं यावद्वाच्यं । तदेवमस्मिन् करणे प्रविष्टानां जीवानां तुल्यकालानामध्यवसायानां मिथो निवृत्तिस्तिर्यक्षट्स्थानपतितवैषम्यलक्षणा नास्तीत्यनिवृत्तिकरणमिति नाम । यद्वा निवृत्तिर्निवर्तनमितिपक्षे आसम्यक्त्वलाभादत्राऽऽगतो जीवो न निवर्त्तत इत्यनिवृत्तिकरणम् । ऊर्ध्वमुखी त्वत्राध्यवसायस्थानानामनन्तगुणवृद्धिः सर्वेषु समयेषु विद्यते । अनिवृत्तिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु एकस्मिंश्च संख्येयतमे भागे शेषेऽवतिष्ठति मिथ्यात्वस्याऽन्तरकरणं करोति, अंतरकरणं नामोदयक्षणादुपरि मिथ्यात्वस्थितिमन्तर्मुहूर्तमानामतिक्रम्योपरितनीं च विष्कम्भयित्वा मध्येऽन्तर्मुहूर्त्तमानं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाऽभावकरणम्, तन्निष्पादनकालोऽप्यन्तरकरणकाल एव यथा तन्तुसंयोजनादिकालः पटकरणकालः । अन्तरकरणयोग्यस्थितेर्मध्यात् कर्मपरमाण्वाऽऽत्मकं दलिकं गृहीत्वा गृहीत्वा प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति उपरि द्वितीयस्थितौ च, एवं प्रतिसमयं तावत्प्रक्षिपति यावदन्तरकरणदलिकं सकलमपि क्षीयते, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन सकलतद्दलिकक्षय इति । इहान्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरित्युच्यते, उपरितनी तु द्वितीया । तत्र प्रथमस्थितौ वर्त्तमान उदीरणाप्रयोगेण प्रथमस्थितिसत्कं उदयावलिबहिर्भूतं दलिकं समाकृष्य यदुदयसमये प्रक्षिपति सोदीरणा, यत्तु द्वितीयस्थितेः सकाशादुदीरणाप्रयोगेण समा-

कृष्योदये प्रक्षिपति स आगालः, उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इति संज्ञा पूर्वसूरिभिरुच्यते उदयोदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवँस्तावद्गच्छति यावत् प्रथमस्थितेरावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति, तस्मिंश्च स्थिते आगालो निवर्त्तते, ततः परं केवलैवोदीरणा प्रवर्त्तते, साऽपि तावद्यावदावलिकाशेषो न भवति, तस्यां च शेषीभूतायामुदीरणाऽपि शान्ता भवति, ततः केवलेनैवोदयेन तामावलिकामनुभवति, तस्यां चापगतायामुदयोऽपि मिथ्यात्वस्य निवर्त्तते, तद्दलिकाभावात्, ततो मिथ्यात्वोदयनिवृत्तावुपशमाद्धायां प्रविशति, तस्यां चोपशमाद्धायां प्रविष्टस्य सतः प्रथमसमय एव मोक्षबीजमौपशमिकं सम्यक्त्वमुपजायते । यथा हि वनदावानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनवनदवोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति, अन्तरकरणप्रथमसमये एव मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावादौपशमिकसम्यक्त्वमवाप्नोति एवं यथाप्रवृत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणक्रमजन्यं अपूर्वकरणारब्धस्थितिघातादिभिर्ग्रन्थिभेदसम्भवमौपशमिकसम्यक्त्वं प्रपञ्चितम् । अस्मिंश्च सम्यक्त्वे लभ्यमाने कश्चित् सम्यक्त्वेन समं देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते । यदा च चारित्रमोहनीयस्य सूक्ष्मसम्परायान्ते सर्वोपशमना भवति तदाऽपि यदि चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाऽन्यतरगुणस्थाने दर्शनमोहस्य सर्वोपशमनायां जातायामुपशमसम्यक्त्वयुक्त उपशमश्रेणिं सम्पद्यते तत्राऽपि यदौपशमिकसम्यक्त्वं तत् श्रेणिगतम् । उभयभेदभिन्नमप्येतदासंसारं पञ्चवारं जायते, अन्तर्मुहूर्त्तश्च कालः

अथ क्षायोपशमिकम्—यस्मिन् समयेऽयं जीव औपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति तस्मिन् समये (निश्चयनयेन प्रथमस्थितिचरमसमये) द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति, शुद्धमर्द्धविशुद्धमविशुद्धं चेति, तत्र शुद्धं सम्यक्त्वमोहनीयं, देशघाति देशघातिरसोपेतत्वात्, अर्धविशुद्धं सम्यङ्मिथ्यात्वं, अशुद्धं च मिथ्यात्वं, एतदुभयमपि सर्वघाति

सर्वघातिरसान्वितत्वात् । यदा चौपशमिकाद्धा परिसमाप्ता भवति तदाऽध्यवसायानुरूपः पूर्वोक्तत्रिपुंजमध्यादेकस्य पुञ्जस्योदयो भवति, यदि शुद्धपुञ्जस्योदयस्तर्हि क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम्, मिश्रस्य चोदये मिश्रसम्यक्त्वम्, अशुद्धस्य चोदये मिथ्यात्वम् । अत्र तु क्षयोपशमप्रक्रमः, उदितस्य मिथ्यात्वमोहस्य क्षयेऽनुदितस्य चोपशमो यस्यामवस्थायां तत्क्षायोपशमिकम् । नन्वौपशमिकेऽपि उदितस्य क्षयेऽनुदितस्य चोपशमे क्षयोपशमोपशमयोरुभयोरपि तुल्यत्वे कथं भेदेन प्रतिपाद्यते ? सत्यम्, भेदसद्भावे भेदो न तु भेदाऽभावे, यत औपशमिकसम्यक्त्वे दर्शनमोहत्रितयस्याऽपि प्रदेशविपाकाभ्यामुदयाऽभावत्वं, क्षायोपशमिके तु य उपशमस्तस्य विष्कम्भितोदयत्वात् सम्यक्त्वमोहनीयस्य विपाकोदयो मिथ्यात्वमिश्रमोहनीययोश्च प्रदेशोदयः । अपि चेदं क्षायोपशमिकं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तकालं नत्कृष्टतश्च षट्षष्टिः सागरोपमाणि असंख्येयशश्च सम्प्राप्यते, औपशमिकं पुनरासंसारं पञ्चकृत्वस्सम्पद्यते आन्तर्मौहूर्त्तिकञ्च, कर्मोदयजन्यपरिणामराहित्यादौपशमिकमात्मपरिणतिमत्, क्षायोपशमिकं तु पौद्गलिकं कर्मोदयजन्यपरिणामात्मकत्वात्तस्येति ।

अथ क्षायिकम्—दर्शनमोहत्रितयाऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयलक्षणदर्शनसप्तकस्य क्षयादस्य प्रादुर्भावः । अस्य प्रस्थापकः क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिश्चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमगुणस्थानकाऽन्यतरगुणस्थानवर्त्ती मनुष्य एव, निष्ठापकस्तु चतुर्गतिकोऽपि भवति । यद्यायुःकर्मणः बन्धात् प्रागेव क्षायिकस्य लाभस्तर्हि नियमात्तद्भवे एव मोक्षः । यद्यायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वावाप्तिस्तदा देवनरकायुषोरन्यतरस्य बन्धे सति तृतीयभवे, असंख्येयवर्षायुष्कनरतिर्यगायुषोरेकतरस्य बन्धसद्भावे चतुर्थे भवे मोक्षः । इदं ऽऽत्मपरिणामि कर्मक्षयसंभवाऽऽत्मिकाध्यवसाययुक्तत्वादिति ।

अधुना मिश्रस्य प्रक्रमः—त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये योऽसावर्धविशुद्धः पुञ्जः स ि श्र उच्यते, सम्यग्मिथ्यात्त्वमित्यर्थः एतदुदयात् किल प्राणि जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धाति नापि निन्दति । उक्त बृहच्छतकचूर्णौ—" जहा नालिकेर-दीववासिस्स अइच्छुहियस्स वि पुरिसस्स इत्थ ओयणाइए अणेगहा विढेइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुइ न य निंदा जेण कारणेणं सो ओयणाइओ आहारे न कयाइ दिठे नावि सुओ, एवं संमामिच्छद्दिठिस्स वि जीवाइपयत्थाणं उवरिं न रुइ न य निंदा " इत्यादि

सम्प्रति सास्वादनम्—सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन सह वर्तत इति सास्वादनम् । यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीक-चित्तपुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथात्रापि गुणस्थाने मिथ्यात्त्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतस्तद्रसास्वादो भवतीतीदं सास्वादनमुच्यते । यद्वा सासादनं सहासादनेन वर्तत इति सासादनम् । अयमर्थः—औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समयमात्रशेषायामुत्कर्षतः षडावलिकाशेषायां कश्चिदासादनं गच्छेत्, सासादनभावं प्रतिपद्येत । सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखदः श्रेयसतरुबीजभूतो ग्रन्थिसम्भवौपशमिकसम्यक्त्व-लाभेऽपगच्छति, आसादनभावानन्तरं नियमात् मिथ्यात्त्वं प्रतिपद्यते

मिथ्यात्त्वं व्याख्यातपूर्वमिति गता सम्यक्त्वमार्गणा ॥ १२ ।

तथा ' सन्नि ' इति, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाक् संज्ञी, इतरोऽसंज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिः १३ ओजलोम प्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारकः, इतरोऽनाहारको विग्रहगत्यादिगतः एते सर्वेऽपि संमीलिता द्वेषष्टि-

भेदाश्चतुर्दशमूलमार्गणास्थानानां चतुरादिसंख्याका अवान्तरभेदा ज्ञातव्याः। अत्र गाथा—चउ पण छ तिय तिय चउ अड सग चउ छच्च दु छग दो दुन्नि। गइयाइमग्गणाणं इय उत्तरभेय बासट्ठी ॥ २ ॥ इत्युक्ता गत्यादिमार्गणाः ॥ ४५ ॥

अथ प्रपञ्चितमार्गणासु कस्यां कस्यां मार्गणायां मोक्षस्तत्प्रतिपिपादयिषुराह—

नरगइपणिंदितस भव--सन्नि अहक्खायखइयसम्मत्ते। मुक्खोऽणाहारकेवल--दंसणनाणे न सेसेसु॥४६॥

टीका—'नरगइ' इति, मनुष्यगति–पञ्चेन्द्रियजाति–त्रस–भव्य–संज्ञि–यथाख्यात–क्षायिकसम्यक्त्वेषु मोक्षः, घण्टालालान्यायेन देहलीदीपकन्यायेन वा मोक्षपदस्योभयत्र पूर्वार्धे उत्तरार्धे च सम्बन्धात् आहार–केवलज्ञान–केवलदर्शनेषु च मोक्षः, न शेषासु मार्गणासु इति गाथाक्षरार्थः। अथ विस्तरार्थः–अस्मिन् सिद्धव्याख्याने द्वौ नयौ विज्ञेयौ, पूर्वभावप्रज्ञापनीयः प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयश्च, पूर्वमतीतं भावं प्रज्ञापयतीति पूर्वभावप्रज्ञापनीयः। प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानं भावं प्रज्ञापयतीति प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयः। नैगमादिप्रसिद्धनयेभ्यश्च नेमौ व्यतिरिक्तौ, एतेषामेव वाचोयुक्तिभेदेन ग्रहणम्। तत्र नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराः सर्वकालार्थग्राहित्वात् पूर्वभावप्रज्ञापनीयशब्दवाच्याः। ऋजुसूत्र–शब्द--समभिरूढैवम्भूतास्तु वर्त्तमानकालार्थप्रतिग्राहित्वात् प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयशब्दवाच्या विज्ञेयाः। अत्र तु पूर्वभावप्रज्ञापनीयो नय एवोररीकृतः। तद्यथा—गतिमार्गणामाश्रित्य कस्यां गतौ मोक्षः? इति चेन्नरगत्यां न शेषासु सुरनारकतिर्यक्षु गतिषु, तत्र मोक्षसामग्रीविरहात्। एवं सर्वत्र विज्ञेयम्। जातिमार्गणायां पञ्चेन्द्रियजात्यां, त्रसमार्गणायां त्रसत्वे, भव्यमार्गणायां भव्यत्वे, संज्ञिमार्गणायां संज्ञित्वे, यथाख्यातचारित्रे च संयममार्गणायां, सम्यक्त्वमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वे, आहारमार्गणायामनाहारकत्वे अयोग्यवस्था-

यामाहारस्याऽभावात्, ज्ञानमार्गणायां केवलज्ञाने, दर्शनमार्गणायां केवलदर्शने मोक्षः। एता पूर्वोक्तास्वेव मोक्षे न शेषास्तूक्तव्यतिरिक्तभेदास्विति ॥ ४६ ॥

एवं मार्गणाद्वारेषु मोक्षसद्भावप्रतिपादनलक्षणं सत्पदम योगद्वारं वाख्याय सम्प्रति द्रव्यप्रमाणक्षेत्रसंज्ञकावद्दुयोग-द्वारावनया गाथया व्याचिख्यासुराह—

दव्वपमाणे सिद्धाणं, जीवदव्वाणि हुंतिऽणंताणि लोगस्स असंखिज्जे, भागे इक्को य सव्वे वि ।४७।

टीका—'दव्वपमाणे' इति, द्रव्याणां प्रमाणं द्रव्यप्रमाणं तस्मिन् द्रव्यप्रमाणे सिद्धाख्यप्रस्तुतद्रव्यपरिगणने चिन्त्यमाने कियन्तः सिद्धाः? इत्याह—अनन्तानि सिद्धजीवद्रव्याणि भवन्ति, संख्याताऽसंख्याताऽनन्तलक्षणसंख्यानां मध्येऽनन्त-संख्याप्रमितानि सिद्धजीवद्रव्याणि सन्ति, तत्रापि परित्तयुक्तादिभेदभिन्नं यन्नवप्रकारमनन्तं तस्मिन् मध्यमयुक्तानन्तसंज्ञोप-लक्षितायां पञ्चमाऽनन्तसंख्यायां न कदाचनाऽपि व्यभिचारः, उक्तञ्च—'जइआइ होइ पुच्छा जिणाण मग्गंमि उत्तरं तइया। इक्कस्स निगोयस्सऽणंतभागोय सिद्धिगओ ॥ १ ॥ अस्या अयमर्थः—जैनेन्द्रमार्गे यदा कदापि सिद्धजीव-द्रव्यसंख्यागोचरः प्रश्नः स्यात्तदा अयमुत्तरो यदेकस्मिन् निगोदे येऽनन्तसंख्यापरिगणिता जीवा वर्त्तन्ते तेषां मध्या-दनन्ततमांशे यानि जीवद्रव्याणि तावत्संख्याकानि मोक्षे जीवद्रव्याणि भवन्तीत्यर्थः। ननु भरतैरावतक्षेत्राऽपेक्षया उत्सर्पिणीतृतीयारकेऽवसर्पिणीचतुर्थारके च महाविदेहापेक्षया विरहकालानपेक्षं प्रत्यहं मोक्षमार्गस्य प्रवृत्तत्त्वात् कथमनन्तसंख्यायां निगोदस्याऽनन्तभागस्वरूपायां न व्यभिचारः? न च पाण्मासिक उत्कृष्टो मोक्षविरहकालेऽत्र

विभावनीय, यतो विरहकालानन्तरमपि सततं मोक्षगमनप्रवृत्तिसद्भावः प्रतिपाद्यते । सत्यं, यद्यपि प्रतिसमयं विरहकालानन्तरं वा जीवा मोक्षं प्रयान्ति तथापि मध्यमयुक्तानन्तसंज्ञकं यत् पञ्चमानन्तकं तस्याऽनन्तभेदभिन्नत्वान्न तदनन्तसंख्यायां व्यभिचारः, प्रतिसमयं वाहिनीरेणुपुञ्जपूरिताऽपि तथाप्रमाणोपेतजलधिमर्यादावत् । अपि च 'पूर्वं अनन्तसंख्याभिन्नसंख्याकाः सिद्धा आसन्' एतदपि वक्तुं न शक्यते, यतः प्रवाहापेक्षया सिद्धानामनादित्वं, यदि प्राक् सिद्धजीवा असंख्यातसंख्याका भवेयुस्तर्हि ततोऽपि प्राक् सिद्धाऽभावः प्रतिपद्यते, न चैवं प्रतिपन्नमतोऽनन्तसंख्या अव्यभिचारिणीति। सम्प्रति भागद्वारं–एकसिद्धजीवाः सर्वसिद्धजीवा वा लोकस्याऽसंख्येयतमेभागेऽवतिष्ठन्ते । यतो जघन्यतः सिद्धस्याऽवगाहना अष्टाङ्गुलाधिकैकरत्निप्रमाणा, न च द्विरत्निशरीरप्रमाणान्न्यूनावगाहनायुक्तो मोक्षं प्रपद्यते, मोक्षगमनकाले च भवे ऽहिशरीरावगाहनायास्तृतीयो भागस्संकोचमुपपद्यते, उक्तञ्च–" एगा य होइ रयणी अट्ठेव य अङ्गुलेहिं साहिया । एसा खलु सिद्धाणं जहन्न ओगाहणा भणिया ॥ १ ॥ " उत्कृष्टतस्तु तृतीयभागाधिकत्रयस्त्रिंशदुत्तरत्रिशतधनुःपरिमिता सिद्धावगाहना, यतः पञ्चशतधनुरुच्छ्रितो मुक्तिमुपपद्यते न ततोऽप्यधिकः, तृतीयभागस्तु पूर्ववत्संकोचवशान्न्यूनो भवति, तथा चोक्तं–"तिन्निसया तित्तीसा धणुत्तिभागो य कोस छ भागो । जं परमोगाहणाय तं ते कोसस्स छब्भागो ॥२॥ एवमेकसिद्धावगाहनापेक्षया जघन्योत्कृष्टाभ्यां लोकस्याऽसंख्येयतमे भागेऽवतिष्ठन्ते सिद्धाः । निखिलसिद्धावगाहनामाश्रित्य चाऽऽयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमितं क्षेत्रम्, उच्छ्रयेण तु योजनस्य चतुर्विंशतितमो भागः क्रोशस्य षष्ठो भागो वा त्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशदुत्तरत्रिशतधनुः प्रमाण इति यावत् । एषोऽपि सर्वसिद्धापेक्षोऽवगाहो लोकस्याऽसंख्येयभा-

गाऽवच्छिन्नः । सिद्धाश्च निःशेषा अप्युपरिष्टादलोकाकाशप्रदेशैस्स्पृष्टाः समश्रेणिगताः, अधस्ताद्यथावगाहमुच्चावचा अपीति क्षेत्रद्वारम् । स्थापना— ॥। ।॥ । ॥ ४७ ।

अधुना स्पर्शनाद्वारम्—

फुसणा अहिया कालो, इगसिद्ध पडुच्च सइअणंतो । पडिवायाऽभावाओ, सिद्धाणं अंतरं नत्थि ४८

टीका—'फुसणा' इति । स्पर्शना अधिका, अवगाहनापेक्षया स्पर्शना अधिकेत्यर्थः ननु स्पर्शनावगाहनयोः कः प्रतिविशेषः ? येनाऽवगाहनातः स्पर्शनाया आधिक्यमुच्यते ? सत्यं, अवगाहना तु निजावगाहन्या सलक्षणा, यत्र यत्रावगाहस्तत्राऽऽत्मप्रदेशा नियमेन भवन्ति, यत्राऽऽत्मप्रदेशास्तत्र अवगाहनाऽपि भवत्येव, स्पर्शनायां न तथात्वम्, आत्मप्रदेशावगाढभिन्नाकाशप्रदेशानामाकाशप्रदेशस्थितपुद्गलादीनां च समन्ततः स्पर्शनायाः सद्भावात् । अथ कालद्वारम्—'इगसिद्ध पडुच्च साइओणंतो' इति, एकसिद्धं प्रतीत्य कालस्य साद्यनन्तत्वम्, यदा च विवक्षितजीवस्य सिद्धत्वं समुपजातं तदा सादिः, अथ न कदाचिदपि ततः तस्य प्रच्युतिरित्यनन्तत्वम् । अनेकसिद्धाऽपेक्षया अनाद्यनन्तत्वं, तच्च यथावसरं प्राक् परिभावितमितिनाऽत्र चेतन्यते । गतं कालद्वारं, सम्प्रतिरन्तरद्वारम्—'पडिवायाऽभावाओ सिद्धाणं अंतरं नत्थि' इति प्रतिपाताऽभावात् सिद्धानामन्तरं नास्ति, क्षयोपशमप्रमुखसम्यक्त्वलाभानन्तरं मिथ्यात्वोदयापेक्षे मिथ्यात्वप्राप्तिपूर्वकः सम्यक्त्वभ्रंशो भवति, अथ तद्भ्रंशाऽनन्तरं पुनर्जघन्यत उत्कृष्टतश्च कियत्कालानन्तरं तत्सम्यक्त्वगुणलाभः ? इति यत् कालनियमनं तदन्त-

रमिति, तद्गुणनाशाऽनन्तरं पुनस्तद्गुणावाप्तौ जघन्योत्कृष्टभेदाभ्यां यावान् कालस्तदन्तरमित्यर्थः । सिद्धभगवतां सिद्धत्वं न प्रतिपाति, 'सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति' इत्यत्र अणंतादिपाठदर्शनात्, यदा च सिद्धत्वस्य प्राप्तिस्तदा सादिः, प्राप्त्यनन्तरं प्रच्युत्यभाव इति साद्यनन्ता स्थितिः सिद्धानां, सा च प्राक् प्रतिपन्नैव, अतः सिद्धानामन्तरं नास्तीतिगम्यते । अनेन 'स्वस्वतीर्थनिकारं दृष्ट्वा तीर्थोद्धारकरणार्थं पुनरपि लोके समागच्छन्ति सिद्धाः' इत्येवं प्रतिपन्नानां मतं रागद्वेषप्रमुखबहुदोषदुषितत्वादपास्तं द्रष्टव्यम् ॥ ४८ ॥

अन्तरद्वारानन्तरं भागभावद्वारं प्रतिपिपादयिषुराह–

सव्वजीयाणमणंते भागे ते तेसिं दंसणं नाणं । खइए भाव परिणामिए अ पुण होइ जीवत्तं ॥४९॥

टीका–'सव्वजीयाणं' इति, ते प्रागुक्तस्वरूपाः सिद्धाः सर्वजीवानामनन्ततमे भागे विद्यन्ते, अत्राऽयमाशयः–चतुर्दशरज्जुपरिमिते लोके या जीवसंख्या मध्यमाऽनन्ताऽनन्तसंज्ञकाष्टमाऽनन्तप्रमाणा तदपेक्षया सिद्धाः कतिथे भागे वर्त्तन्त इति शिष्याशङ्कां मनसि निधाय उक्तं–ते सर्वे निखिला अपि सिद्धा न तु द्वित्राः पञ्चषा वा सर्वजीवानामनन्ततमे भागेऽवतिष्ठन्त इति। ननु क्षेत्रद्वारभागद्वारयोः कः प्रतिविशेष इति चेदुच्यते–क्षेत्रद्वारं तु लोकाकाशाऽपेक्षम्, भागद्वारं सकलजीवराशिनिश्रितमिति विशिष्टो भेदः, तात्पर्यं तु सिद्धाः पञ्चमाऽनन्तसंख्याप्रमिताः, सर्वजीवा अष्टमाऽनन्तसंख्यापरिकलिताः, अतः सिद्धापेक्षया सर्वजीवा अनन्तगुणाः, सर्वजीवाऽपेक्षया सिद्धा अनन्ततमभागाऽवच्छिन्ना इति भागद्वारम् । सम्प्रति भावद्वारम्–ननु भाव इति कः पदार्थः? इति चेत् प्रथमं भावानां संक्षेपतो निरूपणं विधीयते–औपशमिकः, क्षायिकः, क्षायोपशमिकः,

औदयिकः, पारिणामिकश्चेति पञ्चभावाः। विशिष्टहेतुभिः स्वतो वा ज्वानां तत्तपद्रूतया भवनानि भवन्त्येभिरूपशमादिभिः पर्यायैरिति वा भावाः, भवनं भावस्तेन तेन पर्यायेणाऽऽत्मलाभ इत्यर्थः। तत्रोपशमनमुपशमः कर्मणोऽनुदयलक्षणावस्था भस्मपटलाऽवच्छन्नाग्निवत्, सः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकस्तेन वा निर्वृत्तः औपशमिकश्चासौ भाव औपशमिकभावः, कर्मण उपशमाद् यद् दर्शनं चरणं वा श्रद्धानलक्षणं विरतिलक्षणं वा तथोद्भवति तदौपशमिकशब्देनोच्यते, एवमग्रेऽपि भाव्यम्। क्षयः कर्मणोऽत्यन्तोच्छेदः, स एव तेन वा निर्वृत्तः क्षायिकः। क्षयोपशमाभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः दरविध्यातावच्छन्नज्वलनवत्। यदुदयावलिकाप्रविष्टं तत् क्षीणं शेषमनुद्रेकक्षयावस्थम्, इमामुभयीमवस्थामाश्रित्य क्षायोपशमिकः प्रजायते ननु चाऽयमेवौपशमिकान्न भिद्यते यतस्तत्राप्युदितं क्षीणमनुदितं चोपशान्तमिति। अत्रोच्यते—क्षयोपशमे ह्युदयेऽप्यस्ति, प्रदेशतया कर्मणो वेदनानुज्ञानात्, नत्वसावुदयो विघातायेति, अनुभाववेदनाऽभावात्, उपशमे तु प्रदेशकर्माऽपि नानुभवति मनागपि नोदयोऽयं विशेष इति यावत्। आगमश्चायम्—से णूणं भंते! णेरइयस्स वा तिरिक्खजोणियस्स वा मणुसस्स वा जे कडे कम्मे णत्थि णं तस्स अवेइत्ता मोक्खो? हंता गोयमा! से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ? एवं खलु गोयमा! मए दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तंजहा-पदेसकम्मे अणुभावकम्मे य, तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ, तत्थ णं जं तं अनुभावकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ, णायमेयं अरहता विण्णायमेयं अरहता—अयं जीवे इमं कम्मं अज्झोवगमियाए वेयणाए वेदिस्सति, अयं जीवे इमं कम्मं उवक्कमियाए वेयणाए वेदिस्सति अहाकम्मं अहाकरणं जहा जहा तं भगवया दिट्ठं तहा तहा विपरिणमिस्सतीति, से तेणं अट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति" अतोऽस्ति विशेष औपशमिकक्षायोपशमिकयोरिति उदयः शुभा-

शुभप्रकृतीनां विपाकतोऽनुभवनं स एव तेन वा निर्वृत्त औदयिकः । परिसमन्तान्नमनं जीवानामजीवानां च जीवत्वादि-
स्वभावानुभवनं प्रति प्रह्वीभवनं परिणामः, स एव तेन वा निर्वृत्तः पारिणामिकः । तत्रौपशमिकस्य द्वौ भेदौ, औपशमिक-
सम्यक्त्वं औपशमिकचारित्रञ्च, द्वावपि दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मोपशमसंभवाविति । क्षायिके भावे नव भेदा भवन्ति, केवल-
ज्ञानकेवलदर्शनक्षायिकसम्यक्त्वयथाख्यातचारित्रदानादिपञ्चलब्धयः क्रमेण केवलज्ञानावरणीयकेवलदर्शनावरणीयदर्शन-
मोहचारित्रमोहान्तरायपञ्चकक्षयजन्याः । तृतीये क्षायोपशमिके भावेऽष्टादशभेदा मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायाऽऽत्मकज्ञान-
चतुष्टयमत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानविभंगज्ञानरूपाऽज्ञानत्रिकच रचक्षुरवधिदर्शनलक्षणदर्शनत्रिकस्वरूपा दशोपयोगाः दानलाभभोगो-
पभोगवीर्यलक्षणाः पञ्च सलब्धयः म्यक्त्वं देशविरतिसर्वविरतिलक्षणं विरतिद्विकञ्चेतिलक्षणास्तत्तत्कर्मणां क्षयोपशमप्रादुर्भूता
इति । ननु दानादिलब्धयः पूर्वं क्षायिकभाववर्त्तिन्य उक्ताः, इह तु क्षायोपशमिक्य इति कथं न विरोधः? नैतदेवम्,
अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह दानादिलब्धयो द्विविधा भवन्त्यन्तरायकर्मणः क्षयसंभविन्यः क्षयोपशमसंभविन्यश्च, तत्र
च याः क्षायिक्यः पूर्वमुक्तास्ताः क्षयसंभूतत्वेन केवलिन एव, याः पुनरिह क्षायोपशमिकान्तर्गता उच्यन्ते ताः क्षयो-
पशमसंभूताश्छद्मस्थानामेव । सम्यक्त्वसर्वविरती अपि क्षायोपशमिके अत्र ग्राह्ये, ते च क्षयोपशमोद्भवत्वेन प्रस्तुतभावे एव
वर्त्तेते । देशविरतिरप्यप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमजत्वेन क्षायोपशमिके वर्त्तते एवेति भावः ॥ अज्ञानं, असिद्धत्वं, असंयमः,
लेश्याः कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लभेदात् षट्, कषायाः क्रोधमानमायालोभाख्याश्चत्वारः, गतिर्नरकतिर्यङ्मनुष्यसुरग-
तिभेदाच्चतुर्द्धा, वेदाः स्त्रीपुंनपुंसकाख्यास्त्रयः, मिथ्यात्वमित्येते एकविंशति भेदास्तुर्ये औदयिके भावे भवन्ति । अत्राऽयं

भावार्थः—इहासदध्यवसायात्मकं सज्ज्ञानमप्यज्ञानं, तच्च मिथ्यात्वोदयजमेव । यदभ्यधायि—' जह दुवयणमवयणं कुच्छियसीलं असीलमसईए । भन्नइ तह नाणं पिहु मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ १ ॥ ' असिद्धत्वमपि सिद्धत्वाऽभावरूपमष्टप्रकारकर्मोदयजमेव । असंयमोऽविरतत्वं, तदपि प्रत्याख्यानावरणोदयाज्जायते लेश्यास्तु येषां मते कषायनिष्यन्दो लेश्या तन्मतेन कषायमोहनीयोदयजत्वादौदयिक्यः, यन्मतेन तु योगपरिणामो लेश्या तदभिप्रायेण योगत्रयजनककर्मोदयप्रभवाः, येषां त्वष्टकर्मपरिणामो लेश्यास्तन्मतेन संसारित्वाऽसिद्धत्ववदष्टप्रकारकर्मोदयजा इति । कषायाः क्रोधमानमायालोभरूपा मोहनीयकर्मोदयादेव भवन्ति । इह गतयो गतिनामकर्मोदयादेव नारकत्वतिर्यक्त्वमनुजत्वदेवत्वलक्षणपर्याया जायन्त इति वेदाः स्त्रीपुंनपुंसकाख्या नोकषायमोहनीयोदयादेव जायमानाः स्पष्टमौदयिका एवेति मिथ्यात्वमप्यतत्त्वश्रद्धानरूपं मिथ्यात्वमोहनीयोदयजमेवेत्यौदयिकं प्रतीतमिति । ननु निद्रापंचकसातादिवेदनीयहास्यरत्यरतिप्रभृतयः प्रभूततरभावा अन्येऽपि कर्मोदयजन्याः सन्ति तत् किमित्येतावन्त एवैते निर्दिष्टाः ? सत्यम्, उपलक्षणत्वादन्येऽपि द्रष्टव्याः, केवलं पूर्वशास्त्रे प्राय एतावन्त एव निर्दिष्टा दृश्यन्त इत्यत्राप्येतावन्त एवास्माभिः प्रदर्शिताः तथा भव्यत्वमभव्यत्वं जीवत्वमित्येते त्रयो भेदाः पारिणामिके भावे भवन्ति । तदेवं द्विभेद औपशमिको भावः, नवभेदः क्षायिकः, अष्टादशभेदः क्षायोपशमिकः, एकविंशतिभेद औदयिकः, त्रिभेदः पारिणामिकः । सर्वेऽपि भावप्रभेदास्त्रिपंचाशदिति । एषां भावानां मध्ये सिद्धाः कस्मिन् कस्मिन् भावे वर्त्तन्ते तदुच्यते—' तेसिं दंसणं नाणं खइए भावे परिणामिए अ पुण होइ जीवत्तं ' तेषां सिद्धानां दर्शनं ज्ञानं उपलक्षणात् सम्यक्त्वं चारित्रं वीर्यं क्षायिके भावे सन्ति, अयमर्थः—ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयदर्शनमोहचारित्र-

मोहवीर्यान्तरायक्षयप्रभवत्त्वादेतानि ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रवीर्याणि क्षायिकानि भवन्तीत्यर्थः । न च शेष भवोपग्राहिकर्मक्षयोद्भूतत्वात् अनन्तसुखाऽक्षयस्थितिप्रमुखाणां गुणानामपि क्षायिकत्वं वाच्यमिति, क्षायिकत्वेऽपि तेषां क्षायिकत्वव्यवहाराऽभावात् । जीवत्वं च पुनस्तेषां सिद्धिवधूसङ्गशालिनां मुक्तानां पारिणामिके अनादिपारिणामिके भावे भवतीति भावद्वारम् ॥ ४९ ।

अथाल्पबहुत्वद्वारं वैवरिपुर्गाथां निबध्नाति—

थोवा नपुंससिद्धा, थीनरसिद्धा कमेण संखगुणा। इअ मुक्खतत्तमेयं, नवतत्ता लेसओ भणिया । ५०

टीका—' थोवा ' इति, नपुंसकलिङ्गसिद्धा सर्वस्तोकाः, स्त्रीलिङ्गसिद्धाः पुरुषलिङ्गसिद्धाश्च क्रमेण संख्यगुणाः, इदमत्र हृदयम्—एकसमय उत्कृष्टतो नपुंसकलिङ्गे वर्त्तमाना दश सिद्ध्यन्ति, स्त्रीलिङ्गे वर्त्तमानास्ततो द्विगुणा विंशतिरित्यर्थः, पुरुषलिङ्गोपेताश्चाऽष्टाधिकशतसंख्याका एकस्मिन् समये सिद्ध्यन्तीत्युत्तरोत्तरं संख्यातगुणत्वमविरुद्धम् । न च लिङ्गसद्भावे कथं मोक्षावाप्तिरिति शङ्कनीयं, वेदोदयलक्षणलिङ्गस्य अनिवृत्तिबादरान्ते व्यवच्छेदेऽपि लिङ्गाकृतेरयोगिगुणस्थानकं यावत् सद्भावात् । ननु नपुंसकानां कर्मक्षयलक्षणो मोक्षः कथमवाप्यते ? नपुंसकानां मोक्षावाप्तेः प्रतिषेधश्च सिद्धान्ते श्रूयते, सत्यम्—षोडशभेदभिन्नानां निखिलानामपि नपुंसकानां न प्रतिषेधः किन्तु तेषु ये दश भेदा जातिनपुंसकानां तेषां निषेधः, न तु षड्भेदभिन्नानां कृत्रिमनपुंसकानामिति । जातिनपुंसकानां तीव्रमोहोदयसद्भावत्वात् सर्वविरतेरप्यसम्भवः, कुतो मोक्षस्य कथा ? कृत्रिमानां तु मंत्रौषधिमहर्षिदेवादिशापनिमित्तोपहतवेदानां न जातिनपुंसकानामिव नगरदाहतुल्यो वेदोदयः, केवलं केनाऽपि पूर्वोक्तकारणेन पुरुषवेदस्योपहतत्वात् पुरुषवेदोदयाऽभावेनैव ते नपुंसकाः प्रोच्यन्ते,

वेदोदयस्तु तेषां पुरुषवेदोदयाऽपेक्षयाऽपि मन्दः, अतः कृत्रिमाणां सर्वविरतिपूर्वकमोक्षावाप्तौ न किञ्चिदविरुद्धम् । एतच्च
विशेषतो निशीथादिभ्योऽवसेयमिति । एवं सत्पदप्ररूपणा–द्रव्यप्रमाण–क्षेत्र–स्पर्शना–कालाऽन्तर–भाग–भावा–ऽल्पबहुत्त्व-
द्वारैस्संक्षेपतो मोक्षतत्त्वं व्याख्यायाधुनोपसंहरन्नाह 'इअ मुक्खतत्तमेअं' इति, एतन्मोक्षतत्त्वमिति, न च पूर्वोक्तद्वारैरेव
मोक्षस्य व्याख्येति विज्ञेयं, अन्येऽपि मोक्षव्याख्याप्रकारास्सन्त्येव । प्राग्व्यावर्णितोऽनुयोगश्च मोक्षसद्भावप्रतिपादनपरः,
परं मोक्षस्य किं लक्षणं ? कथञ्च तस्याऽवाप्तिरित्येतन्निखिलमपि उपदेष्टाद्विज्ञेयमतः संक्षेपतो विभाव्यते किञ्चिद्–' मोक्खो
कम्माऽभावो ' ' कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः ' इत्यादिवचनात् कर्मणां निखिलानां योऽभावस्स मोक्षः । न च प्रतिसमयं कर्मण
उदयाऽविनाभावित्त्वादुदयसहचारिसकामाकामनिर्जरापूर्वककर्मक्षयमाश्रित्य सर्वेष्वपि सत्त्वेषु मोक्षोऽस्त्वेवेति वाच्यम्, यत
उक्तप्रकारेण तत्तत्कर्मक्षयसद्भावेऽपि अन्येषां प्रभूततरकर्मस्कन्धानां बध्यमानत्त्वान्न मोक्षो सकलेष्वपि जीवेषु अतो निखि-
लानां कर्मणां प्रध्वंसाऽभावः स मोक्षः । नन्वनेकेषु शास्त्रेषु जीवकर्मणोरनादिसंयोगः प्रतिपादितः, कथमनादिसंयोगवतोस्त-
योर्वियोग आत्यन्तिकः ? सत्यं, यथा धनोपलयोरनादिसंयोगे सत्यपि खानिबहिःकर्षण–सुवर्णकारादिप्रयुक्तज्वलितज्वल-
नादिभिः प्रयोगैः सुवर्णादुपलस्य वियोगो आबालजनप्रसिद्धस्तथा भव्यजीवानामपि अव्यवहारराशेर्व्यवहारराशावागतानां
सुवर्णकारोपमशुद्धगुर्वादिसंयोगावाप्तसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रज्वलितज्वलनानां कर्मण आत्यन्तिकक्षये न काचिद्विप्रतिपत्तिरिति।
एवंभूतश्च मोक्षः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसाध्यः। तत्प्रतिपत्तिक्रमस्याऽयं संक्षेपः–प्राग्व्याख्यातप्रक्रमेण क्षायोपशमिक-

१ सैद्धान्तिककार्मग्रन्थिकमतेनानादिमिथ्यादृष्टेरौपशमिकक्षायोपशमिकसम्यक्त्वान्यतरसम्यक्त्वयोः प्रथमलाभापेक्षया सत्यपि

सम्यक्त्वपूर्वकं क्षायिकसम्यक्त्वमुपलभ्य शतसहस्रपृथक्त्वसागरोपमैर्लघुभूतासु कर्मस्थितिषु क्रमेण देशसर्वविरतिलाभमुपगम्य क्षायिकभावापन्नं यथाख्यातचारित्रं संप्राप्तुकामोऽल्पतरकर्मा क्षपकश्रेणिं समारभते । तत्राऽपूर्वकरणसंज्ञकाष्टमगुणस्थाने स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसङ्क्रमादिभिर्विशिष्टक्रियासम्भारैस्समुपजाताऽजेयशक्तिकोऽनिवृत्तिबादराख्यनवमगुणस्थाने नपुंसकवेदस्त्रीवेदाऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकपुंवेदहास्यषट्कसञ्ज्वलनक्रोधसञ्ज्वलनमानसञ्ज्वलनमायाबादरसञ्ज्वलनलोभाख्यकर्मप्रकृतीनां क्रमेणाऽन्तर्मुहूर्त्तान्तः क्षयं विधाय सूक्ष्मसम्परायेपाह्वे दशमे गुणस्थानके किट्टिकृतसूक्ष्मलोभमपि समूलकाषं हत्वा क्षपकानामुपशान्तमोहस्य गुणस्य प्रयोजनाऽभावात् क्षीणमोहगुणे अन्तर्मुहूर्त्तं यावत् विश्राम्यति । क्षीणमोहान्त्यसमयेऽवशिष्टानां ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां त्रयाणां घातिकर्म्मणां क्षये समुपजाते त्रयोदशगुणस्थानकाद्यसमये केवलज्ञानं केवलदर्शनं च सामान्यविशेषाभ्यां समस्तलोकालोकविषयावभासकं संप्राप्नोति । उक्तञ्च वाचककुलकिरीटैरुमास्वातिपूज्यैः;–" मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् " । यैश्चार्हदादिविंशतिस्थानकपदाराधनतस्तृतीयभवे तीर्थकरनामप्रकृतिर्निकाचिता तेषां केवलज्ञानदर्शनप्राप्तिसमकालमेव तीर्थकरनाम्नो विपाकोदयो सञ्जायते, तत्प्रभावाच्च कृतार्थोऽपि सन् सुरासुरविरचितसमवसरणे विराजमानो योजनगामिनीं भव्यनिवहोपकारिणीं सुधास्यन्दिनीं पञ्चत्रिंशत्गुणोपसेवितां देशनां प्रदत्ते, चतुस्त्रिंशदतिशयाश्च प्रादुर्भवन्ति । तीर्थकरश्च गणधरादिस्थापनापूर्वकं चतुर्विधसङ्घलक्षणं तीर्थं

विसंवादे क्षायिकावाप्तिस्तु क्षयोपशमपूर्विकैवेत्युभयोरपि संमतम् । २ क्षपकश्रेणिस्वरूपं तु सविस्तरं शतकादिभ्योऽवसेयं, अत्र त्वंगुलिनिर्देशमात्रमिति ।

प्रवर्त्तयति,–तदेव च तीर्थकरनामकर्मविपाकस्य फलं, यदुक्तम्;–"तीर्थप्रवर्त्तनफलं यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम तस्योदयात्कृतार्थोऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति । १ ॥ तत्स्वाभाव्यादेव हि, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकं । तीर्थप्रवर्त्तनाय, प्रवर्त्तते तीर्थकर एवम् ॥ २ ॥" यैश्च तीर्थकरलब्धिर्नाते ततृतीयभवे निकाचिता ते सामान्यकेवलित्वेन केवलज्ञानादिलब्धिमुपभुञ्जानाः सुवर्णसहस्रपत्रकमलादिषु निषण्णा देशनादिकं विदधते केवलज्ञानकेवलदर्शनप्रमुखलब्धीन भयत्र साम्येपि आईश्वर्यादिषु महदन्तरं कोटिध्वजेभ्यकोटिध्वजभूपयोरिवेति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिं यावत्तत्र स्थित्वा भवोपग्राहिकर्म्मणां मध्ये आयुष्यस्थितेर्वेदनीयप्रमुखकर्मस्थितेश्च वैषम्यं स्यात्तदा तत्समीकरणार्थमष्टसामयिकं केवलिसमुद्घातमुपक्रमते । केवलिसमुद्घातप्रथमसमये स्वशरीरादात्मप्रदेशान् बहिर्निष्कास्य आयामविष्कम्भाभ्यां स्वशरीरप्रमाणमुच्चत्त्वेन च चतुर्दशरज्जुपरिमितं दंडाकारतया रचयति, द्वितीये समये पूर्वापरायतलोकप्रमाणं कपाटमात्मप्रदेशानां विदधाति, तृतीये उत्तरदक्षिणायतलोकप्रमाणं कपाटं (मन्थानं) विरचयति, चतुर्थे समये अन्तरपूरणं विधत्ते, पञ्चमे समये अन्तरदेशं रिक्तीकरोति, ` उत्तरदक्षिणायतकपाटाकाराऽऽत्मप्रदेशानां संकोचः, मे क्षणे पूर्वपरायतकपाटस्य रिक्तीभवनं, अष्टमे च समये दण्डाकारगतात्मप्रदेशानामपि संकोचात् स्वस्थानावस्थानमिति एवं पूर्वोक्तप्रकारेण केवली भगवान् स्वात्मप्रदेशानां चतुर्भिस्समयैः प्रसारणप्रयोगात् विषमस्थितिकान् कर्मलेशान् समीकृत्य अभिहितरीत्या चतुर्भिस्समयैर्निवर्त्तते यदाह वाचकमुख्यः;—' दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु । १ संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे सप्तमे तु कपाटं,

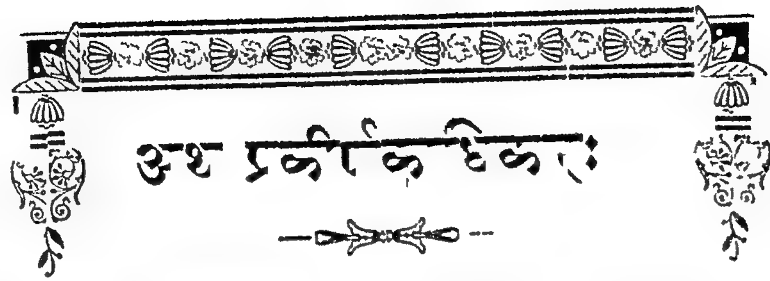
संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ २ ॥' केवली समुद्घातञ्च कुर्वाणः प्रथमाऽन्तिमसमययोरौदारिकयोगी स्यात्, द्विपट्सप्तमकेषु तु औदारिकमिश्रकाययोगी भवेत्, तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु च केवलं कार्मणकाययोगी, तत्र च तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वनाहारकस्स्यात्। यदाह—'औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः। मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ १ ॥ कार्मणशरीरयोक्ता चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च। समयत्रये च तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥ २ ॥' केवलिसमुद्घाताऽनन्तरं शैलेशीकरणं सम्प्राप्तुकामः सयोगिगुणान्तिमान्तर्मुहूर्त्ते योगनिरोधार्थं यतते—तत्र पूर्वं तावत् बादरे काययोगे स्थित्वा बादरौ वाङ्मनोयोगौ सूक्ष्मत्वं नयति, ततः सूक्ष्मे वाग्योगे क्षणं स्थित्वा बादरं काययोगं सूक्ष्मत्वं प्रापयति, अनन्तरं पुनः सूक्ष्मकाययोगे क्षणं स्थितिं विधाय सूक्ष्मौ वाङ्मनोयोगौ निरुणद्धि, पश्चात् स्वयमेव सञ्जातं सूक्ष्मकाययोगनिरोधमतीत्य शैलेश्यवस्थां प्राप्नोति। शैलेश्युपान्त्यसमये देहपञ्चकबन्धनपञ्चकसंघातनपञ्चकाङ्गोपाङ्गत्रिकसंस्थानषट्कवर्णपंचकरसपंचकसंहननषट्कस्पर्शाष्टकगन्धद्विकनीचैर्गोत्राऽनादेयदुर्भगागुरुलघूपघातपराघातनिर्माणापर्याप्तोच्छ्वासाऽयशःकीर्त्तिविहायोगतिद्विकशुभाशुभस्थिराऽस्थिरदेवगतिदेवानुपूर्वीप्रत्येकसुस्वरदुःस्वरैकतरवेद्यलक्षणा द्वासप्ततिः कर्मप्रकृतयः क्षयमुपयान्ति, अन्त्ये च समये एकतरवेद्यादेयपर्याप्तत्रसबादरमनुष्यायुर्मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीसौभाग्योच्चैर्गोत्रपञ्चेन्द्रियजातितीर्थकरनामरूपाणां त्रयोदशानां प्रकृतीनां क्षये जाते भवोपग्राहिकर्मणामपि विच्छेदाल्लब्धसिद्धत्वपर्यायो विगतजातिजरामरणश्चिद्रूपो भगवान् प्रदेशान्तरं समयान्तरं चास्पृशन् तत्रैव समये लोकान्तवर्त्तिनीं सिद्धशिलां समुपयाति। पञ्चास्तिकायसमुदायाऽऽत्मकलोकस्याग्रभागे ईषत्प्राग्भारा नाम्नी तुहिनशकलोज्ज्वला उत्तानच्छत्रकाकृतिर्वसुधाऽस्ति, तस्याश्चोपरि

योजनमेकं लोकः, तस्याऽधस्तनक्रोशत्रयं हित्वा तुरीयक्रोशस्य उपरितने षष्ठभागे त्रयस्त्रिंशदुत्तरधनुस्त्रिशते सम्मिते धनुस्त्रिभागाधिक्ये यो लोकान्तशब्दस्य सैद्धान्तिकोपचारस्तत्र मुक्तात्मा व्रजति न परतः, परतो धर्मास्तिकायस्य गतिसहायकस्याऽभावात्। ननु क्षपितनिरवशेषकर्मराशेर्निरस्तकायवाङ्मनोयोगस्य कथं लोकान्तप्राप्तिर्भवति ? योगाऽभावादक्रियत्त्वादात्मन इति चेदुच्यते;—यथा हस्तदण्डचक्रसंयोगात् पुरुषप्रयत्नतश्चाविद्धं कुलालचक्रं पुरुषप्रयत्नहस्तदण्डचक्रसंयोगेषूपरतेष्वपि पूर्वप्रयोगाद् भ्रमत्येव प्रयत्नजन्यसंस्कारपरिक्षयं यावत्, एवं शैलेश्यवस्थायां जनितो यः पूर्वप्रयोगस्स एव क्षीणे कर्मण्यपि लोकान्तगमनहेतुर्भवति। अथवा पुद्गलानां जीवानां च गतिमत्त्वमुक्तं, नान्येषां द्रव्याणाम्। तत्राधोगौरवधर्म्माणः पुद्गलाः, ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवाः। यथा सत्स्वपि प्रयोगादिषु गतिकारणेषु जातिनियमेनाधस्तिर्यगूर्ध्वं च स्वाभाविक्यो लोष्ठवाय्वग्नीनां गतयो दृष्टास्तथा कर्मसङ्गविनिर्मुक्तस्य ऊर्ध्वगौरवादूर्ध्वमेव सिध्यमानगतिर्भवति, संसारिणां तु कर्मसङ्गादधस्तिर्यगूर्ध्वञ्चेति। अथवा यथा बीजकोशबन्धनच्छेदादेरण्डबीजादीनां गतिर्दृष्टा तथा कर्मबन्धनच्छेदात् सिध्यमानगतिरालोकान्तमविरुद्धा। अथवा सर्वकर्मविनिर्मुक्तस्यास्य विगतयोगस्याऽपि तथैव गतिपरिणामो भवति येन लोकान्तं यावदेकेनैव समयेन व्रजति। उक्तं च—'पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः' [तत्त्वा० अ० १० सू-६], तथा च 'तदनन्तरमेवोर्ध्व—मालोकान्तात् स गच्छति। पूर्वप्रयोगासङ्गत्व—बन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥ १ ॥ कुलालचक्रदोलायामिषौ चाऽपि यथेष्यते। पूर्वप्रयोगात् कर्मेह तथा सिद्धिगतिः स्मृता ॥ २ ॥ मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद् यथा दृष्टाऽप्स्वलाबुनः। कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात् तथा सिद्धिगतिः स्मृता ॥ ३ ॥ एरण्डयंत्रपेडासु बन्धच्छेदाद् यथागतिः। कर्मबन्धनविच्छेदात्

सिद्धस्याऽपि तथेष्यते ॥ ४ ॥ ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः । अधोगौरवधर्म्माणः पुद्गला इति नोदितम् ॥ ५ ॥ यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्ठवाय्वग्निर्वृतयः । स्वभावतः प्रवर्त्तन्ते, तथोर्ध्वं गतिरात्मनाम् ॥ ६ ॥' इत्यादि । एवं ज्ञानदर्शनचरणस्वभाव ऊर्ध्वगौरवधर्माऽप्ययं जीवोऽष्टविधकर्ममृत्तिकोपरागरक्तो मृत्तिकालिप्ताऽलाबु इव संसारमहार्णवे निमग्नो रागद्वेषतरंगसंततिप्रयुक्तश्चाधस्तिर्यगूर्ध्वं गत्या गत्यन्तरं परिभ्रमन् तथाभव्यत्वपरिपाकवशंगतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशुद्धचारिवेगासेकापगतकर्म्माष्टकमृत्तिकालेपो विगतमृदावरणालाबुवदूर्ध्वगौरवधर्मात् संसारमहोदधेःपरस्ताद्वर्त्तमानं लोकान्तं व्रजन् साद्यनन्तकालं यावत् शिववधूसङ्गसेवाहेवाको भवतीति मोक्षतत्त्वम् । एतदेवोपसंहारेण भावितं 'इय मुक्कतत्तमेयं' एतन्मोक्षतत्त्वमिति । गते च मोक्षतत्त्वे जीवाजीवपुन्यपापाश्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाख्यानि नवान्यपि तत्त्वानि यथामति प्रतिपादितानीत्येतत्प्रदर्शयितुमाह 'नवतत्ता लेसओ भणिया' इति, प्राग्वर्णितस्वरूपाणि नवतत्त्वानि 'प्राकृतवशाल्लिङ्गविपरिणामः' लेशतः संक्षेपतो भणितानि आगमानुसारेण प्रतिपादितानीत्यर्थः ॥ इति मोक्षतत्त्वम् ॥

उक्त्वा मोक्षं तत्त्वं यदलाभि मं मयाल्पमतिकेन तेन व्रजन्तु मोक्षं भव्याः प्रक्षीणकर्मांशाः ॥ १ ॥

इत्याराध्यपादाऽऽचार्यवर्यश्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वरविनेयावतंसोपाध्यायपदालङ्कृतश्रीमत्प्रतापविजयगणिवरचरणाब्जचञ्चरीकप्रवर्त्तकमुनिश्रीधर्मविजयविरचितायां श्रीनवतत्त्वसुमङ्गलाटीकायां नवमं मोक्षतत्त्वं समाप्तम् ॥



अथ प्रकीर्णकः



अर्हत्सिद्धमुनीशपाठकयति-श्रद्धानज्ञानव्रतं, संयुक्तं तपसा च यन्नवपदं श्रीसिद्धचक्राऽभिधम् ।
यस्मिन् द्वित्रिचतुर्विधा च त्रितयी यत्सेवयाऽवाप शं, श्रीश्रीपालनरेश्वरस्समदनस्तस्मात्तदाराध्यताम् ।१।

एवं जीवाऽजीवादीनि नवान्यपि तत्त्वानि व्याख्याय संप्रति तत्त्वावबोधस्य किं फलमिति प्रदर्शयिषया आह—

जीवाइनवपयत्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं । भावेण सद्दहंतो अयाणमाणेऽवि सम्मत्तं । ५१

टीका;—‘ जीवाइनवपयत्थे ’ इति, जीवादिनवपदार्थान् जीवाऽजीवपुन्यपापाऽऽश्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षनाम्ने नवपदार्थान् यो जानाति लक्षणविधानाभ्यां तत्तत्तत्त्वस्वतत्त्वमवगच्छति तत्त्वावबोधसंपन्नाऽऽत्मा भवतीत्यर्थः तस्य सम्यक्त्वं निःश्रेयसतरुबीजं प्रशमसंवेगनिर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्यानुगम्यं स्यादिति । ननु केपाञ्चिन् माषतुषप्रमुखाणां ज्ञानावारककर्म-

१ ‘ मुनीश ’ इति शब्देन मुनीनामीश आचार्यो विज्ञेयः ।

दयवतां तत्त्वज्ञानाऽभावेऽपि शमसंवेगादिलक्षणैः सम्यक्त्वादिलाभाः सिद्धान्ते श्रूयन्तेऽतः कथं प्रतिपाद्यते जीवादिपदार्थान् जानाति तस्य सम्यक्त्वं स्यादित्यत आह–' भावेण सद्दहंतो अयाणमाणेऽवि सम्मत्तं ' इति, ज्ञानावरणीयोदयात्तत्त्वज्ञानाऽभावेऽपि तत्त्वभूतान् पदार्थानजानन्नपि भावेनाऽऽत्माभिप्रायेण न तु वाक्सौष्ठवमात्रेण तत्त्वानि श्रद्दधान आवारककर्मोदयात् प्रज्ञाया वैकल्येऽपि ' जं जिणेहिं पन्नत्तं तमेव निस्संकं सच्चं ' इति प्रतिपद्यमानः सम्यक्त्वमर्जयति। अनेनैतद्विज्ञायते यत् श्रुतमधीयानस्याऽध्ययनादिकारणात् क्वचिदधिगमसम्यग्दर्शनलाभः, क्वचिच्च सम्यक्त्वलाभात्तत्त्वाववोधः। न च प्रथमपक्षे सम्यक्त्वलाभात् प्रागज्ञानभावमाश्रित्य नाऽज्ञानात्सम्यक्त्वमिति वाच्यम्, यतस्सत्यपि सम्यक्त्वप्राग्भाविन्यज्ञाने तथाविधतत्त्ववेदिगुर्वादिप्रबोधाद्यथावस्थितवस्तुविज्ञानसामार्थ्यात्तदुपग्रहसम्यक्त्वावाप्तौ न काचिद्विप्रतिपत्तिः यतस्तत्र नाऽज्ञानजन्यं सम्यग्दर्शनमिति विज्ञेयं, सम्यग्दर्शनं तु गुर्वादिप्रबोधावाप्तयथार्थवस्तुपरिज्ञानप्रभवदर्शनमोहनीयोपशमक्षयनिमित्तैरेव प्रजायत इति। द्वितीयपक्षोऽपि श्रेयान् यतो बुद्धिमान्द्याद्यथावस्थितपरिज्ञानविरहितोऽपि तत्त्वार्थश्रद्धानात् सम्यक्त्वलाभं समश्नुते, अत एवोमास्वातिवाचकवरेण्यैरभिहितं ' तत्त्वाऽर्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ' इति। ननु निखिलपदार्थानां यथार्थतत्त्वाववोधो ज्ञानावरणीयक्षयक्षयोपशमसमुत्थः, यथावस्थितवस्तुश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वं च दर्शनमोहोपशमक्षयक्षयोपशमप्रभवं, तत्कथं ज्ञानावारकक्षयादिजन्यं तत्त्वविज्ञानं श्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनाऽवाप्तौ कारणतां बिभर्ति ? तज्जातीयकारणस्यैव तत्तद्गुणावाप्तौ सामर्थ्यं न तु वैजात्यस्येति चेत् ? सत्यं, ज्ञानावारकक्षयक्षयोपशमोद्भवं तत्त्वविज्ञानं यद्यपि वैजात्यकारणत्वेन न साक्षात् सम्यक्त्वोपलब्धौ हेतुस्तथापि तत्त्वविज्ञानजन्यदर्शनमोहानन्तानुबन्धिक्षयोपशमादिभिः पारम्पर्येण सम्यग्-

दर्शनावाप्तौ पारम्पर्येण हेतुत्वे तत्त्वविज्ञानस्य न किञ्चिदविरुद्धम् । वस्तुतस्तु यथाभूततत्त्वार्थश्रद्धानस्याऽपायरूपत्त्वादपायस्य च मतिज्ञानस्य भेदत्त्वान्मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमक्षयरूपमेव सम्यक्त्वम्, दर्शनमोहोपशमादयस्तु मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमक्षयप्रभवापायरूपसम्यक्त्वस्य प्रकाशकाः, अनेन सम्यक्त्वस्यान्तरङ्गं कारणं मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमादिर्न तु दर्शनमोहोपशमादयः, दर्शनमोहोदयस्तु श्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वजनकमतिज्ञानावरणीयादिक्षयोपशमभावमाश्रित्य प्रतिबन्धकतामेति ततः कारणस्य कारणे कार्योपचारात् दर्शनमोहोदय एव सम्यक्त्वगुणस्य प्रतिबन्धकतयोररी क्रियते, अनयाऽपेक्षया च सम्यक्त्वस्य त्रैविध्यमन्यथा मतिज्ञानावरणीयस्य कर्मण उपशमाऽभावादौपशमिकसम्यक्त्वभेदेनाऽपि न भवितव्यमिति । अनेनाऽभिप्रायेणैव मेधाविमूर्धन्यैर्भाष्यकारभगवद्भिरुमास्वातिवाचकैस्तत्त्वार्थभाष्ये भाष्यकाराऽभिप्रायं यथार्थमनुसरद्भिः श्री सिद्धसेनसूरिप्रकाण्डैस्तट्टीकायां चैवं प्रत्यपादि, तद्यथा;—भाष्यम्—सम्यग्दर्शनं केन भवति ? । निसर्गादधिगमाद्वा भवतीत्युक्तम् (१–३) । तत्र निसर्गः पूर्वोक्तः । अधिगमस्तु सम्यग्व्यायामः । उभयमपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयेणोपशमेन क्षयोपशमाभ्यामिति । (सूत्र ७. अ. १)

टीकैकदेशः—'तदावरणीय' इत्यादि तस्य रुचिलक्षणस्य ज्ञानस्य यदावरणीयकं तत् तदावरणीयं, आवरणीयशब्दाच्च निश्चीयते ज्ञानम्, तदन्यत्र हि ज्ञानदर्शनावरणीयवर्जिते कर्मणि नावरणीयव्यवहारः प्राय इति । किं पुनस्तदावरणीयम् ? मतिज्ञानाद्यावरणीयम्, अनन्तानुबन्ध्यादि च निमित्ततया आवरणीयम्, यतस्तस्मिन्नुपशान्तेऽनन्तानुबन्ध्यादिकर्मणि तत् मतिज्ञानावरणीयं क्षयोपशमावस्थां भजते, एतावता तदावरणीयं भण्यते ।XXXXX। ननु च ज्ञानावरणीयस्योपशमो नास्ति,

त्वया चैतन्निरूपितं ज्ञानावरणमस्यावरणमिति, तत् कथमेतत् ?। उच्यते सत्यमेतदेवं, किन्तु मोहनीयोपशमादस्य ज्ञानावरणस्य क्षयः क्षयोपशमो वा भवति, ततः क्षयात् क्षयोपशमाच्च सम्यग्दर्शनमिति XXXX ॥ ५१ ॥

अथ किंलक्षणं सम्यक्त्वं ? कीदृशं वा मतिः सम्यग्दर्शनिन इति प्रदर्शयति—

सव्वाइ जिणेसरभासियाइं वयणाइ नन्नहा हुंति। इअ बुद्धी जस्स मणे, सम्मत्तं निच्चलं तस्स ।५२

टीका;—'सव्वाइ' इति, 'सर्वाणि जिनेश्वरभाषितानि वचनानि नाऽन्यथा भवन्ति' इति यस्य मनसि बुद्धिस्तस्य निश्चलं सम्यक्त्वं स्यादिति। अत्र सर्वाणि जिनेश्वरभाषितानीति कथनेन एकादिवचनमृते निखिलमपि जिनेश्वरभाषितं मन्यमानानां जमालिप्रभृतिनिह्नवानां मिथ्यादृष्टित्वं प्रदर्श्यते, यत एकादिवचनगोचरोऽप्रत्ययः जिनेश्वराणां रागद्वेषमोहान्तरारिनिषूदकानां सर्वज्ञत्वविपक्षे बाधकः। जिनेश्वरास्तु गर्भत एव मतिश्रुतावधिलब्धिसंपन्ना जन्मानन्तरं गृहवासादि यथायोगमनुसरन्तः स्वयंबुद्धा अपि स्वोचिताचारपरिपालनार्थं समागतैर्लौकान्तिकदेवैः प्रतिबोधितास्सन्तो जन्मजरामरणार्त्तमशरणं जगज्जन्तुजातमुद्धर्त्तुकामाः समृद्धं राज्यादिवैभवं तृणवदपहायैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकशमावाप्त्यर्थं प्रव्रज्यामङ्गीकुर्वते, तदैव च विपुलमतिविशिष्टं चतुर्थं मनःपर्यायमुपलभन्ते। अनन्तरं सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंवराराधनैकतत्परा ईर्यादिसमितिसम्पन्नाः पञ्चाचाराचरणप्रयता उपसर्गपरीषहादिसेनां निर्जित्य क्षपकश्रेणिसमारूढाः सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयमुन्मूल्य द्वादशगुणान्ते प्रक्षीणावशेषघातिकर्माणः स्वस्वछद्मस्थकालमतिगमय्य त्रयोदशगुणाद्यसमये केवलज्ञानं केवलदर्शनं च संप्राप्नुवन्ति, तत एव विगतरागद्वेषाज्ञानाः देवनिर्मितसमवसरणविराजमानाः सुरासुरनृतिर्यक्पर्षत्सेव्यमाना यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधिनीं देशनां

प्रददते न ततोऽर्वाक् ।

उक्तश्च;—‘ सम्यक्त्वज्ञानचारित्र–संवरतपःसमाधिबलयुक्तः । मोहादीनि निहत्याऽशुभानि चत्वारि कर्माणि ॥ १ ॥

केवलमधिगम्य विभुः स्वयमेव ज्ञानदर्शनमनन्तं । लोकहिताय कृतार्थोऽपि देशयामास तीर्थमिदम् ॥ २ ॥ ’ जिनेश्वराणां विपरीतार्थप्रतिपाद-

अयथार्थप्रतिपादनकारणानि रागद्वेषाऽज्ञानानि, ज्ञानावरणीयादिनिखिलघातिकर्मक्षयान्न नसम्भवः, तथाप्रतिपादनहेतूनां क्षयात्, नाऽकारणा च कार्यनिष्पत्तिरिति न्यायात् । तथा चोक्तं–‘वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रुवते क्वचित् । यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥१॥ ’ अत एकमपि सार्वज्ञं वचनममन्यमानः सर्वज्ञे भगवत्य-प्रत्ययमुत्पादयति, तथाभूतश्च सन् मिथ्यात्वपङ्कपङ्किलमात्मानं विधत्ते, एकस्मिन्नपि प्रवचनार्थेऽभिनिवेशेनाऽसद्भूतश्रद्धाने तदितरसकलसद्भूतार्थश्रद्धानस्याऽप्यश्रद्धानकल्पत्वात् । तस्मात् सर्वाणि जिनेश्वरभाषितानीति गदितं । न चाऽनेन व्याख्यानेन जैनेन्द्रवचनानुरागिणोऽपि प्रवचनपरिज्ञानविकलस्य गुरुनियोगायत्तस्य वा यस्य कस्यचित् सम्यक्त्वाभावो प्रज्ञापनीयः, यतो ज्ञानावरणीयोदयसान्निध्यमात्रादुपजायमानाऽज्ञानायत्तं प्रवचनपरिज्ञानवैकल्यं गुरुनियोगजनितः प्रवचनार्थसंशयो वा न सम्यक्त्वप्रतिबन्धायालम् । तथा चोक्तं श्रीमच्छिवशर्मसूरिशेखरैः कर्मप्रकृत्यां;–‘ सम्मद्दिठी णियमा उवइठं पवयणं तु सद्दहइ सद्दहइ असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा ॥ १ ॥ ’ अस्याश्चेयं गमनिका—सम्यग्दृष्टिर्जीवो गुरुभिरुपदिष्टं प्रवचनं नियमाद्यथावत् श्रद्धत्त एव । तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च । यः पुनः सम्यग्दृष्टिरप्यसद्भावमसद्भूतं प्रवचनं श्रद्धाति सोऽवश्यम-जानन् स्वयं परिज्ञानविकलः सन् यद्वा गुरोस्तथाविधसम्यक्परिज्ञानविकलस्य मिथ्यादृष्टेर्वा जमालिप्रख्यस्य नियोगादाज्ञापा-

रतत्वात्, नान्यथा। अत्र च साहजिकमज्ञानं ज्ञानावरणविपाकोदयसान्निध्यमात्रादुपजायमानं न सम्यक्त्वप्रतिबन्धकं। गुरुनियोगजनितं तु मध्यस्थस्य विनेयस्य नानामतदर्शिनो मिथ्यात्वप्रदेशोदयमहिम्ना विप्रतिपत्त्युपनीतप्रवचनार्थसंशयरूपं सम्यक्त्वप्रतिबन्धाभिमुखमपि तमेव सच्चमित्याद्यालम्बनरूपोत्तेजकप्रभावान्न सम्यक्त्वं प्रतिबद्धुमलमित्यज्ञानाद्गुरुनियोगाद्वाऽसद्भूतार्थश्रद्धानेऽपि भावतो जिनाज्ञाप्रामाण्याभ्युपगन्तुर्न शुभात्मपरिणामरूपसम्यक्त्वोपघात इति भावनीयं। एतेन यदुच्यते केनचित् परपक्षनिश्रितस्य सर्वथा सम्यक्त्वं न भवत्येवेति तदपास्तं द्रष्टव्यं, अनभिनिविष्टस्य मिथ्यादृष्टिनिश्रयाऽपि तदुपनीतासद्भूतार्थश्रद्धानस्यास्वारसिकत्वेन स्वारसिकजिनवचनश्रद्धानाविरोधित्वात्। अभिनिविष्टस्य तु स्वपक्षपतितस्य परपक्षपतितस्य वा मिथ्यादृष्टित्वानपायादित्यलं प्रपञ्चेन ॥ ५२ ॥

अथ सम्यक्त्वगुणावाप्तौ को लाभः? तत् प्रदिदर्शयिषयाह–

अंतोमुहुत्तमित्तं-पि फासियं हुज्ज जेहि सम्मत्तं। तेसिं अवड्ढपुग्गल-परियट्टो चेव संसारो ॥५३॥

टीका—'अन्तमुहूर्त्तमात्रमपि' इत्यादि, आस्तां तावन्मुहूर्त्तप्रहरदिवसपक्षमासवर्षादिकालीनं सम्यक्त्वं भवक्षयाय परं अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालमपि 'येषां' भव्यानां यथाप्रवृत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणावाप्ताऽन्तरकरणावस्थानां 'सम्यक्त्वम्' औपशमिकादिभेदभिन्नं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं 'स्पर्शितं असंख्येयप्रदेशात्मकजीवस्य प्रत्यात्मप्रदेशं मिथ्यात्वमोहनीयाऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयोपशमाद्यवाप्ततत्त्वश्रद्धानं स्यात् तेषामुत्कृष्टतोऽप्यपार्धपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणावशेष एव संसारः, न ततोऽधिकः।

केचित्तु सम्यक्त्वगुणावाप्त्यनन्तरं जातोपशमसंवेगादिगुणाढ्याः शीघ्रमेव सर्वविरतिप्रतिपत्तिपुरःस्सरं क्षपकश्रेणिसमारूढाः केवललक्ष्मीमनुभवन्ति, केचन संख्येयमसंख्येयं वा कालं संसारेऽतिगमयन्ति, केचिच्च अपार्द्धपुद्गलपरावर्त्ताख्याऽनन्तकालमतिक्रम्यावश्यं मोक्षमभ्युपेयन्ति। अत्राऽयमाशयः—सम्यक्त्वलाभानन्तरं मिथ्यात्वोदयहेतुके प्रतिपाते सत्यपि नाऽनादिमिथ्यादृष्टिवदुत्कृष्टं स्थितिबन्धं सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमलक्षणं विधत्ते मिथ्यादृष्टिः, सकृत् सम्यक्त्वलाभात् तथाविधतीव्रकषायोदयाऽभावात्। अनेनैव हेतुना चतुर्विधभङ्गापन्नमिथ्यात्वस्य सादिसान्तसंज्ञकश्चतुर्थो भङ्ग उत्कृष्टतोऽपार्धपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणः प्रदर्शितः, सकृत् सम्यक्त्वप्रतिपत्त्यनन्तरमुत्कृष्टतोऽप्येतावता कालेन पुनः सम्यक्त्वाऽवाप्तेः सकृदाविद्धमणिवदिति। ५३ ॥

अनन्तरगाथायामुद्दिष्टं पुद्गलपरावर्त्तपदं लक्ष्यीकृत्य तत्स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुराह—

उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गलपरिअट्टओ मुणेयव्वो। तेणंताऽतीअद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ॥५४

टीका—'उस्सप्पिणी' इति, उत्सर्पिण्युपलक्षणादवसर्पिणी च प्राक् 'समयावली' त्ति गाथायां उक्तस्वरूपा, ताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरनन्तसङ्ख्याकाभिरेकः पुद्गलपरावर्तो भवतीति ज्ञातव्यम्। पुद्गलानामौदारिकादिवर्गणागतानां निखिलानामपि परावर्त्तं औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचनलक्षणं परिवर्त्तनं यस्मिन् काले स एतावान् कालः पुद्गलपरावर्त्ताऽऽख्यः। यद्यपि क्षेत्रादिविषयस्य पुद्गलपरावर्त्तरूपोऽन्वर्थो न घटां प्राञ्चति तथाप्यन्यथा व्युत्पादितस्यापि शब्दस्यान्यथा गोशब्दवत् प्रवृत्तिदर्शनात् समयप्रसिद्धमर्थं विषयीकरोतीति न कश्चिद्दोष इति। स च पुद्गलपरावर्तो द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदैश्चतुर्द्धा। एकैकः पुनः सूक्ष्मबादरभेदाभ्यां द्विविधः, तथाहि;—बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः१, सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः२, बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः३, सूक्ष्म-

क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः४, बादरकालपुद्गलपरावर्त्तः५, सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त्तः६, बादरभावपुद्गलपरावर्त्तः७, सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्त्तश्च ८। तत्र संसारकान्तारे पर्यटन्नेकजीवोऽनेकैर्भवग्रहणैः सकललोकवर्तिनः सर्वानपि पुद्गलान् यावता कालेन औदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरभाषाप्राणापानमनःकार्मणशरीरलक्षणपदार्थसप्तकभावेन यथास्वं परिणमय्य मुञ्चति स तावत्प्रमाणः कालो द्रव्यतो बादरः पुद्गलपरावर्तो भवति। सप्तानामौदारिकवैक्रियतैजसभाषाप्राणापानमनःकार्मणमध्यादन्यतरेण पुनरेकेन केनचिदौदारिकादिना पूर्वप्रदर्शितप्रकारेण सकललोकवर्तिपुद्गलानां औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचने सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति। विवक्षितौदारिकादिभेदाविशेषैः शेषैः षड्भिर्भेदैः परिणमिता अपि न गृह्यन्त इति। उभयभेदेऽपि आहारकशरीरं न ग्राह्यं, कादाचित्कत्वात्तल्लाभस्येति। एके त्वाचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति, तथाहि—यदेको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरकार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्वं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तो भवति। यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणामितास्तु पुद्गला न गृह्यन्त एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तो भवतीति। यदाऽनन्तभवभ्रमणशीलो जन्तुरनन्तरेषु व्यवहितेषु चाऽपराऽपराऽऽकाशप्रदेशेषु म्रियमाणः सर्वानपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाकाशप्रदेशान् मरणेन स्पृशति तदा बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तो भवति। येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जन्तुरेकदा मृतस्तेभ्योऽनन्तरव्यवस्थितेष्वेव नभःप्रदेशेष्वन्यदापि यदि म्रियतेऽपरस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेष्वन्यस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेष्वन्यस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरेष्वन्येष्वेवं तावन्नेयं यावदित्थमपरापरेषु नैरन्तर्यव्यवस्थितेषु नभःप्रदेशेषु क्रमेण

म्रियमाणो जन्तुः सर्वानपि लोकाकाशप्रदेशान् स्पृशति, ते चापरप्रदेशवृद्धिरहिताः पूर्वावगाढा एव दूरव्यवस्थिता वाऽऽकाशप्रदेशा मरणेन स्पृष्टास्ते च न गण्यन्ते तदा सूक्ष्मः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः। कालतस्तु यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि क्रमेणोत्क्रमेण चानन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बादरकालपुद्गलपरावर्त्तो भवति। केवलं येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदाऽपि यदि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते, यदा पुनरेकद्वित्र्यादिसमयक्रममुल्लंघ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता अपि समया गण्यन्त इति। सूक्ष्मस्तु कालपुद्गलपरावर्त्तस्तदा भवति यदोत्सर्पिण्या अवसर्पिण्या प्रथमसमये कश्चिन्मृतस्ततः पुनरपि समयोनविंशतिकोटीकोटीभिरतिक्रान्ताभिर्भूयोऽपि स एव जन्तुः कालान्तरेण तस्या एव द्वितीयसमये म्रियते पुनरपि कदाचित्तथैव ताभिरतिक्रान्ताभिस्तस्या एव तृतीयसमये, एवं चतुर्थपञ्चमषष्ठादिसमयक्रमेणानन्ताऽनन्तभवैर्यावत्सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमानयोः समया मरणेन व्याप्ता भवन्ति। ये तु प्रथमादिसमयक्रममुल्लंघ्य व्यवहितसमयाः पूर्वस्पृष्टा वा मरणेन व्याप्तास्ते तु न गृह्यन्त एवेति। अथ भावतः पुद्गलपरावर्त्त उच्यते—अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि मन्दप्रवृद्धतरादिभेदेनाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि वर्त्तन्ते ततो यदैकैकस्मिन्ननुभागबन्धाध्यवसायस्थाने क्रमेणोत्क्रमेण च म्रियमाणेन जन्तुनाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि सर्वाण्यपि तानि स्पृष्टानि भवन्ति तदा बादरो भावपुद्गलपरावर्त्तो भवति, अत्रापि यदध्यवसायस्थानमेकदा मरणेन स्पृष्टं तदेवाऽन्यदापि यदि स्पृशति तदा तन्न गण्यते, अपूर्वं तु दूरव्यवहितमपि स्पृष्टं गण्यते। सूक्ष्मस्तु क्रमेण चिन्त्यस्तद्यथा—इह किलानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि बध्यमानकर्मपुद्गलेषु तादृशानुभागपलिच्छेदनिर्वर्त्तकानि असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि मन्दप्रवृद्ध-

प्रवृद्धतरादिभेदतो वर्त्तन्ते, तत्र च सर्वस्तोकानुभागपलिच्छेदजनके कषायोदये वर्त्तमानः कश्चिज्जन्तुर्मृतः, ततः कदाचित् पुनरपि तस्मादनन्तरव्यवस्थिते द्वितीयेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थाने विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके वर्त्तमानो मृतः, पुनरपि तस्मात् कदाचिद्विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके तृतीये मृतः, एवं क्रमेण क्रमेण विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनकाध्यवसायस्थानकेषु वर्त्तमानस्य मरणं तावद्वाच्यं यावत्सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धाध्यवसायस्थाने म्रियमाणेन जन्तुनाऽनन्ताऽनन्तैर्मरणैः सर्वाण्यपि स्पृष्टानि भवन्ति, अत्राऽपि प्राग्वद् व्यवहितानि पूर्वस्पृष्टानि च न गण्यन्त इति सूक्ष्मो भावपुद्गलपरावर्त्तः । अत्र प्रमाणविषये सर्वत्र सूक्ष्मा एव संकर्त्तव्या न बादरा इति ॥ इत्येवं व्याख्यातस्वरूपद्रव्यादिसूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्ता अनन्तसंख्याका व्यतिक्रान्तास्सन्तेऽतीताद्धा भवति, ततोऽप्यनन्तगुणाऽनागताद्धा । केचित्तु अतीतानागताद्धयोरनन्तशब्दसाम्यात्तुल्यत्वमपि प्रतिपादयन्ति तदपि नाऽसमीचीनमपेक्षयेति ॥ ५४ ॥

अथाऽनन्तपुद्गलपरावर्त्तकालं यावत् संसारे भ्रान्त्वाऽपि सम्यग्दर्शनादिसाधनेन सिद्धिमुपगताः सिद्धा कतिविधाः ? तत्प्रदिदर्शयिषयाऽऽह—

जिण अजिण तित्थऽतित्था, गिहि अन्न सलिंग थी नर नपुंसा ।
पत्तेय सयंबुद्धा, बुद्धबोहिय सिद्धणिक्का य । ५५ ॥

टीका—'जिण' इति, जिनसिद्धाजिनसिद्ध–तीर्थसिद्धाऽतीर्थसिद्ध–गृहिलिङ्गसिद्धाऽन्यलिङ्गसिद्धस्वलिङ्गसिद्ध–स्त्रीलि-

ङ्गसिद्धपुरुषलिङ्गसिद्धनपुंसकलिङ्गसिद्ध–प्रत्येकबुद्धसिद्धस्वयंबुद्धसिद्धबुद्धबोधितसिद्ध–एकसिद्धानेकसिद्धभेदैः सिद्धाः पञ्चदशविधा इति । वस्तुतस्तु सिद्धा न पञ्चदशविधाः किन्तु द्विभेदभिन्नास्त्रिभेदभिन्ना वा । तद्यथा–सिद्धा द्विविधाः, जिनसिद्धा अजिनसिद्धाश्च, यद्वा सिद्धास्तीर्थातीर्थसिद्धभेदाभ्यां द्विविधाः, अथवा एकसिद्धाऽनेकसिद्धभेदाभ्यां सिद्धा द्विविधाः । अथवा सिद्धास्त्रिविधाः, गृहिलिङ्गसिद्धाः, अन्यलिङ्गसिद्धाः, स्वलिङ्गसिद्धाश्च, यद्वा स्त्रीलिङ्गसिद्धपुरुषलिङ्गसिद्धनपुंसकलिङ्गसिद्धभेदैस्त्रैविध्यं परिभावनीयम्, अथवा प्रत्येकबुद्धसिद्धबुद्धबोधितसिद्धस्वयंबुद्धसिद्धभेदैस्त्रिभेदभिन्नत्वमवगन्तव्यम् उक्तानां भिन्नभिन्नापेक्षया द्विभेदानां त्रिभेदानां वा मध्ये निखिलानामपि सिद्धानामन्तर्भाव इत्यर्थः । नन्वस्तु द्विभेदभिन्नत्वं त्रिभेदभिन्नत्वं वा परं क्षपितकर्माष्टकानां तुल्यानन्तज्ञानदर्शनादिगुणानां सिद्धानां कथं भेदत्वं प्रतिपाद्यते ? भेदत्वं तु कर्मोदयजन्यं, तस्य च तेषां सर्वथाऽभावात् कथं भेदः? इति चेदुच्यते–न सिद्धत्वावाप्त्यनन्तरं तेषां भेदः प्रतिपाद्यते, ये च जिनसिद्धाजिनसिद्धादिभेदाः प्रागुक्तास्ते निखिला अपि भवस्थावस्थामाश्रित्योपचारेण प्रोक्ता इति । यथा निखिला अपि सिद्धाः द्विभेदभिन्नाः, तद्यथा जिनसिद्धाः, अजिनसिद्धाश्च, तत्र जिनस्तीर्थकरः, तीर्थकरनामविपाकोदयानुभूततीर्थकरसमृद्धयः सन्तो ये शिवंगता ते जिनसिद्धाः, ये च सामान्यकेवलित्वमनुभूय सिद्धत्वं प्राप्तास्तेऽजिनसिद्धाः । तीर्थकरास्तीर्थं प्रवर्त्तयन्ति, तदनन्तर ये सिद्धिमुपगतास्ते तीर्थसिद्धाः, ये च तीर्थस्थापनायाः प्रागेव महानन्दपदमितास्तेऽतीर्थसिद्धाः । गृहस्थावस्थायामेव जन्मान्तराराधितसर्वविरतिसामर्थ्यादवाप्तकेवलज्ञानदर्शना अल्पायुष्कास्सन्तोऽन्तर्मुहूर्त्तान्तर्मोक्षं सम्प्राप्तास्ते गृहिलिङ्गसिद्धाः तापसाद्यन्यलिङ्गव्यवस्थिता अपि तथाविधसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयोगतः केवलज्ञानदर्शनावाप्तिपूर्वकं क्षीणाऽष्टकर्माणो ये मुक्तिं जग्मुस्ते-

नवतत्त्वसुमङ्गला-टीकायं- ॥१६५॥

प्रकीर्णसिद्धाभेदाः

ऽन्यलिङ्गसिद्धाः। उक्तञ्च–'सेयंबरो य बुद्धो य आसंबरो य अहव अन्नो वा। समभावभाविअप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो ।१॥' इमे गृहिलिङ्गान्यलिङ्गसिद्धाः केवलज्ञानप्राप्त्यनन्तरं यद्यल्पायुष्काः स्यातां तदैव ते गृहिलिङ्गाऽन्यलिङ्गसिद्धाववगन्तव्याः, अन्यथा दीर्घायुषि सति केवलज्ञानलब्धिसमनन्तरमेव देवताप्रदत्तमुनिनेपथ्याङ्गीकारात् स्वलिङ्गसिद्धत्वं तयोः। रजोहरणप्रमुखस्वलिङ्गसद्भावे ये शिवं सम्प्राप्तास्ते स्वलिङ्गसिद्धाः। ये स्त्रीलिङ्गे वर्त्तमानाः सिध्यन्ति ते स्त्रीलिङ्गसिद्धाः। ये पुरुषलिङ्गे वर्त्तमानाः सिद्ध्यन्ति ते पुरुषलिङ्गसिद्धाः। ये च नपुंसकलिङ्गेवर्त्तमानाः कर्माष्टकक्षयं कुर्वन्ति ते नपुंसकलिङ्गसिद्धाः। अत्र लिङ्गेन सर्वत्राऽऽकृतिरवगन्तव्या, वेदोदयात्मकलिङ्गस्य त्तु निवृत्तिबादरे व्यवच्छिन्नत्त्वात्। सन्ध्याऽभ्ररागप्रभृत्येकं निमित्तं दृष्ट्वा जातसंवेगास्तत्कालमेव पलब्धकेवलज्ञानदर्शना ये सिद्धिं यान्ति ते प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, ये च गुरूपदेशादि तथाविधनिमित्तमृते जन्मान्तराराधितबोधिप्रभावादिहजन्मन्युपजातवैराग्या अवाप्तकेवलज्ञाना दिलब्धयश्च शिवमुपयान्ति, अथवा तीर्थंकरास्ते स्वयम्बुद्धसिद्धाः, तथाविधगुर्वाद्युपदेशेन प्रतिबुद्धास्सन्तः केवलज्ञानाद्युपलब्धिपूर्वकं मोक्षं ये व्रजन्ति ते बुद्धबोधितसिद्धाः। प्रत्येकबुद्धस्वयंबुद्धयोर्बोध्युपधिश्रुतनेपथ्यकृतो विशेषस्तद्यथा–स्वयम्बुद्धा बाह्यनिमित्तमन्तरेणैव बोधिं प्राप्नुवन्ति, प्रत्येकबुद्धास्तु बाह्यं किञ्चित्सन्ध्याभ्ररागप्रमुखं निमित्तमाश्रित्य बोधिं लभन्ते, एकाकिनैव च विहरन्ति। स्वयम्बुद्धानां पात्रप्रमुखो द्वादशविध उपधिः, प्रत्येकबुद्धानां तु जघन्यतो द्विविध उत्कृष्टतो विना प्रावरणं नवविध उपधिः। स्वयम्बुद्धानां यदि श्रुतज्ञानं स्यात्तदा पूर्वाधीतं स्यादन्यथा न स्यात्। यदि पूर्वाधीतं श्रुतं स्यात्तदा मुनिनेपथ्यं देवस्तं समर्पयति, अथवा गुरोः पार्श्वे गत्वा तन्नेपथ्यमङ्गीकुरुते, स्वैरविहरणेच्छायां स्वैरं विहरति अथवा गच्छान्तर्गतो गच्छेनैव सह विहरति। पूर्वाधीतश्रुताऽभावे तु गुरोः पार्श्वे गत्वैव

॥१६५॥

साधुवेषं स्वीकुरुते गच्छेन सहैव विहरति। प्रत्येकबुद्धानां तु जघन्यत एकादशाङ्गप्रमाणमुत्कृष्टतो देशोनदशपूर्वप्रमाणं श्रुतं स्यादिति। स्वयम्बुद्धा देवतार्पितं गुरुप्रदत्तं वा साधुनेपथ्यं स्वीकुर्वन्ति, प्रत्येकबुद्धास्तु देवताप्रदत्तमेवाङ्गीकुर्वन्तीत्यादि विस्तरो श्रीनन्दीसूत्रचूर्णौ-प्रज्ञापनावृत्तितोऽवसेयः॥ ये चैकस्मिन्समये एकाकिन एव मोक्षं गताः परं न तत्समकालमन्यः कश्चिन्मुक्तिमुपगत इत्येकसिद्धाः। तथैकस्मिन् समये ये जघन्यतो द्वावुत्कृष्टतोऽष्टाधिकशतसंख्याकाः शिवं गतास्तेऽनेकसिद्धाः। अत्राऽयं नियमस्तद्यथा-यद्येकमादौ कृत्वा द्वात्रिंशत्संख्यां यावत् प्रतिसमयं जीवाः सिद्धिं गच्छन्ति तर्हि उत्कृष्टतोऽष्टसमयान् यावद् गच्छन्ति, नवमे समये त्ववश्यमन्तरं जायते। त्रयस्त्रिंशत्संख्यामादौ कृत्वाऽष्टचत्वारिंशत्संख्यां यावत् सिद्धिं यान्ति तदा सप्त समयं यावदनन्तरं नियमेन विरहः। अष्टचत्वारिंशतः षष्टिं यावत् षट्सामयिकोऽविरहितो मोक्षगमनकालः, ततो विरहः। एकषष्टितो द्वासप्ततिं यावत् पञ्चसामयिको नैरन्तर्येण मुक्तिगमनानेहाः ततोऽवश्यमन्तरमुपजायते त्रिसप्ततिमादौ कृत्वा चतुरशीतिं यावच्चतुःसामयिकी मोक्षगमनाद्धाऽविरहिता, ततो व्याघातः। पञ्चाशीत्याः षण्णवतिं यावद् त्रिसामयिकः कालोऽनन्तरमन्तरमुपजायते। षण्णवतिसंख्याया द्व्युत्तरशतं यावद्द्विसामयिक्यद्धा, ततो विरहः त्र्युत्तरशतसंख्यामादौ कृत्वा अष्टाधिकशतसंख्याका एकं समयं यावत् सिद्धिमुपयान्ति, द्वितीये समयेऽवश्यं विरहः। इत्येवं सिद्धविशेषाः सम्यगवन्तव्याः प्रतिसिद्धं च षड्भेदास्संगच्छन्ते तद्यथा-श्रीवीरजिनेश्वरो जिनसिद्धः, स एव तीर्थसिद्ध, स एव स्वलिङ्गसिद्धः, स एव पुरुषलिङ्गसिद्धः, स एव स्वयम्बुद्धसिद्धः, स एव एकसिद्धः मरुदेवा च अजिनसिद्धा, सैवाऽतीर्थसिद्धा, सैव गृहिलिङ्गसिद्धा, सैव स्त्रीलिङ्गसिद्धा, सैव स्वयम्बुद्धसिद्धा, सैव चैकसिद्धेत्येवमन्यत्राऽपि स्वधिया परिभावनीयम्॥ ५५॥

अथ प्रागुक्तानेव सिद्धभेदान् दृष्टान्तैर्भावयति—

'जिणसिद्धा अरिहंता, अजिणसिद्धा य पुंडरियपमुहा। गणहारि तित्थसिद्धा, अतित्थसिद्धा य मरुदेवी ॥५६

टीका—"जिणसिद्धा" इति, अनन्तरगाथायां व्याख्यातस्वरूपा जिनसिद्धास्तीर्थकरसिद्धा अर्हन्त एव भवन्ति, तेषामेव जिननामविपाकोदयसम्भवात्। पुण्डरीकप्रमुखा अजिनसिद्धा अतीर्थकरसिद्धास्सन्ति, जिननामरसोदयाभावात्। गणधारिणस्तीर्थसिद्धाः, तीर्थस्थापनानन्तरं मोक्षगमनात्तेषाम्। अतीर्थसिद्धा च मरुदेवा, यतो भगवता श्रीऋषभदेवेन विहितायास्तीर्थस्थापनाया प्रागेव तस्या मोक्षं गमनात्। तद्व्यतिकरश्चायम्—यदा च भगवता केवलज्ञानमुपलब्धं तदेन्द्रादयोऽसंख्यदेवाः केवलमहिमानं कर्तुमुपागताः समवसरणप्रमुखादिव्यर्द्धिं कुर्वाणा समवसरणे विराजिते भगवति तत्रस्था एव प्रभुदेशनां शृण्वन्ति। भरतोऽपि प्रभोः केवलज्ञानोपलब्धिं श्रुत्वा निरन्तरमुपालम्भं प्रददतीं पुत्रवियोगेन रुदन्तीमत एव पटलावृतचक्षुष्कां मरुदेवां हस्तिस्कन्धे संस्थाप्य प्रभुं वन्दनार्थं चलितः, दूरत एव दिव्यध्वनिं श्रुत्वा प्रमोदभरमेदुरा उच्छ्वसितहृदया मरुदेवा मनस्येवं ध्यायति—यत्पुत्रवियोगेन रुदन्त्या मम चक्षुषी अपि हीनतेजसी जाते, प्रत्यहं पुत्रचिन्ताभराक्रान्ता सती यदाऽऽर्तध्यानोपगता तदा पुत्रस्तु सुरासुरनिकरनिषेव्यमाण ईदृशीमृद्धिमुपभुञ्जानोऽपि सुखादिसन्देशवार्त्तामपि न प्रेषयति। धिगिममेकपाक्षिकं स्नेहमिति विरक्ता शुभध्यानपरा घातिकर्मक्षयावाप्तकेवलज्ञानदर्शना तत्रैव हस्तिस्कन्धे सिद्धिं जगाम। तीर्थस्थापनायाः प्रागेव तस्या मोक्षगमनात् साऽतीर्थसिद्धेति ॥ ५६ ॥

१ ननु तीर्थस्थापनायाः प्राक् तीर्थव्यवच्छेदाऽनन्तरञ्च ये मोक्षमुपयान्ति तेषां सर्वेषामप्यतीर्थसिद्धत्वेऽतीर्थसिद्धत्वं द्विविधं,

गिहिलिङ्गसिद्धभरहे, वल्कलचीरीय अन्नलिंगम्मि ।
साहू सलिङ्गसिद्धा, थीसिद्धा चंदणा पमुहा ॥५७

टीका—'गिहिलिंगसिद्धभरहो' इति, गृहिलिङ्गसिद्धो भरतचक्री, यतः श्रूयते यदादर्शभुवनेऽनित्यभावनां भावयतस्तस्य केवलज्ञानमुत्पेदे। यद्यप्यत्र सिद्धत्वमाश्रित्यैव जिनसिद्धादिभेदा विवक्षितास्तथाप्यत्र भरतचक्रवर्तिदृष्टान्ते केवलोत्पादविवक्षया गृहिलिङ्गत्वमुक्तं तत्र केवलिनोऽवश्यं सिद्धिर्भवितेति तस्य गृहिलिङ्गसिद्धत्वं प्रतिपन्नमन्यथा केवलप्राप्त्यनन्तरं देवताप्रदत्त-साधुवेशोपलब्धिपूर्वकस्तस्य विहारो भव्यप्रतिबोधनं च चरितानुयोगे प्रतिपादितमिति । वल्कलचीरी अन्यलिङ्गे सिद्धः, स च प्रसन्नचन्द्रराजर्षेर्भ्राता तापसस्वपितुः पार्श्वे परिवसन् वृक्षत्वगादिप्रावरणेन गुणनिष्पन्ननामा एकदा स्वपितुस्तुम्बं दृष्ट्वा जातजातिस्मृतिर्जन्मान्तराराधितसंयमप्रभावादवाप्तकेवलस्तल्लिङ्गे वर्त्तमान एव मोक्षं ययाविति तस्याऽन्यलिङ्गसिद्धत्वमिति तथाऽऽद्यगणधरेणेन्द्रभूतिनाऽक्षीणमहानसलब्ध्या परमान्नेन भोजितानां सार्द्धसहस्रसङ्ख्याकानां तापसानामप्यन्यलिङ्गसिद्धत्वमन्यलिङ्गे एव तेषां केवलोत्पत्तेः । तथा 'साहू सलिङ्गसिद्धा' साधवश्च गृहीतरजोहरणमुखवस्त्रिकादिसाधुलिङ्गा मुनयः केवलज्ञानावाप्तिपूर्वकं शिवं यान्ति तदा ते स्वलिङ्गसिद्धाः। स्त्रीलिङ्गसिद्धाश्चन्दनाप्रमुखाः, चन्दना च श्रीमहावीरप्रभोः प्रथमा

मरुदेवा च यथा तीर्थस्थापनायाः प्राक् शिवं गता तथा तीर्थविच्छेदाऽनन्तरं केचिन्मुक्तिमियन्ति न वेति चेदुच्यते—तीर्थविच्छेदाऽनन्तर-मपि जातजातिस्मृतयः केचन जीवा मोक्षं व्रजन्ति, तेषाञ्चातीर्थसिद्धत्वं प्रज्ञापनायां प्रतिपादितमिति ।

साध्व्या प्रसिद्धवृत्तान्तेति न वितन्यते ॥ ५७ ॥

पुंसिद्धा गोयमाइ गांगेयाइ नपुंसया सिद्धा । पत्तेयसयंबुद्धा, भणिया करकंडुकविलाइ ॥ ५८ ॥

टीका:—'पुंसिद्धा' इति, पुरुषलिङ्गसिद्धा गौतमगणधरादयोऽन्येऽपि ये पुँल्लिङ्गे वर्त्तमानाः सिद्धिमुपगताः । गांगेयादयश्च नपुंसकलिङ्गसिद्धाः, 'गांगेय' इति नाम्ना भीष्मपितामह उपलक्ष्यते परं पाण्डवचरित्रादिषु भीष्मपितामहस्याऽच्युतदेवलोके गतेर्वर्णितेति न तस्याऽत्र परिग्रहः, यश्च भगवत्यां भंगजालादिप्रश्नयिता गाङ्गेयस्तस्य नपुंसकसिद्धत्त्वं न तत्रोद्दिष्टं, तस्मात् कस्य गाङ्गेयस्यात्र परिग्रहस्तत् कोविदकुलालङ्कारैश्चिन्त्यम् । प्रत्येकबुद्धाः स्वयम्बुद्धाश्च क्रमेण करकंडुकपिलादयो भणिता व्यावर्णिता इति । तत्र प्रत्येकबुद्धस्य करकण्डोर्वृत्तान्तश्चायम्—चम्पानगर्यां दधिवाहनो राजा चेटकराज्ञः पुत्र्याः स्वपत्न्याश्च पद्मावत्या दोहदपूरणार्थं तां हस्तिस्कन्धे निवेश्य वने जगाम, तत्र पर्जन्यधारोच्छलितभूमिगन्धात् पलायमानं मत्तेभं दृष्ट्वा काश्चिद्वटवृक्षशाखामाश्रित्याऽनन्तरं स्वपुर्यां समागतः, राज्ञी च वटवृक्षशाखामलग्ना सती तृषार्त्ते हस्तिनि कस्मिंश्चित् सरसि निवेशिते हस्तिस्कन्धादुत्तीर्णा सरस्तीरे यावत्सागारिकमनशनमङ्गीकृत्य स्थिता तावद्वनवासिना पितृव्येण तापसेन नगरीं प्रापिता निर्विण्णा च सती विनागर्भकथामन्यां निखिलां स्ववार्त्तामार्यायै निवेद्य दीक्षां जग्राह । क्रमेण समागते प्रसवसमये रहसि स्वगुर्व्यै निखिलं व्यतिकरं कथितवती सुश्राद्धप्रमुखसाहाय्येन पद्मावती साध्वी पुत्रं सुषुवे। पुत्रश्च पितृसंज्ञितां मुद्रिकां परिधाय रत्नकम्बलावृतं श्मशाने मुमोच, अनन्तरं कश्च तं गृह्णातीति द्रष्टुं यावद्रहसि स्थिता तावत् स्मशानरक्षकस्तं पुत्रं गृहीत्वा स्वभार्यायै समर्पयामास । : सा पद्मावती चाण्डालं तमनुसृत्य तस्य गृहं ज्ञात्वा

पश्चादुपाश्रयमागत्य स्वस्वामिन्यै 'मृताऽपत्यं सुषुवे' इति मृषा व्यतिकरं बभाषे, प्रत्यह यत्र पुत्रस्तत्र गत्वा 'अवकर्णक' इति चाण्डालेन संज्ञितं तं स्वबालं रमयति। यौवने च पुत्रे वयस्यैः सह क्रीडापरो यदा जयति तदा दण्डं याचते, 'कं दण्डं प्रयच्छामः', इति वयस्यैः प्रश्निते "मम देहे कण्डूः समागच्छति ततो भवद्भिः स्वहस्तैर्मम देहः कण्डूयितव्यः" इति थिते वयस्यैस्तस्य 'करकंडु' इति चक्रे। स चैकदा कस्यचिद्दण्डस्य प्रभावाद्राज्यं लब्धवानन्यान् पार्थिवान् स्वायत्तं कुर्वाणः स्वपितरं दधिवाहनं स्वाधीनं कर्तुं चम्पां परिवेष्ट्याऽस्थात्, महत्समराङ्गण बभूव, एतद् ज्ञात्वा पद्मावती तत्राऽऽगत्य पितरं पुत्र खिलं वृत्तान्तमचीकथत्, दधिवाहनेन राज्ञा पुत्रं राज्ये निवेश्य प्रव्रज्या परिगृहीता करकंडुश्च कदाचिदेकं सौन्दर्यातिशयितं पुष्टं वृषभवत्सं गोपाटके दृष्ट्वा 'अयं वत्सः स्वमातुर्निखिलेन पयसा अन्यासामपि गवां पयसा पुष्टिं नेतव्यः' इति गोपमादिदेश, पार्थिवादेशानुसारं प्रत्यह सञ्जाते स वत्सः पुष्टो बलीवर्दो जातः, राजा च तं दृष्ट्वा हर्षयते, कतिपयसंवत्सरानन्तरं जराजर्जरं तमेव बलीवर्दं दृष्ट्वा 'किं गोपेन मदाज्ञानुसारं न रक्ष्यतेऽयम्' इति पृष्टेन गोपेन यथावद्व्यतिकरे उक्ते सति करकण्डुस्स्वचित्ते चिन्तयामास 'यदद्यपर्यन्तं पयःप्रमुखस्वादुपेयैः पोषितायाः कायाया इयमवस्था? विरसावसाना खलु निखिलाः पौद्गलिकभावाः' इत्यादि भावयन् लोचं कृत्वा देवताप्रदत्तमुनिवेषग्रहणपूर्विकां दीक्षां गृहीत्वा प्रत्येकबुद्धश्च सञ्जातः, क्रमेण पृथ्वीतले विहरन्नवाप्तकेवलालोकः स्वायुषः क्षये मोक्षं ययौ। एवं द्विमुख-नमिराज-प्रमुखाणां प्रत्येकबुद्धानां चरितान्युत्तराध्ययनतो विभावनीयानीति।

तथा किञ्चिदपि बाह्यं निमित्तादिकमृते ये बोधिलाभपूर्वकमवाप्तकेवले मोक्षं प्रयाति स कपिल इव स्वयम्बुद्धसिद्धाः

कपिलकेवलिकथानकश्चेदं—कौशाम्ब्यां जितशत्रुराज्ञः पुरोहितस्य काश्यपाभिधानस्य कपिलनामा पुत्रः पूर्वार्जितज्ञानावरणीयोदयादज्ञानी सञ्जातः, पितुरवसानाऽनन्तरं तस्य जडत्वात् पितृपरम्पराऽऽयातं तं वर्जयित्वाऽन्यः पुरोहितः पार्थिवेन विहितः, अतो मात्रोपलम्भितो मातुः प्रेरणया श्रावस्त्यामिन्द्रदत्तस्य विप्रस्य पार्श्वेऽध्ययनार्थं जग्मिवान् । तत्र कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो दास्या सह संलग्न एकदा निर्धनत्वान्महोत्सवप्रसङ्गावाप्तशोकार्त्तां तां संवीक्ष्य कपिलः शोकनिमित्तं पप्रच्छ । दासी दारिद्र्यहेतुं कथयित्वा वित्तप्राप्त्युपायं दर्शयामास—'यदत्रत्यो धनश्रेष्ठी आशीर्वचसा प्रातः प्रबोधयित्रे माषद्वयप्रमाणं हिरण्यं प्रयच्छति' एतच्छ्रुत्वा 'अन्यः कश्चिन्मत्तः प्राङ् मा तत्र गच्छे'दिति धिया मध्यरात्रे तत्र गन्तुं निसृतोऽध्वन्यारक्षकैर्धृतः प्रत्युषे पार्थिवस्य समीडे नीतः । कपिलेन यथार्थे वृत्तान्ते निवेदिते हृष्टो राजा उवाच 'यथेप्सितं मार्गय' इति श्रुत्वाऽऽलोच्य मार्गयिष्यामीत्युक्त्वाऽशोकवाटिकायामालोचनार्थं गतश्चिन्तयति किं मार्गयामीति, द्विमाषसुवर्णं याचे ? न, एतावताऽल्पेन कियद्दिनानि यास्यन्ति ? निष्काणां शतं सहस्रं वा याचे ? न, अनेनाऽपि किं ? लक्षं कोटिं वा निष्काणां वा मार्गयामि ? न, राज्यं याचे इत्येवं लोभाऽभिवृद्धोऽग्रे वर्धमानो लघुकर्मत्वाद्विचारयामास यदहो द्विमाषात् कियत्पर्यन्तं यावदहं गतवान् ? निर्मर्यादः खलु लोभ इति वैराग्याज्जातजातिस्मृतिः शीघ्रमेव लोचपुरस्सरं देवतार्पितवेषं गृहीत्वा पार्थिवस्य पार्श्वे समागत्य 'धर्मलाभोऽस्तु' इत्युवाच, किञ्चिन्तितमिति राज्ञा पृष्टे, लोभस्य निरवधिकत्वं विचिन्त्येदं संतोषव्रतं मया गृहीतम्' इति जगाद । क्रमेण च ततो विहरन् घातिकर्मक्षयादवाप्तकेवलज्ञानदर्शनो राजगृहाऽटव्यां बलभद्रादिस्तेनानां पञ्चशतीं प्रतिबोधार्थं ययौ, स्तेनैरुक्तं 'नृत्यं जानीहि' तदा ओमित्युक्त्वा 'अधुवे असासयम्मि' इत्यादिपदोच्चारपूर्वकं नृत्यमारेभे क्रमेण

निखिला अपि प्रतिबुद्धाः । क्षीणाऽष्टकर्मा कपिलश्च मोक्षं ययौ इति स्वयम्बुद्धसिद्धकपिलकेवलिकथानकम् ।

अथाऽवशेषान् सिद्धभेदानाह–

तह बुद्धबोहि गुरुबोहिया इगसमए इगसिद्धा य । इगसमयेऽवि अणेगा, सिद्धा तेऽणेगसिद्धा य ॥ ५९ ॥

टीका–'तह' इति, तथा बुद्धबोधितसिद्धा गुरुबोधिताः, गुरूपदेशेन प्रबुद्धा ये मोक्षं ययाविति ते बुद्धबोधितसिद्धा जम्बूस्वामिप्रमुखाः । एकस्मिन् समये ये एकत्वसंख्यायुक्तास्ते एकसिद्धाः श्रीवीरस्वामिन इव एकस्मिन् समये ये अनेकत्वसंख्यायुताः सिद्ध्यन्ति ते अनेकसिद्धाः श्रीऋषभदेवाद्या इति । गाथायां अन्तिमेन 'सिद्ध'पदेन अन्त्यमङ्गलमाचष्टे ग्रन्थकारः । इत्येवं सिद्धभेदा लेशतो व्याख्याताः ।

समाप्तश्च प्रकीर्णकाधिकारः तस्मिंश्च समाप्ते सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः ।

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवन्तु लोकाः ॥ १ ॥

---

१ कासुचित् प्रतिषु षष्टितमा गाथा दृश्यते, तत्र कचिदियम्–' जइआइ होइ पुच्छा, जिणाण मग्गम्मि उत्तरं तइया । इक्कस्स निगोयस्सऽणंतभागो य सिद्धि गओ ॥ ६० ॥ कचिच्चेयम्–' इय नवतत्तवियारो, अप्पमइनाणजाणणाहेउं । संखित्तो उद्धरिओ, लिहिओ सिरिधम्मसूरिहिं ॥ ६० ॥' इत्युभयथापि दर्शनं जायत इति । उभयोरपि गाथार्थस्सुगमः ॥



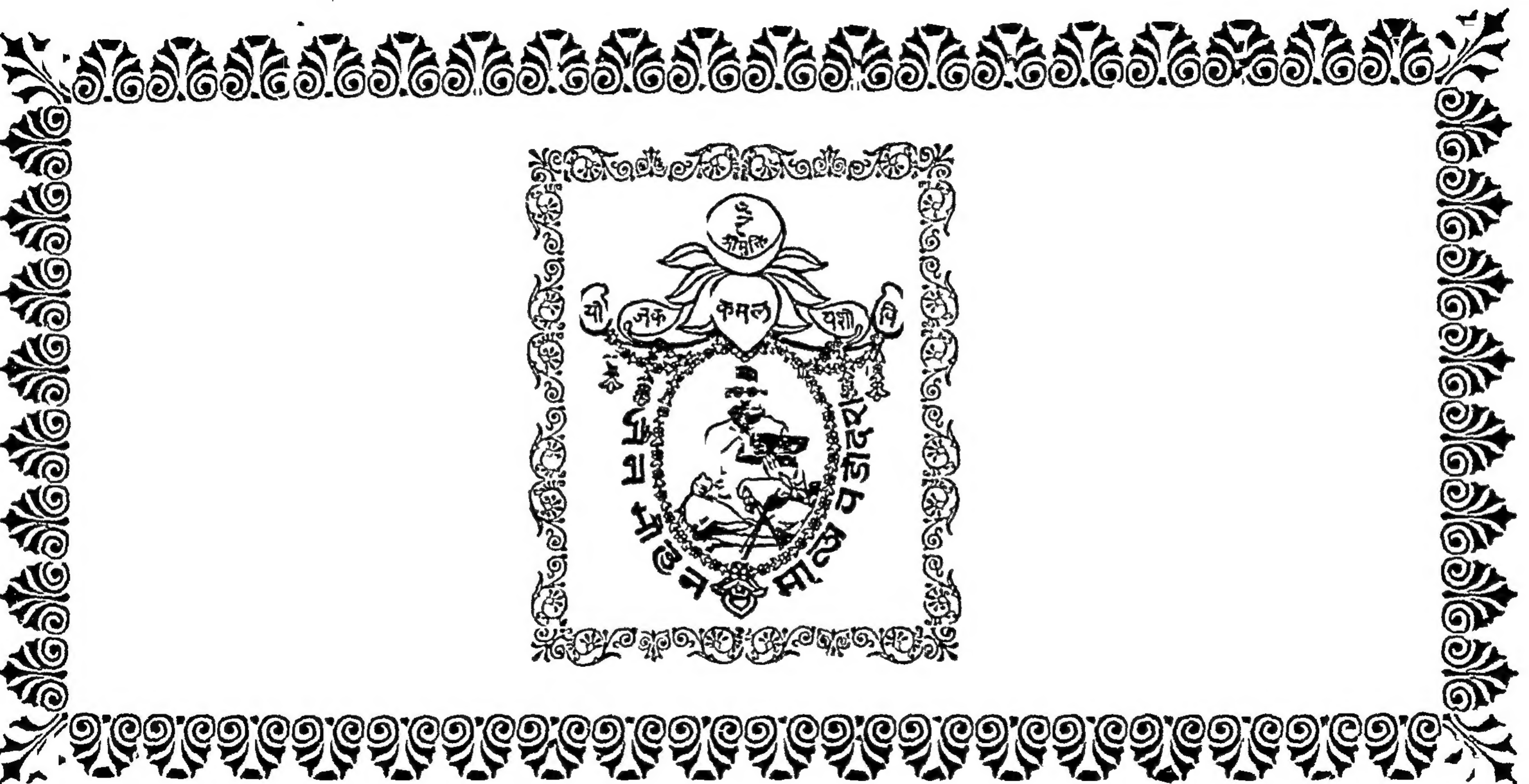
। अ टीकाकर्तृप्रशस्तिः ।

ज्ञात्वा जीवानजीवान् सहजगुणयुतान् द्रव्यपर्यायभिन्नान्, तत्त्वं यः सद्दर्श प्रवरगणभृते वीतरागो जिनेशः ।
श्रेयःश्रीकन्दकल्पः शतमखसुनुतो ध्वान्तविध्वंसहंसो—लोकाऽलोकावलोकी त्रिभुवनमहितः पातु वो वीरदेवः ॥ १ ॥
श्रीमद्वीर जिनेश्वराद्रिप्रभवा प्रत्यस्तिकायं गता, उत्पादाऽव्ययध्रौव्यलक्षणसरित् पर्यायसत्सम्मिता ।
जाता सङ्गतियोगतो गणभृतां या द्वादशाङ्गाऽऽत्मिका, जीयात् सा च मुनीशमौलिमुकुटश्रीगौतमाद्ये गणः ॥ २ ॥
सुधर्मा जम्बूश्च प्रभवगणिशय्यम्भवबुधौ, यशोभद्रः सम्भूतिविजयसुधीश्रीयकसखौ । [श्रीयकसखः=श्रीस्थूलभद्रः]
श्रुताब्धेः पारं ये समधिगतवन्तो जितमदा, अशेषास्तेऽन्येपि श्रुतजलधयः पान्तु कुशलम् ॥ ३ ॥
क्रमेण पट्टे मणिरत्नसूरे-र्जज्ञे जगच्चन्द्रगुरुर्गरीयान् । यस्मै तपस्याप्रयताय दत्ते तपेत्यभिख्यां नृपमण्डलेशः ॥ ४ ॥
पट्टावल्यां क्रमेण प्रवरगणधरो हीरसूरिर्बभूव, चक्रे येनाऽन्तरात्माऽपि परमसदयो हैमभूपस्य भूयः ।
तत्पट्टे सेनसूरिस्तदनु सविजयो देवसूरिः प्रजातः, तत्पट्टैरावतेन्द्रो विबुधगणनतः सिंहसूरिः श्रिये वः ॥ ५ ॥
श्रीमत्सत्यमुनीश्वरस्तदनुगः कर्पूरमौनी जिनस्तत्पट्टोत्तमपद्मरूपविजयाः कीर्तिश्च कस्तूरकः ।
जातो धीरगभीरधीर्मुनिमणीस्तत्पट्टरत्नाकरे सच्छिष्योऽजनि योगबुद्धिविजयः कल्याणवारांनिधिः ॥ ६ ॥

शिष्याश्च वेदसङ्ख्याकास्तेषां भूरिगुणोत्तमाः । गुरुश्रीबुद्धिविजयानामात्मध्यानसुधाभुजाम् ॥ ७ ॥
तत्राद्यो मुक्तिविजयो द्वितोयो वृद्धिसंज्ञकः । तृतोयो नीतिविजयस्तुर्य आनन्दसंज्ञकः ॥ ८ ॥
तेषां चतुर्णामपि सार्वभौमो गणी गुरुश्रीविजयाऽन्तमुक्तिः । गच्छाधिपो यो विजितान्तरारिः, कुवादिघूकाऽर्कनेभः श्रिये वः ॥ ९ ॥
वैराग्यं विमलं शमोऽतिविशदः शास्त्रज्ञता चाऽद्भुता, सिद्धान्तैकरुचिर्मनोहरतरा भव्योपकारः परः ।
चारित्रं त्रिजगत्यनुत्तरतमं सौभाग्यभाग्यं परं, येषां ते तपगच्छपाश्च गणिनो मुक्तिप्रदाः पान्तु वः ॥ १० ॥
विजयकमलसूरिर्भानुरेतस्य पट्टे, प्रवचनपरितोषं यो विधत्ते सदैव ।
जलधिरिवगभीरश्शान्तमुद्राभिरम्यो जयतु जगति धीमान् ब्रह्मचारिप्रकाण्डः ॥ ११ ॥
आचारपञ्चकसमाचरणप्रवीणाः, सर्वज्ञशासनधुरैकधुरन्धरा ये ।
तेषां च सूरिकमलाख्यमुनीश्वराणां जाताः सुजातविनया वहवो विनेयाः ॥ १२ ॥
स्फूर्जत्प्रौढगुणप्रसूनसुरभिप्रावासिताऽर्हद्वनो—यः सिद्धान्तविचारचारुचरितो व्याख्यानवेत्कोविदः ।
श्रद्धाज्ञानविवेकशीलविलसत्सद्रत्नपाथोनिधिः—स श्रीमोहनसूरिराड् विजयताम् तत्पट्टभानुप्रभः ॥ १३ ॥
भव्याली प्रतिबोधिता जिनवरोद्दिष्टार्थवाग्भिश्च यैः—सिद्धान्तार्णवगाहनैकरसिको यो लब्धवर्णैः स्तुतः ।
यस्मै सूरिपदं वितीर्य सुतरां प्रस्थानकल्पैर्युतम्, तोषं प्राप महोत्सवेन समकं श्रीनेमिसूरीश्वरः ॥ १४ ॥
तत्पट्टोदयशैलभानुरमलः सिद्धान्तपाथोनिधिः, सद्वैराग्यसुसेवधिश्च वसतिर्यस्याऽस्ति पार्श्वे गुरोः ।

संविज्ञैकशिरोमणिर्बुधवरैः संसेव्यमानक्रमो, धीमान् पाठकसत्प्रतापविजयो जीयान् मदीयो गुरुः ॥ १५ ॥
तेषां पाठकविदुषां परमगुरूणाञ्च सूरिविबुधानाम् । प्रभावतो व्यलेखि, टीकेयं सुमङ्गलानाम्नी ॥ १६ ॥
यद्यपि तत्त्वगभीरे, जिनमते नास्ति मेऽतिनैपुण्यम् । न्यायं तथापि श्रुत्वा 'शुभे यथाशक्तियतनीयम्' ॥ १७ ॥
एवञ्चाऽभ्यर्थनया परमविनेयस्य श्रीयशोविजयस्य । टीका गुरुप्रसादात् व्यरचि मया मन्दमतिकेन ॥ १८ ॥
सशोधितः श्रुतज्ञैस्तथापि छद्मस्थजन्यदोषस्स्यात् । सशोध्यश्च सुधीभिरिति याचे धर्मविजयोऽहम् ॥ १९ ॥
नवतत्त्वानां टीकां रचयित्त्वा जिनमतानुसारेण । यदर्जितं च सुकृतं तेनाऽस्तु तत्त्ववित्सङ्घः ॥ २० ॥
नंभोनिधिब्रह्मसुगुप्तिचन्द्र–प्रमेयसङ्ख्ये नृपविक्रमाब्दे । समापितेयञ्च सुमङ्गलाख्या, धर्माय धर्मेण तु षट्सहस्री ॥ २१ ॥
जम्बूद्वीपारविन्दे सुरगिरिकलिका भ्राम्यतः पुष्पदन्तौ, यावद्यावच्च धत्ते लवणजलनिधिर्वेलवारिप्रवाहम् ।
यावन्नन्दीश्वरेषु जिनवरप्रतिमाः शाश्वतेषु गृहेषु,विद्यन्ते तावदेषा विजयतु सुतरां मङ्गलाख्या सुटीका ॥ २२ ॥

इति संविज्ञशाखीय–विद्वद्वृन्दावतंस–कुमतध्वान्ततरणि–मुनिचक्रचूडामणि–तपागच्छगगनदिनमणि श्रीमन्मुक्तिविजय अपरनाम मूलचन्दजी गणिपादपद्मचञ्चरीक–सर्वज्ञशासनाङ्गणगभस्तिमालि निरवद्यचारित्रशालि–तपागच्छाचार्य पुरन्दर–श्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरपट्टोदयाद्रिसहस्रांशु–अमेयप्रभावप्रवचनप्रवीणचेतस्काऽनवद्यसंयमसेवाहेवाक–व्याख्याप्रज्ञाऽऽचार्यवर्य्य श्रीमद्विजयमोहनसूरीश्वर विनेयावतंस–गीतार्थवर–पाठकप्रवरोपाध्यायपदालङ्कृत श्रीमत्प्रतापविजयगणिशिष्याणुप्रवर्त्तक–श्रीधर्मविजय विरचितायां श्रीनवतत्त्वप्रकरण–सुमङ्गलाटीकायां प्रकीर्णकाधिकारः समाप्तः । तस्मिंश्च समाप्ते समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥ श्रीरस्तु ॥


NAVATATVA
कमल
SUMANGALA

N A V A T A T V A

इति श्रीनवतत्त्वप्रकरणं सुमङ्गलटीकया

समलङ्कृतं समाप्तम्

S U M A N G A L A